इकाई 1 . योग का अर्थ एवं परिभाषाएं

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 योग का अर्थ
1.4 योग की परिभाषाएं
1.4.1 वेद के अनुसार
1.4.2 उपनिषद के अनुसार
1.4.3 पुराणो के अनुसार
1.4.4 दर्शन के अनुसार
1.4.5 योग दर्शन के अनुसार
1.4.6 श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार
1.4.7 योग वशिष्ट के अनुसार
1.4.8 योग की अन्य परिभाषाएं
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना –

योगविद्या भारत वर्ष की अमूल्य धरोहर है। यही विद्या एक ऐसी विद्या है, जिसमे वाद – विवाद का कोई स्थान नही है। योग विद्या समस्त मोक्ष साधनाओ में से सबसे श्रेष्ठ व सर्वोच्च साधना पद्धति है। योग के द्वारा ही सृष्टि के गूढ़तम रहस्यो का दर्शन किया जाता है। योग समाधि के द्वारा ही तत्व दर्शन, अतिन्द्रिय दर्शन, आत्म दर्शन तथा आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। मनुष्य जीवन का मुख्य उद्धेश्य है, मोक्ष, कैवल्य की प्राप्ति, जीवन की सार्थकता इसी में है। जब इस मानव शरीर के जीवित रहते हुए उस परम चैतन्य स्वरूप आत्म तत्व को जान लिया जाए। क्योंकि यदि जीवन में सब कुछ किया परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए कोई साधना नही की तो यह जीवन निरर्थक ही रहा। क्योकि यह मनुष्य जीवन साधना के लिए मिला है। प्रिय विद्यार्थियो योग को प्रायः आसन व प्राणायाम के परिपेक्ष्य में ही जाना जाता है। परन्तु योग केवल आसन, प्राणायाम तक ही सीमित नहीं है। योग का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। योग एक साधना है, एक ऐसी व्रहम विद्या है जिससे मनुष्य शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। इन सभी को प्राप्त करते हुए अपनी साधना के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। प्रिय विद्यार्थियो ऐसी जीवन दायिनी, मोक्षप्रदायी योग विद्या के विस्तृत अध्ययन करने हेतु सर्वप्रथम योग के अर्थ व विभिन्न ग्रन्थो, शास्त्रों में परिभाषित योग का सम्यक विश्लेषण करें।

1.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन कर लेने के बाद आप –

- योग के वास्तविक अर्थ को जान सकेगे।
- वेद, पुराण, उपनिषद में योग के स्वरूप को समझ सकेगे।
- दर्शन में योग के स्वरूप का विश्लेषण कर सकेगे।
- योग दर्शन में योग के स्वरूप को समझ सकेगे।
- योग के अनुसार विविध विद्वानो तथा अनेक ग्रन्थों में परिभाषित योग का अध्ययन कर सकेगे।

1.3 योग का अर्थ –

प्रिय विद्यार्थियो योग शब्द का विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है, कि योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है, जोड़ना अर्थात् किसी भी वस्तु से अपने को जोड़ना या किसी कार्य में स्वयं को लगाना। पाणिनिगण पाठ का विस्तृत अध्ययन करें तो उसमें तीन 'युज' धातु हैं।

(क) युज समाधौ–दिवादिगणीय,
(ख) युजिर योगे–रुधादिगणीय,
(ग) युजसंयमने–चुरादिगणीय,

(क) युज समाधौ – दिवादिगणीय – दिवादीगणीय युज धातु का अर्थ है, समाधि । समाधि का प्रकृति प्रत्यय अर्थ है। सम्यक स्थापन । अर्थात् जब प्रगाढ़ संयोग सुषुम्ना में स्थिर ब्रह्मनाड़ी से होता है। वह स्थिति समाधि की होती है। दूसरे अर्थ में युज समाधौ का अर्थ है – समाधि की सिद्धि के लिए जुड़ना। या समाधि की प्राप्ति के लिए जो भी साधनायें शास्त्रों में बताई गयी हैं, उन साधनाओ को अपने जीवन में अपनाना, ही योग का पहला अर्थ है।

(ख) युजिर योगे–रुधादिगणीय – रुधादिगणीय युज धातु का अर्थ है, जुड़ना, जोड़ना, मिलना, मेल करना। युजिर योगे का अर्थ है, संयोग करना। अर्थात् इस दुःख रुप संसार से वियोग तथा ईश्वर से संयोग का नाम ही योग है। जिसका वर्णन श्रीमदभगवद्‌गीता में इस प्रकार किया गया है –

'तं विद्याद् दुःख संयोग वियोग योग संज्ञितम्।' गीता 6/23

अर्थात् इस दुख रुपी संसार के संयोग से रहित होने का नाम ही योग है। वह साधन जिसके द्वारा परमात्मा के साथ ज्ञानपूर्वक संयोग है, जीवात्मा का। इस प्रकार योग का अर्थ जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग हैं।

(ग) युजसंयमने–चुरादिगणीय – चुरादिगणीय युज् धातु का अर्थ है, संयमन् अर्थात मन का संयम या मन का नियमन। इस प्रकार युज् संयमने का अर्थ है, मन का नियमन करना ही योग है। मन को संयमित करना ही योग है, तथा यह मन को नियन्त्रित करने की विद्या योग ही है। इस प्रकार योग का अर्थ – योग साधनाओं को अपनाते हुए मन को नियन्त्रित कर, संयमित कर, आत्मा का परमात्मा से मिलन ही योग है।

1.4 योग की परिभाषाएं –

योग का भारतीय जीवन पद्धति में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय ग्रन्थों में अनेक स्थानो पर योग विद्या का वर्णन मिलता है। योग विद्या का वर्णन वेद, पुराण, उपनिषद, गीता आदि प्राचीन ग्रन्थो में देखने को मिलता है। वेदो का प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मि उन्नति है। वेदो में योग की विविध परिभाषाए निम्न प्रकार से है –

1.4.1 वेद के अनुसार –

वेदो में ईश्वरीय कृपा द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा का वर्णन किया है –

''स घा नो योग आभुवत् स राये स पुर धयाम्।
गमद् वाजगिरा स नः।।'' – ऋ0 1/5/3, साम0 1/2/311

अर्थात् ईश्वर की कृपा से हमें योग (समाधि) सिद्ध होकर विवेक ख्याति तथा ऋतम्भरा – प्रज्ञा प्राप्त हो, और वही ईश्वर हमे अपनी सिद्धियो (अणिमा – महिमा) सहित प्राप्त हो। वेद में इसी कारण प्रार्थना की गयी है –

**'योगे – योगे तवस्तंर वाजे – वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्र मूतये।'**
– ऋ0 1/30/7/11, शुक्ल यजु0 1/14

अर्थात् साधक योग प्राप्ति के लिए तथा विघ्नो में परम् ऐश्वर्यवान इन्द्र का आह्वान करते है। योग साधना में उत्पन्न विघ्नो को दूर करने की सामर्थ्य ईश्वर में है। अतः ईश्वर की महत्ता का वर्णन किया गया है। वेदो का मुख्य विषय आध्यात्मिक उन्नति करना है। इसके लिए यज्ञ, उपासना व कर्मकाण्ड का वर्णन किया गया है, तथा योग साधना पर विशेष बल दिया गया है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद में वर्णन इस प्रकार है

**''यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विश्चितश्चन।
स धीनां योगमिनवति।।''** ऋग्वेद1/18/7

अर्थात् विद्वानो का कोई भी कर्म योग के बिना पूर्ण नही होता है। इस मन्त्र में से वेदो में योग की महत्ता वर्णित होती है। वेदो में हठयोग का वर्णन भी मिलता है, तथा उसके अंगो का वर्णन भी प्राप्त होता है –

''**अष्ठचक नवद्वारा देवानां पूरयोधया।
तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।''** अथर्ववेद 10/1/31

अर्थात् मनुष्य शरीर आठ चक्र व नव द्वारो से युक्त एक देवनगरी है। यह अपराजेय देव नगरी, इसमे हिरण्यमय कोश है, जो एक दिव्य ज्योति और आनन्द से परिपूर्ण हैं।

वेदो में आत्मा परमात्मा के साथ एक्य का वर्णन है। उसके लिए साधक की अभिलाषा निम्न मन्त्र में स्पष्ट होती है –

**''यदग्ने स्यमहं त्वं वा धा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या दूहाशिषः।।''** ऋग्वेद 8/44/23

अर्थात् हे अग्नि देव ! अर्थात् मैं सर्व समृद्धि सम्पन्न हो जाऊॅ, तेरे आर्शीवाद से ही मेरे सभी कार्य सत्य सिद्ध हो जाए व तेरा – मेरा एक हो जाये। अर्थात मैं – तू और तू–मैं हो जाए। संक्षेप में यदि कहा जाए तो वेदो मे योग का वर्णन अनेक स्थानो पर मिलता है, तथा चित्त को एकाग्र करने की विद्या (योग) मन्त्र दृष्टा ऋषियो को ज्ञात थी जिसके द्वारा उन्होने ईश्वर का साक्षात्कार किया।

1.4.2 उपनिषद के अनुसार –

आध्यात्मिक ग्रन्थो में उपनिषद का स्थान सर्वोपरि रहा है। वैदिक शिक्षा का विस्तृत वर्णन उपनिषदो में किया गया है। योग विद्या का बहुत अधिक वर्णन उपनिषदो में मिलता है। उपनिषदो में योग की अनेक परिभाषाए दी गयी है। कठोपनिषद में योग की परिभाषा निम्न है –

"यदा पंचावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।" 3/10 कठो0

अर्थात् योगाभ्यास करते – करते पॉचो इन्द्रियॉ व मन स्थिर हो जाए और बुद्धि भी परमात्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाए, उस स्थिति में उसको परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का ज्ञान या चेष्टा नही रहती है। उस स्थिति को योगीगण परमगति, योग की सर्वोच्च अवस्था बतलाते है।

"तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभावाप्ययौ।" 3/11 कठो0

अर्थात् "मन , बुद्धि, इन्द्रिय की स्थिर धारणा का नाम ही योग है। इस योग को प्राप्त साधक विषयो व प्रमाद से सर्वदा रहित हो जाता है। परमातमा को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले साधक के लिए कठोपनिषद में कहा गया है – कि साधक निरन्तर योग युक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिए।

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।" 3/12 कठो0

अर्थात् वह परमात्मा कर्मन्द्रियो से ज्ञानेन्द्रियो से तथा मन, बुद्धि, अहंकार से भी प्राप्त नही किया जा सकता है। क्योकि वह इन सभी की पहुॅच से परे है। तथा वह योगाभ्यास द्वारा मन व इन्द्रियो को नियन्त्रित कर साधक को अवश्य मिलता है। अतः ईश्वर प्राप्ति के लिए दृढतम निश्चय के साथ प्रयत्नशील रहना चाहिए। योग शिखोपनिषद के अनुसार –

"योऽपान प्राणयोर्ऐक्यं स्थरजो रेतसोस्तथा।
सूर्य चन्द्रसोर्योगाद् जीवात्मा परमात्मनो।।
एवं तु द्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते।।"

अर्थात् प्राण और अपान की एकता सतरज रूपी कुण्डलिनी की शक्ति और स्वरेत रूपी आत्म तत्व का मिलन, सूर्य स्वर व चन्द्र स्वर का मिलन, एवं जीवात्मा व परमात्मा का मिलन ही योग है। श्वेताश्वतर उपनिषद में योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है –

"समे शुचौ शर्करा वह्निन बालुका
विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकुले न क चक्षुपीड़ने
गुह्रय निवाता श्रयणे प्रयोजयेत्।।" 12/10

अर्थात् योगाभ्यास के लिए समतलसुचि समतल कंकर पत्थर रहित आग व बालू से रहित तथा शब्द जलादि का व्यवधान न हो। जहॉ ऑखो को पीड़ा देने वाली वस्तु ना हो, प्रिय लगने वाला स्थान हो। ऐसा स्थान ही योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान होता है, तथा ऐसे स्थान पर योग सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। योग शिखोपनिषद में योग के प्रकारो की चर्चा इस प्रकार से है –

''मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगाऽभिधीयते।।''

अर्थात् मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग ये चारो योग की चार पद्धतियॉ है। चारो मिलकर चतुर्विध योग कहलाते है, जिसे महायोग कहते है।

उपनिषदों में मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान का होना आवश्यक हैं। ज्ञान के साथ – साथ योग का ज्ञान होना आवश्यक है। योग तत्वोपनिषद में कहा गया है –

''योग हीनं कथंज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञान हीनस्तु न क्षमों मोक्षकर्मणि।।''

अर्थात योग के बिना ज्ञान ध्रुव मोक्ष देने वाला नही हो सकता है, तथा ज्ञानहीन योग भी मोक्ष कर्म में असमर्थ है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए योग का ज्ञान आवश्यक हैं।

अमृतनादो उपनिषद में योग के अंगो का वर्णन करते हुए कहा गया है –

''प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामौऽय धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगोयोग उच्यते।।''

अर्थात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, प्राणायाम, तर्क और समाधि यह षडंग योग कहलाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद में योग के फल का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

''लघुत्वमारोग्यं मलोलुपत्वं वर्ण प्रसादं स्वर सौष्ठवं च।
गन्धाः शुभो मूत्रपुरीषमल्यं योग प्रवृत्रिं प्रथमा वदन्ति।।'' 2/13

अर्थात् योग के सिद्ध हो जाने पर शरीर हल्का हो जाता है, शरीर निरोग हो जाता है। मनुष्य को किसी भी विषयो के प्रति राग नही रहता है। योगी का शरीर आकर्षक हो जाता है। स्वर मधुर, शरीर की दिव्य गन्ध व शरीर में मल मूत्र की कमी हो जाती है। श्वेताश्वतर उपनिषद में योग के फल का वर्णन करते हुए कहा गया है –

''न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु ।
प्राप्तस्य योगाग्नमयं शरीरम्।।'' 2/12

मैत्रायण्युपनिषद में कहा गया है –

''एकत्वं प्राणनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
सर्वभाव परित्यागो योग इत्यभिधीयते।।'' 6/25

अर्थात् मन, प्राण व इन्द्रियों का एक हो जाना, एकाग्र अवस्था को प्राप्त कर लेना, बाहय विषयों से विमुख होकर इन्द्रियो का मन में और मन का आत्मा में लग जाना, प्राण का निश्चल हो जाना योग है।

1.4.3 पुराणो के अनुसार –

पुराणो मे योग का वर्णन मिलता है। पुराणो की रचना महर्षि वेदव्यास द्वारा की गयी है। पुराणो की संख्या 18 बतायी गयी है। शिव पुराण में योग को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

''निरूद्ध वृत्पतरस्य शिवे चितस्य निश्चला।
या वृत्तिः सा समासेन योगः स खलु पंचधा।।'' 21 वॉ अ0

अर्थात् शिव में अपने अन्तःकरण की समस्त वृत्तियो को निश्चय रूप से लगा देने का नाम ही योग है। शिव पुराण में अष्टांग योग का वर्णन इस प्रकार से है –

''अष्टांगो वा षंडगों वा सर्वयोगः समासतः।

यमश्च नियमश्चैव स्वस्ति काधां तथासनम्।।
प्राणायाम प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च।
समाधिरिति योगांगान्याष्टावुक्तानि सुरिभिः।।''

अर्थात् योग के आठ व छः अंग है। आठ अंग इस प्रकार से है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

अग्नि पुराण के अनुसार –

अग्नि पुराण के द्वितीय खण्ड में अष्टांग योग का वर्णन मिलता है, तथा योग को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है –

''ब्रहम प्रकाशकं ज्ञान योगस्तत्रैकचित्तता।
चित्त वृत्ति निरोधाश्च जीव ब्रहमात्मनो।।''   अग्नि पुराण 183/1–2

अर्थात् ब्रहम में चित्त की एकाग्रता ही योग है।

मत्स्य पुराण के अनुसार – ''कर्मयोग से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा परम पद (समाधि) की प्राप्ति होती है।''

ब्रहम पुराण के अनुसार – ब्रहम पुराण में योग के अभ्यास कैसे किये जाए इसका वर्णन किया गया है।

व्यास जी के अनुसार – बहुत समय तक एक ही समय में आहार ग्रहण करने वाला विशुद्ध आत्मा से युक्त योगी बल की प्राप्ति किया करते है। तथा काम, क्रोध, शीतउष्ण आदि सभी प्रकार के द्वन्दो, विषयो को जीतकर धारणा, ध्यान, समाधि का सतत् अभ्यास कर समाधि की सिद्धि प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भगवद् पुराण के अनुसार – श्रीमद्भगवद् पुराण में भी अनेक जगह योग का वर्णन किया गया है –''योग द्वारा इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि का नियमन ही योग है।'' 2/1/18

विष्णु पुराण के अनुसार – विष्णु पुराण में यम, नियम का वर्णन इस प्रकार से किया गया है –

''ब्रहमचर्यमंहिसां ....कामे निष्कामाणां विमुक्तिदा।।''
वि0 पु0 6/7/36–38

अर्थात् अपने मन को निष्काम भाव से योगी ब्रहमचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह में लगाये, तथा मन का निग्रह का योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करे, और ईश्वर प्रणिधान द्वारा मन को ईश्वर में लगाये। यम, नियमो का अभ्यास सकाम भाव से किये जाने पर विशेष बल देते है, तथा निष्काम भाव से विमुक्ति। इस प्रकार ''यम, नियमादि का निष्काम भाव से पालन कर विमुक्ति प्राप्त करना ही योग है।''

पुराण में भक्ति योग की महत्ता का वर्णन इस प्रकार से किया गया है –

''न युज्यमान यत् भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सहशोऽस्ति शिवो पन्थाः योगीनां ब्रहमसिद्धये।।''
भगवद पुराण 3/25/9

अर्थात् ब्रहम प्राप्ति हेतु अखिल आत्म स्वरूप भगवान मे कि की गयी भक्ति श्रेष्ठ है। यह भक्ति योग शिव के समान कल्याणकारी मार्ग है।

1.4.4 भारतीय दर्शन में योग –

भरतीय दर्शन अपनी भिन्न – भिन्न दार्शनिक मान्यता रखते है। पर सभी दर्शनो, ग्रन्थो में योग को योगाभ्यास के समान रूप से स्वीकार किया है। इसमें योग को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है –

- **वेदान्त दर्शन में योग** –ब्रहम सूत्र 4/1/11 में आसन में बैठकर साधना की बात की गयी है, तथा आसन में बैठकर एकाग्रता का वर्णन किया गया है –

''यत्रेकाग्रता तत्राविशेषात्।''

अर्थात् विशेषता न पाये जाने से जहॉ चित्त एकाग्र हो सके वही उपासना (साधना) करनी चाहिए। वेदान्त ग्रन्थ 'विवेक चूड़ामणि' में परमात्म प्राप्ति के उपाय के रूप में योग साधना का वर्णन किया गया है

''उद्धरेदामात्मानं मग्नं संसारवारिधौ
योगारूढ़त्वमासाद्यसम्यग्दर्शननिष्ठया।।'' विवेक चूड़ामणि 1

अर्थात् संसार सागर में डूबी हुई आत्मा का , आत्म दर्शन में मग्न रहता हुआ योगारूढ़ होकर स्वयं ही उद्धार करें। विवेक चूडामणि 364 में योग में समाधि को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

'समाधिनानेन समस्त वासना.............................स्यात्।।'

अर्थात् इस समाधि से समस्त वासना रूपी ग्रन्थि का विनाश और सभी कर्मो का नाश होकर भीतर व बाहर सर्वत्र एवं सर्वदा बिना यत्न किये ही स्वरूप का स्मरण होने लगता है। विवेक चूड़ामणि में 48 में कहा है – अर्थात् श्रद्धा, भक्ति, ध्यानयोग द्वारा अविद्या से उत्पन्न देहेन्द्रिय आदि से मुक्त हो जाता है, व इनके द्वारा मुमुक्षु को मुक्ति प्राप्त होती हैं।

- **न्याय दर्शन में योग –**

न्याय दर्शन में विभिन्न स्थानो पर योग का उल्लेख मिलता है। अभ्यास का वर्णन करते हुए कहा गया है

'समाधिविशेषाभ्यासात्।' न्याय सूत्र 4/2/38

अर्थात् अभ्यास से समाधि की प्राप्ति होती है।

'तदर्थ यमनियमाभ्यात्मसंस्कारो योगाक्चाध्यात्म विध्युपाये।' न्याय सूत्र 4/2/42

अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए यम व नियम का पालन करना आवश्यक है, तथा योग के आध्यात्मिक अनुष्ठान कर आत्मा का संस्कार करना ही योग है।

- **वैशेषिक दर्शन में योग –**

वैशेषिक दर्शन महर्षि कणाद द्वारा प्रतिपादित है। इसमें योग को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

'आत्मन्यात्ममनसो संयोग विशेषात् आत्मपृत्यक्षम्।' वैशेषिक सूत्र 9/1/11

अर्थात् योगियो को अपने आत्मा में परमात्मा के दर्शन होते है, तथा मन तथा आत्मा (परमात्मा) के संयोग से आत्मविषय प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वैशेषिक दर्शन 9/1/13 में वर्णन है –

अर्थात् ऐसे युक्त योगी जो समाधि प्राप्त कर चुके है, उनके लिए अतीन्द्रिय द्रव्यो, का बिना समाधि प्रत्यक्ष होता है।

- **सांख्य दर्शन में योग –**

सांख्य दर्शन के आदिवक्ता महर्षि कपिल है। सांख्य के निम्न सूत्रो में योग का वर्णन मिलता है

'रागोपहितिर्ध्यानम्।'' सांख्य सूत्र 3/30

अर्थात् ध्यान के द्वारा योग के अनुष्ठान करने चाहिए।

'वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धि।'

अर्थात् वृत्तियो के निरोध से ध्यान की सिद्धि होती है।

'धारणासन स्वकर्मणा तत्सिद्धिः।' सांख्य सूत्र 3/32

अर्थात् धारणा, आसन तथा अन्य योग के साधनो द्वारा वृत्ति निरोध (ध्यान) की स्थिति होती है। आसन को परिभाषित करते हुए कहा गया है –

'स्थिरसुखमासनम्।' सांख्य सूत्र 3/34

अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक, स्थिरता पूर्वक बैठ सके वही आसन है, तथा यह आसन योग सिद्धि में आवश्यक है।

- **जैन दर्शन में योग –**

जैन दर्शन में योग की परिभाषा देते हुए आचार्य यशोविजय ने अपने ग्रन्थ द्वात्रिशिखा में वर्णन किया है

'मोक्षेण योजनादेव योगो ह्त्र निरूध्यते।' द्वात्रिशिका 10–1

अर्थात् जिन – जिन साधनो से आत्मा की शुद्धि तथा मोक्ष का योग होता है। अर्थात् जिन – जिन साधनो से आत्म तत्व की शुद्धि होती है, वही साधन योग है।

जैन आचार्य हेम चन्द्र ने अपने धातु पाठ गण 7 में 'युजपीयोगे' कहकर योग का अर्थ परिभाषित किया है। साथ ही साथ उन्होने 'युजि च समाधौ' का अर्थ मन की स्थिरता व समाधि से लिया है। आचार्य हेम चन्द्र ने योग विशिंका गाथा में योग को इस प्रकार परिभाषित किया है –

'मुक्खेण जोयणाओ जोगो।'

अर्थात् जिन साधनो से कर्म मल का नाश होता है, एवं मोक्ष का उसके साथ संयोग होता है, वही योग है। उर्पयुक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि आत्मसाक्षात्कार के साधन एवं उसके फलस्वरूप सिद्ध स्वरूपावस्थिति रूप साध्य दोनो को ही योग कहा जाता है। जैन दर्शन में कही पर आत्मा व परमात्मा के संयोग को योग कहा है। योग को इस तरह से भी परिभाषित किया है – ''योग चित्त वृत्ति निरोध अथवा दुःख कारक तत्वो की निवृत्ति है।''

- **बौद्ध दर्शन में योग –**

बौद्ध दर्शन में निर्वाण (समाधि) प्राप्ति के उपायो का वर्णन किया गया है। निर्वाण समाधि का ही पर्यायवाची शब्द है। योग में समाधि, जैन में मुक्ति व बौद्ध में निर्वाण तथा हिन्दुओ में मोक्ष के नाम से वर्णन दर्शन में मिलता है। इन सभी के नाम अलग है, परन्तु लक्ष्य एक ही है, समाधि की प्राप्ति। इस समाधि की प्राप्ति करना ही योग है। बौद्ध दर्शन में इसके आठ अंग बताये गये है –

1 सम्यक दृष्टि – हमारे चार आर्य सत्य, दुख, दुःख का कारण, दुःख नाश व दुःख नाश के लिए सम्यक दृष्टि रहे।

2 सम्यक संकल्प – अनात्म पदार्थो को त्यागने के लिए संकल्प।

3 सम्यक वाक – प्रिय बोले अनुचित वचनो का त्याग।
4 सम्यक कर्म – सम्यक कर्म करने चाहिए, कर्मयोगी बने।
5 सम्यक आजीव – न्यायपूर्वक, धर्म के अनुसार आजीविका चलाये।
6 सम्यक व्यायाम – वह क्रियाये जिनसे अशुभ मनः स्थिति का अन्त होता है। अच्छे कर्मो में प्रवृत्त रहना सम्यक व्यायाम है।
7 सम्यक स्मृति – काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सभी अनात्म वस्तुओ की स्मृति , स्मरण नहीं करना चाहिए।
8 सम्यक समाधि – समाधि की अवस्था में चित्त वृत्तियो का पूर्णतया निरोध हो जाता है, इस अवस्था में समस्त दुःखो का निरोध हो जाता है। यह अवस्था निर्वाण की अवस्था है।

1.4.5 – योग सूत्र के अनुसार –

योग सूत्र के प्रेणता महर्षि पतंजलि हैं। योग सूत्र में चार पाद है, समाधि पाद, साधना पाद, विभूति पाद, कैवल्य पाद। महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार दी है –

'योगश्चित्तवृत्तिनिारोधः।' योग सूत्र 1/2

अर्थात् 'चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग है।' चित्त का तात्पर्य मन, बुद्धि, अहंकार का सम्मिलित रूप है। चित्त में जो प्रतिविम्ब बनता है, वही वृत्तियॉ है। चित्त दर्पण के समान है। विषयो का प्रतिविम्ब उसमें पड़ता है। अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। चित्त को विषयाकार होने से रोकना या विषयो का अभाव होना ही योग है। यही महर्षि पतंजलि ने भी स्पष्ट किया है। चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग है। योग के अर्थ को और अधिक स्पष्ट योगसूत्र के तृतीय सूत्र में किया है –

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' योग सूत्र 1/3

अर्थात् उस समय दृष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। अर्थात् चित्त की वृत्तियो के अभाव होने पर ही चैतन्य आत्मा अपने शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाती है। यही कैवल्य की स्थिति है, यही मोक्ष है।

1.4.6 श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार –

भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थो में श्रीमद् भगवद्गीता को बहुत अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। भगवद् गीता में श्रीकृष्ण स्वयं योग की विद्या अर्जुन व जन – जन के लिए उद्घोषित किया। गीता में योग को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

''योगस्य कुरूकर्माणि संगत्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध सिद्धयासमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।'' 2/48

अर्थात् हे धनञ्जय! तू आसक्ति त्याग कर समत्व बुद्धि से कर्म कर, सिद्धि – असिद्धि में समत्व भाव से कार्य करना ही योग है। अर्थात् योग साधक का चित्त सभी द्वन्द्वो सुख – दुःख, लाभ – हानि, जय– पराजय, शीत –उष्ण आदि में समान बना रहता है।यह समत्व बुद्धि ही योग है।

''बुद्धियुक्तो जहा तीह उभे सुकृत – दुष्कृते।
तस्माद्योगाययुज्यस्वयोगःकर्मसुकौशलम्।।'' 2/50

अर्थात् कर्मो में कुशलता ही योग है। कर्मो में कुशलता से अभिप्राय यहा कर्मो को इस प्रकार से करने में है, कि वे कर्म बन्धन का कारण न बन सके, बल्कि कर्म मुक्ति दिलाने वाले हो। गीता में योग की परिभाषा अन्य स्थान पर इस प्रकार है –

'तं विद्यात् दुःख संयोग वियोग संज्ञिताम्।' 6/13

अर्थात् ऐसी विद्या जिससे दुःखो से पूर्णतया मुक्ति मिल जाए उस विद्या को प्राप्त कर परमात्मा के साथ संयोग ही योग है।

1.4.7 योग वशिष्ट के अनुसार –

योग वशिष्ट नामक ग्रन्थ के रचनाकार महर्षि वशिष्ट हैं। इस ग्रन्थ में महर्षि वशिष्ट ने श्री राम चन्द्र जी को योग की आध्यात्मिक विधाओ को समझाया है। योग वशिष्ट का दूसरा नाम महारामायण है। योग वशिष्ट में योग को इस प्रकार से परिभाषित किया गया है

'संसार सागर से पार होने की युक्ति का नाम ही योग है।'

योग वशिष्ट निर्वाण प्रकरण में योग को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

''एको यागस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे।
समावुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलदौ।।
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञानश्चियः।
ममत्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञान निश्चयः।।''

योग वशिष्ट निर्वाण प्रकरण 13/7–8

अर्थात् संसार सागर से पार होने के दो उपाय कहे गये है, योग तथा ज्ञान। योग (कर्मयोग) तथा ज्ञान (ज्ञानयोग) ये दोनो उपाय एक ही फल देने वाले हैं। कर्मयोग मनुष्य को असाध्य प्रतीत होता है। परन्तु ज्ञानयोग निश्चय ही सरलतम व साध्य है।

1.4.8 – योग की अन्य परिभाषाए –

प्रिय विद्यार्थियो आपने अभी तक विविध ग्रन्थो तथा भारतीय दर्शन में वेदो में, उपनिषदों में योग की परिभाषाओ का अध्ययन किया। योग की अन्य परिभाषाओ जो कि विद्वानो, चिन्तको के द्वारा दी गयी है, इन परिभाषाओ को अध्ययन कर अपने जीवन में उतारने का प्रयास करेगे।

1– महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार – जीवात्मा और परमात्मा के संयोग की अवस्था का नाम योग है।

2– महर्षि व्यास के अनुसार – योग समाधिः। योग नाम समाधि का है।

3– शंकराचार्य के अनुसार – ब्रहम को सख्य मानते हुए और इस संसार के प्रति मिथ्या दृष्टि रखना ही योग है।

4– श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार – ''जीवन जीने की कला ही योग है।''

5– रागेय राधव के अनुसार – शिव और शक्ति का मिलन ही योग है।

6– श्री गुरू ग्रन्थ साहिब के अनुसार – निष्काम कर्म करने में सच्चे धर्म का पालन है, यही वास्तविक योग है। परमात्मा के शाश्वत और अखण्ड ज्योति के साथ अपनी ज्योति को मिला देना वास्तविक योग है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1. **रिक्त स्थान भरिए –**

(क). योग शब्द .... धातु से बना है।
(ख). संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'युज' धातु के................. अर्थ है।
(ग). मानव जीवन का मुख्य उद्धेश्य.................की प्राप्ति है।

2. **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(क). 'अष्टचक्र, नवद्वारा देवाना पुरयोधया' यह मन्त्र है –

(अ) ऋग्वेद (ब) अर्थववेद
(स) सामवेद (द) उपनिषद

(ख). 'न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु' यह श्लोक है?

(अ) श्वेताश्वतर उपनिषद (ब) अमृतनादेपनिषद
(स) कठोपनिषद (द) योगशिखोपनिषद

(ग). पुराणो की संख्या कितनी है?

(अ) 20 (ब) 30
(स) 18 (द) 40

(घ). सांख्य दर्शन के आदि वक्ता है?

(अ) महर्षि कपिल (ब) पतंजलि
(द) महर्षि गौतम (स) इनमे से कोई नही

(ड़). बौद्ध दर्शन में समाधि को कहा गया है।

(अ) कैवल्य (ब) निर्वाण
(स) मोक्ष (द) मुक्ति

(च). ''जीवन जीने की कला ही योग है।'' यह कथन है?

(अ) रागेय राधव (ब) महर्षि पतंजलि
(स) शंकराचार्य (द) आचार्य श्री राम शर्मा

1.5 सारांश –

योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से बना हैं जिसका अर्थ है, जोड़ना। अर्थात् किसी कार्य से जुड़ना। जीवन के मुख्य उद्धेश्य की प्राप्ति के लिए मन से शरीर से जो अनुष्ठान करने होते है, वही योग है। महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित, ''चित्त की वृत्तियो के सर्वथा अभाव ही योग है।'' इस प्रकार किया है। गीता में श्रीकृष्ण ने दुःख रूप संसार से वियोग तथा परमात्मा के साथ संयोग को योग कहा है। योग वह साधना है जिसमें आत्मा व परमात्मा का ज्ञान पूर्वक संयोग होता है। वेद, पुराण व उपनिषद, योगवशिष्ट, दर्शनो में योग की महत्ता का वर्णन मिलता है। सभी में योग को मोक्ष, निर्वाण, समाधि प्राप्ति का साधन माना गया है। योग सभी साधनाओ में सर्वश्रेष्ठ साधना पद्धति है। जो कि शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्रदान करते हुए मोक्ष प्रदायी है। जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद में योग का फल बताया गया है, ''न तस्य रोगो.............. अर्थात् मनुष्य जीवन के चारो पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के मूल में आरोग्य है, तथा उस आरोग्य को देने वाला योग है।

1.6 शब्दावली –

- 'युज' – जुड़ना, किसी कार्य से जुड़ना।
- सृष्टि – संसार।
- समृद्धि – उन्नति।
- अपराजेय – जो पराजित ना हो, शिव, विष्णु।
- विमुक्ति – मुक्ति, मोक्ष, छुटकारा।

- स्वरूपावस्थिति – अपने स्वरूप में अवस्थित होना।
- आठ चक्र – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, विन्दु, सहस्त्रार।
- देवनगरी – देवताओ का नगर।
- कुण्डलिनी – मूलाधार चक्र के समीप सोई हुइ सुप्त शक्ति।
- परमपद – योग की उच्च अवस्था, समाधि।
- मुक्ति – कैवल्य, मोक्ष, समाधि।
- निर्वाण – मोक्ष, कैवल्य, मुक्ति।

1.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर –

1 –	(क). 'युज'	(ख). तीन	(ग). मोक्ष
2 –	(क). ब	(ख). अ	(ग). स
	(घ). अ	(ड़). ब	(च). द

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1– सरस्वती विज्ञानानन्द (2003), योग विज्ञान।योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।

2– कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।

3– निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।

4– पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली

5– व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।

6– योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।

7– मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

8– योगांक – गीता प्रेस गोरखपुर।

1.9 – निबन्धात्मक प्रश्न –

1 – योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वेदो में योग विद्या का वर्णन कीजिए।

2 – उपनिषद व पुराण में योग विद्या का वर्णन कीजिए।

3 – श्रीमद्भगवद् गीता में व योग वशिष्ट में योग विद्या का वर्णन कीजिए।

4 – भारतीय दर्शन में योग विद्या का विस्तृत वर्णन कीजिए।

5 – टिप्पणी लिखिए –

- जैन दर्शन में योग।
- बौद्ध दर्शन में योग।

इकाई 2 चित्त का स्वरूप एवं चित्त भूमियॉ

2.1– प्रस्तावना
2.2– उद्‌देश्य
2.3– चित्त
2.4– चित्त का स्वरूप
2.5– चित्त के भेद
2.6– चित्त भूमियॉ
  2.6.1– मूढ़ अवस्था
  2.6.2– क्षिप्त अवस्था
  2.6.3– विक्षिप्त अवस्था
  2.6.4– एकाग्र अवस्था
  2.6.5– निरूद्ध अवस्था
2.7– सारॉश
2.8– शब्दावली
2.9– अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
2.10– सन्दर्भ ग्रन्थ
2.11– निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना –

प्रिय पाठको इससे पूर्व की इकाइयो में आपने योग, योग का अर्थ व विभिन्न परिभाषाओ द्वारा योग का गहनतम अध्ययन किया। उपरोक्त इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप योग का अर्थ व परिभाषाओ को भलीभॉति समझ गये होगे। योग विद्या हमारे ऋषि मुनियो द्वारा अविरल रूप से प्रवाहित होती हुई आज जन मानस तक पहुॅच गई हैं। इसी योग विद्या को महर्षि पतंजलि ने 195 सूत्रो में पिरोकर योगसूत्र का रूप दिया है। महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए लिखा है– **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' (पा0 यो0 सू0 1/2)** अर्थात् चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग हैं। अब आप के मन में यह प्रश्न आ

रहा होगा कि चित्त की वृत्तियॉ क्या है ? जिनका अभाव ही योग है। प्रस्तुत इकाई में चित्त क्या है ? उस चित्त की कितनी अवस्थाये है, इनका वर्णन किया जा रहा है –

2.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई के बाद

- आप चित्त के स्वरूप को समझ सकेगे।
- आप चित्त के भेदो का स्पष्ट कर सकेगे।
- चित्त की भूमियो का विस्तार से अध्ययन कर सकेगे।

2.3 चित्त –

जैसा की शास्त्रो में कहा गया है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् प्रत्येक कार्य सम्पादित करने का माध्यम या साधन यह शरीर ही हैं। इस जीवात्मा को सुख व दुःख के भोग हेतु यह शरीर प्राप्त हुआ है, या सुख दुःख का भोग किया जा सकता है। इस शरीर के माध्यम से ही सम्भव है। इस शरीर में दो प्रकार के साधन है। जिन्हे बाहयःकरण व अन्तःकरण के नाम से जाना जाता है। बाहयःकरण के अन्तर्गत हमारी ज्ञानेन्द्रियॉ व कर्मेन्द्रियॉ आती है। अन्तःकरण के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियो व कर्मेन्द्रियों का कार्य बाहर की ओर अर्थात् संसार की ओर होता हैं। बाहय विषयो के साथ इन्द्रियो के सम्पर्क से अन्त में आत्मा या जीवात्मा को जिन साधनों से ज्ञान–अज्ञान, सुख–दुख की अनुभूति होती है,उन साधनों को अन्तःकरण के नाम से जाना जाता है। यही अन्तःकरण को चित्त के नाम से जाना जाता है। ज्ञानानुभूति के साधन को चित्त कहा जाता हैं। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में मन, बुद्धि, अहंकार इन तीनों के सम्मिलित रूप को चित्त कहा जाता हैं।चित्त शब्द की निरूक्ति 'चित्ति संज्ञाने' धातु से हुयी है। अर्थात् ज्ञानानुभूति का साधन चित्त कहलाता है। योग दर्शन में मन, बुद्धि व अहंकार इन तीनों के सम्मिलित रूप को चित्त कहा गया हैं। चित्त का स्वरूप विलक्षण है। यह आत्मा से भिन्न तत्व है। फिर भी आत्मा से पृथक करके इसको देखना अत्यन्त कठिन है। चित्त प्रकृति का सात्विक परिणाम है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्व की प्रधानता होने के कारण इसको प्रकृति का प्रथम परिणाम माना जाता है।

सांख्य और योग के मत में चित्त, चित, चैतन्य पुरूष व आत्मा ये सभी पर्यायवाचक शब्द है। चित्त अपने आप में अपरिणामी कूटस्थ और निष्क्रिय है। इसी चित्त अथवा पुरूष तत्व को भोग और मोक्ष देने के लिए इसके साथ प्रकृति का संयोग होता है।

प्रिय विद्यार्थियो यदि महर्षि पतंजलि के योगसूत्र पर गहन दृष्टिपात किया जाये तो ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण योगसूत्र की आधारभूत अवधारणा चित्त ही है। योग साधना में अग्रसर करने वाले सभी साधन इसी चित्त की शुद्धि की ओर लेकर जाते हैं। योग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भी उन्होंने कहा है –

'योगश्चचित्तवृत्तिनिरोधः।' पा0 यो0 सू0 / समाधिपाद / 2

अर्थात् ''चित्त की समस्त वृत्तियो का निरोध ही योग है।''

इसलिये पाठको, सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह चित्त आखिर क्या है ? चित्त शुद्धि क्या है, और इसका शोधन किस प्रकार से किया जाता है ? चित्त के स्वरूप को समझ लेने पर हमें स्वतः ही योग का स्वरूप भी स्पष्ट होने लगता है।

जिज्ञासु विद्यार्थियों, यदि बहुत ही साधारण शब्दों में कहें तो चित्त अचेतन प्रकृति का वह प्रथम विकार है, जिसमें हमारे जन्म जमान्तर के संस्कार संचित होते है। इस तथ्य को कुछ इस प्रकार से समझ सकते है, कि हमारा जीवन एक यात्रा है, जिसमें हम बार–बार जन्म – मृत्यु रूप अनेक पड़ावो से गुजरते हैं। यह किसी एक व्यक्ति के जीवन का सच नहीं हैं, वरन् हममें से प्रत्येक के जीवन का सच है। हॉ जो मोक्ष प्राप्त आत्मायें है,वे इस दायरें से मुक्त हैं। अर्थात् वे जन्म – मरण के बन्घन से छूट जाती है, किन्तु सामान्य व्यक्तियों के जीवन में जन्म – मरण का यह चक्र निरन्तर कर्मानुसार चलता ही रहता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हममें से प्रत्येक के जीवन के दो पड़ाव हैं – एक जन्म और दूसरा मृत्यु।

सभी लोग अपने स्वभाव के अनुसार अपने जीवन में अनेको कार्य करते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। इसी तथ्य को भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में भी कहा है –

''कर्मण्येव वा अधिकारस्ते।
मा फलेषु कदाचन।।'' – श्रीमद्‌भगवत्‌गीता

अर्थात् ''कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है। कर्मों के फल या परिणाम की प्राप्ति के में नहीं।

पाठकों आप में से प्रत्येक ने यह अनुभव किया होगा कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव, आदतों, पसन्द– नापसन्दगियों, रूचियों इत्यादि के आधार पर एक दूसरे से अलग हैं। अर्थात् अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार हम अपने कर्मों का सम्पादन करते हैं। हमारे द्वारा जो भी कर्म किये जाते है, उनका एक सूक्ष्म प्रभाव हमारे चित्त में अंकित होता रहता है। जिसे संस्कार कहते है। इस प्रकार संस्कार का अर्थ है – कर्मबीज और जिस स्थान पर यह कर्मबीज एकत्रित होते हैं, उसे ''चित्त'' कहा जाता है।

अब प्रश्न उपस्थित कैसे होता है व इस चित्त की उत्पत्ति कैसे होती है और इस का स्वरूप क्या है ?

विद्यार्थियों इसके लिये हमें योगदर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति की जो प्रक्रिया बतायी गई है, थोड़ा उसको समझना होगा।

योगदर्शन के अनुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण प्रकृति एवं पुरूष के मिलने से हुआ है। सत्व, रजस्, एवं तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है तथा पुरूष से तात्पर्य आत्मा से है। जब तक पुरूष एवं प्रकृति एक दूसरे से अलग –अलग रहते हैं, तब तक किसी प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति की कोई प्रक्रिया नहीं चलती हैं और सत्, रज एवं तम तीनो गुण अपने में ही परिणीत होते रहते हैं अर्थात् सतोगुण, सतोगुण में, रजोगुण, रजोगुण में और तमोगुण, तमोगुण में परिवर्तित होता रहता हैं। प्रकृति के इन तीनों तत्वों के अपने अलग – अलग गुण धर्म है। सतोगुण, प्रकाश और सुख का प्रतीक है। रजोगुण प्रवृति (प्रेरित करने का गुण) एवं दुःख का तथा तमोगुण अवरोध या जड़ता एवं मोह का प्रतीक है। जैसे ही प्रकृति एवं पुरूष का मिलन होता है तो प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है। अर्थात तीनो गुणों में हलचल पैदा हो जाती है, और प्रकृति – पुरूष के संयोग से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। त्रिगुणों में से सर्वप्रथम हलचल रजोगुण में होती है, क्योकि किसी भी कार्य के लिये प्रेरित करना रजोगुण का धर्म है। इसके बाद सतोगुण प्रबल होता है, जिसके कारण महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। यह

महत् तत्व प्रकृति पुरूष के संयोग से उत्पन्न होने वाला प्रथम विकार या परिणाम है। सांख्य में इस प्रथम विकार को समष्टि रूप में महत् एवं व्यष्टि रूप में बुद्धि कहा जाता है। इसके बाद महत् से अहंकार से मन एवं पंचकर्मेन्द्रियो, पंचज्ञानेन्द्रियों तथा पंचतन्मात्राओं एवं अन्त में पंचमहाभूतों का निर्माण होता है, और इन्हीं पंचमहाभूतों से फिर जड़ – चेतन विभिन्न पदार्थो का निर्माण होता है।

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि के अनुसार महत्, अहंकार एवं मन इन तीनों को ही चित्त कहा गया है। योग दर्शन पर विभिन्न विद्वानों के द्वारा जो भाष्य लिखे गये है, उनमें चित्त के लिये कुछ जगह पर बुद्धि एवं मनस् शब्दो का प्रयोग भी किया गया है। सांख्य दर्शन में इन तीनों (महत्, अहंकार, मन) को अन्तःकरण नाम प्रदान किया है।

प्रिय विद्यार्थियों इस प्रकार स्पष्ट है कि योग दर्शन के अनुसार चित्त से तात्पर्य महत्, अहंकार एवं मन से है। जिसमें हमारे पूर्व जन्मो के एवं इस जन्म के संस्कार संचित रहते हैं ।

2.4 चित्त का स्वरूप –

प्रिय पाठकों चित्त के भेद उपरान्त अब हम चर्चा करते हैं योग दर्शन के अनुसार चित्त के स्वरूप पर अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चित्त के स्वरूप का विवेचन निम्न बिन्दुओ के अन्तर्गत किया जा सकता है –

(1). त्रिगुणात्मक – प्रिय विद्यार्थियों, चित्त की सर्वप्रथम विशेषता उसका त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्य, रजस् एवं तमस् इन तीनो गुणों से युक्त होता है। क्योंकि चित्त की उत्पत्ति भी त्रिगुणात्मक प्रकृति से होती है। अतः इसमें इन तीनों गुणों का विद्यमान रहना स्वाभाविक है। प्रिय पाठकों, आपको यह भी जान लेना अति आवश्यक है कि सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीनो गुणों की न्यूनता एवं अधिकता के कारण एक ही व्यक्ति में चित्त विभिन्न अवस्थाओ वाला हो सकता है, तथा इसके साथ ही त्रिगुणों की विषमता के कारण भिन्न–भिन्न व्यक्तियो का चित्त भी भिन्न – भिन्न होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रिगुणात्मक चित्त एक ही व्यक्ति में भिन्न – भिन्न स्थिति वाला होता है, तथा सभी व्यक्तियों का चित्त भी एक दूसरे से भिन्न – भिन्न होता है।

(2). जड़ – चित्त की दूसरी प्रमुख विशेषता इसका जड़ या अचेतन होना है। क्योकि यह जड़ प्रकृति से उत्पन्न होता है, किन्तु सतोगुण प्रधान होने के कारण तथा आत्मा के निकटतम होने के कारण यह चेतन के समान प्रतीत होता हैं। इसलिए जड़ चित्त में जब तक पुरूष या आत्मा प्रतिबिम्बित नही होती तब तक चित्त किसी विषय का ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता।

(3). चंचल एवं परिवर्तनशील – चित्त की अन्य प्रमुख विशेषता इसका चंचल एवं परिवर्तनशील या परिणामी होना है, क्योंकि इन्द्रियो के माध्यम से चित्त विषयो से सम्पर्क होने के कारण विषयाकार हो जाता है। विषयो के कारण चित्त में निरन्तर परिवर्तन होते रहता है। विषयो के कारण चित्त में होने वाले परिणाम या परिवर्तनों को ही ''चित्तवृत्तियॉ'' कहा जाता है। चित्त में आन्तिरिक एवं बाह्य सम्बन्ध से दोनों प्रकार के परिवर्तन होते

रहते हैं। जैसे जब व्यक्ति के भीतर राग – द्वेष इत्यादि की भावना उत्पन्न होती है तो चित्त भी राग – द्वेष के भाव से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियॉ जिन बाह्मय विषयों को ग्रहण करती है, तो चित्त भी उन्हीं विषयों के आकार वाला होकर बाह्मय परिणाम को प्राप्त होता रहता है। जब चित्त विषयाकार परिवर्तनशील वृत्तियो से रहित हो जाता है तो वह अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। इसे ही महर्षि पतंजलि के अनुसार ''चित्तवृत्ति निरोध'' कहते है।

प्रिय पाठको उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि चित्त के कारण ही सुख–दुःख का यह संसारिक चक्र चलता रहता है। हमारे जन्म जमान्तर के संस्कार मूलप्रवृत्तियॉ, वासनायें सभी कुछ चित्त में संचित रहती है। जिनसे हमारा व्यक्तित्व निर्मित होता है। व्यक्ति जिस योनि में रहता है उसका चित्त भी उसके सभी संस्कारो सहित उसके साथ रहता है, और मृत्यु के उपरान्त कर्मानुसार जिस योनि को प्राप्त होता है, उसमें उन सभी संस्कारो के साथ चला जाता है।

प्रिय पाठको, चित्त के संस्कारों की एक विशेषता यह है कि जीव जिस योनि में जन्म लेता है, उस जन्म में उसी योनि के संस्कार उदित होने लगते हैं और वह अपने पहले के जन्म को विसमण करके वर्तमान योनि के अनुसार आचरण करने लगता है क्योकि उन योनियों (पशु, पक्षी, मनुष्य इत्यादि) के संस्कार उसके चित्त में पहले से विद्यमान है, क्योकि वही जीव कभी पशु, कभी पक्षी, कभी मनुष्य इत्यादि विभिन्न योनियो से होकर गुजरता है। उदाहरण के लिए कोई मनुष्य मृत्यु के बाद यदि अपने कर्मो के अनुसार गाय की योनि को प्राप्त करता है तो उस जीव में उसके चित्त में पहले से संचित गाय की योनि वाले जन्मों की प्रवृत्तियों और वासनाओं का उदय होने लगता है, तथा वह अपने पूर्व के मनुष्य जन्म को पूरी तरह भूलाकर गाय की योनि के अनुसार ही आचरण करने लगता है। योनि के अनुसार ये सभी संस्कार बिना किसी प्रयास के स्वतः ही उदय हो जाते हैं। यदि व्यक्ति स्वयं के भीतर अवांछनीय प्रवृत्तियों को उदित न होने देना चाहे तो इसके लिए इनकी संस्कार रूपी जड़ को समाप्त करने के लिए कठिन तपश्चर्या की आवश्यकता होती है तथा इसके साथ ही व्यक्ति को अवांछनीय प्रवृत्तियों का अभ्यास करना पडता है, जिससे वे अवांछनीय संस्कार सक्रिय न हो पायें। इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञानता के कारण चित्त में अनेकानेक ग्रन्थियॉ बन जाती है। जिसके कारण जीव कभी सुखी और कभी दुःखी होता है। कठोपनिषद में इस तथ्य को निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है –

''यदा सर्वे प्रभिधन्ते,
ह्रदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मृर्त्योऽमृतो
भवत्येतावद्धयनुशासनम्।।''कठोपनिषद / अध्याय 2 / 3 / 15

अर्थात् ''ज्ञान के द्वारा जब चित्त की इन समस्त ग्रन्थियों का छेदन हो जाता है, तब यह मरणशील जीव अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।''

2.5 योग दर्शन के अनुसार चित्त के भेद –

प्रिय पाठकों योगदर्शन के अनुसार चित्त के निम्न दो भेद है –

(1). कारण चित्त
(2). कार्य चित्त

इन दोनों का विवेचन निम्नानुसार है –

(1) कारण चित्त – प्रिय विद्यार्थियों, कारण चित्त को आकाश के समान विभु अर्थात् सर्वव्यापक माना गया है, तथा यह हमेशा पुरूष अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित होता है तथा शरीरों में कार्यरूप चित्त के माध्यम से पाप – पुण्य कर्मों के अनुसार अभिव्यक्त होता है।

(2) कार्य चित्त – कार्य चित्त, कारण चित्त के समान एक नहीं वरन् अनन्त होते है। कार्य चित्त अलग – अलग जीवो में अलग – अलग होते है। कार्य चित्त घटाकाश, मठाकाश इत्यादि की तरह भिन्न – भिन्न जीवो में भिन्न – भिन्न होने के कारण अलग – अलग प्रतीत होते है। जीवों के सुख – दुःख का कारण यह कार्य चित्त ही है। मृत्यु के बाद जब मनुष्य शरीर का चित्त पशु शरीर में प्रविष्ट होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति मनुष्य योनि के उपरान्त पशु योनि को प्राप्त होता है तो उसका चित्त पहले की तुलना में सीमित हो जाता है। यह सीमित होने वाला और फैलने वाला चित्त ही कार्य चित्त कहलाता है। चित्त मूल रूप से विभू ही है किन्तु वासनाओं के कारण सीमित होकर कार्य चित्त का रूप धारण कर लेता है।

प्रिय विद्यार्थियो आप लोगों को यह जान लेना चाहिए कि योग साधना का प्रमुख उद्धेश्य चित्त को उसके वास्तविक स्वरूप में लाना है। और चित्त का यर्थाथ स्वरूप अनन्त, असीमित, सर्वव्यापक या विभू है। सत्कर्म, सद्चिनन्त, सद्व्यवहार इत्यादि के द्वारा चित्त की सीमा फैलती जाती है, और अनन्तः चित्त अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

2.6 चित्त भूमियॉ –

चित्त अपनी प्रादुर्भावावस्था में सत्व गुण प्रधान रहता है। परन्तु चित्त त्रिगुणात्मक है तथा त्रिगुणात्मक होने के कारण गुणों के परस्पर विषमता होने तथा अनेक वृत्तियों, संस्कारो से चित्रित चित्त भिन्न – भिन्न अवस्थाओ व भूमियों का रूप धारण करता है।

योगसूत्र में सूत्रकार ने भूमियों अथवा अवस्थाओ का वर्णन नहीं किया है। किन्तु व्यासभाष्य व तत्व वैशारदी एवं योग वार्तिक में भूमियों का वर्णन किया गया है। व्यासभाष्य में भूमियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

'क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्तमेकाग्रं निरूद्धमितिचितस्य भूमयः।'

पा0 यो0 सू0 1/1 व्यासभाष्य

अर्थात् क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरूद्ध चित्त की भूमियॉ है। इस प्रकार चित्त की पॉच स्थितियों को पॉच अवस्थाओ में बॉटा गया है। जिन्हें चित्त की अवस्थायें या चित्तभूमि नाम से जाना जाता है।

2.6.1 मूढ़ अवस्था –

तमोगुण के आध्यिकय के कारण जड़वत, अकर्मण्य अवस्था का नाम मूढ़ है। इस अवस्था में रज व सत्व दबे रहते है, तथा तमोगुण प्रधान रहता है। ऐसा व्यक्ति विवेक शून्य होता है तथा अशास्त्र विधि से आचरण करना, आलस्य,प्रमाद में रहना, पाप कर्मों में लिप्त रहना, आवेश युक्त रहना इस चित्त की मूल अवस्था है। इस अवस्था में विषयों के यर्थाथ ज्ञान का अभाव रहता है। इसी कारण विषयों के प्रति इस अवस्था में मोह उत्पन्न होता है, तथा ऐसे चित्त से युक्त जीवात्मा संसार में फंसा रहता है। ऐसा चित्त काम, क्रोध, लोभ, मोह के कुचक्र में फंसा रहता है, तथा यह अवस्था नीच मनुष्यों के चित्त की है।

2.6.2 क्षिप्त अवस्था –

शब्द, रूप, स्पर्श आदि विषयों में निरन्तर भ्रमण करने वाला अस्थिर चित्त ही क्षिप्तावस्था है। इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है, तथा तम व सत्य गुण गौण रूप में रहता है। इस अवस्था में राग– द्वेष, काम – क्रोध, लोभ – मोह आदि के साथ – साथ धर्म – अधर्म, ज्ञान – अज्ञान आदि में चित्त प्रवृत्त रहता है। रजोगुण प्रधान होने के कारण चित्त किसी एक विषय में स्थिर नही हो पाता है, निरन्तर क्रियाशील बना रहता है। एक विषय प्राप्त हो जाने पर वह तुरन्त दूसरे विषय की ओर दौड़ने लगता है। इसी कारण चित्त में दुःख उत्पन्न होता है। क्षिप्तावस्था में तमोगुण जब सत्व को दबा देता है तब अधर्म, अज्ञान आदि में चित्त प्रवृत्त होने लगता है, तथा जब सत्व तम को दबा देता है, तब चित्त धर्म के कार्यो में ज्ञान के कार्यो में प्रवृत्त होता है। यह अवस्था साधारणतया सांसारिक व्यक्तियो की है।

2.6.3 विक्षिप्त अवस्था –

क्षिप्त व मूढ़ भूमि की अपेक्षा यह अवस्था कुछ उत्तम कोटि की है। क्योकि इस अवस्था में सत्व गुण बना रहता है। रज व तम गुण कुछ कम हो जाता है। यह अवस्था चित्त की निष्काम कर्म करने से तथा राग – द्वेष, लोभ – मोह आदि का त्याग कर देने के पश्चात प्राप्त होती है। इस अवस्था में सत्व गुण के बने रहने के कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, वैराग्य, ज्ञान एवं ऐश्वर्य में होती है। परन्तु रजोगुण के बड़ते ही क्षण में चित्त क्षोभ को प्राप्त हो जाता है। रजोगुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है। इसलिए इसे विक्षिप्त अवस्था कहा जाता है। यह अवस्था श्रेष्ठ मनुष्यो तथा जिज्ञासु साधको की होती है।

2.6.4 एकाग्र अवस्था –

जब एक ही विषय में वृत्तियो का प्रवाह निरन्तर चित्त में बहता रहे तब उस अवस्था को एकाग्र अवस्था कहते है। यह चित्त की स्वभाविक अवस्था है। इस अवस्था में चित्त में बाह्मय विषयो तथा रज व तम का प्रभाव नही रहता है। तब वह चमकते हुए स्फटिक मणि के समान स्वच्छ व निर्मल होता है।

इस अवस्था में सत्व गुण के कारण रज व तम दब कर पूर्ण रूप से अभाव हो जाता है। साधक का चित्त एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है। इसी अवस्था में चिन्तन मनन किया जाता है। क्योकि इस अवस्था में साधक का चित्त शान्त हो जाता है, तथा यह अवस्था विवेक ख्याति की होती है। इसी अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि भी कहा जाता है। इस अवस्था में चित्त एक ही विषय में स्थिर हो जाता है। यह चित्त की निर्मल व स्वच्छ अवस्था होती है। एकाग्र अवस्था में चित्त में धर्म ज्ञान एवं वैराग्य की प्रधानता रहती है। इस अवस्था में साधक को स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक का ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में चित्त वृत्ति बाह्मय विषयो से निरूद्ध रहती है। वृत्तियो के अन्तर्मुखी होने कारण ही इस अवस्था को एकाग्र अवस्था कहा जाता है। योग का आरम्भ इसी अवस्था से होता है।

2.6.5 निरूद्ध अवस्था –

विवेक ख्याति द्वारा जब चित्त और पुरूष के भेद का साक्षात्कार हो जाता है। तब उस विवेक ख्याति के उदय होने पर वैराग्य की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में योगी सुख–दुःख से विरक्त होकर इसका परित्याग कर निरोधावस्था में पहुॅच जाता है। जिस

कारण संस्कारो के बीज के रहते हुए भी उनको जाग्रत नहीं कर पाता है। विवेक ख्याति भी एक प्रकार की वृत्ति ही है। इस वृत्ति के निरूद्ध होने पर सभी वृत्तियॉ समाप्त हो जाती है। यही चित्त की निरूद्धावस्था होती है। इस निरूद्धावस्था में किसी भी प्रकार की वृत्ति के ना रहने पर कोई भी पदार्थ जानने में नहीं आता तथा कर्माशय रूप जन्म – जन्मान्तरों के बीज नही रहते है। इसलिए इसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते है।

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियो इन चित्त की पॉच अवस्थाओ का अध्ययन आपने किया। उपरोक्त पॉचो अवस्थाओ में मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त इन अवस्थाओ में योग का आरम्भ नही हो पाता है। क्योकि इन अवस्थाओ में तम व रज गुण प्रधान रहते हैं। विक्षिप्त अवस्था में सत्व गुण प्रधान तो रहता है, परन्तु रज व तम भी कम हो जाते है। इस लिए विक्षिप्त अवस्था में यदा – कदा चित्त स्थिरता को प्राप्त करने वाला हो जाता है। परन्तु रजो गुण के बढते ही क्षण में क्षोभ को प्राप्त हो जाता है। इसलिए इन अवस्थाओ में योग आरम्भ नही हो पाता है। योग का आरम्भ एकाग्र अवस्था से होता है।योग की एकाग्र अवस्था परिपक्व हो जाने पर निरूद्धावस्था की प्राप्ति हो जाती है। जिसमें सत्व, रज व तम सभी प्रकार की वृत्तियॉ समाप्त हो जाती है। साधक को समाधि की प्राप्ति हो जाती है। तथा क्लेशो का नाश हो जाता है, तथा आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

बहु विकल्पीय प्रश्न –

क. मन, बुद्धि व अहंकार का सम्मिलित रूप है –

(अ). मन (ब). बुद्धि
(स). चित्त (द). आत्मा

ख. चित्त की कितनी अवस्था है ?

(अ). सात (ब). पॉच
(स). आठ (द). तीन

ग. चित्त की प्रथम अवस्था है ?

(अ). मूढ़ (ब). विक्षिप्त
(स). क्षिप्त (द). निरूद्ध

घ. योग का प्रारम्भ किस अवस्था से होता है ?

(अ). एकाग्र (ब). मूढ़
(स). निरूद्ध (द). क्षिप्त

ङ़ योग दर्शन के अनुसार चित्त के भेद है –

(अ). चार (ब). पॉच
(स). दो (द). तीन

2.7 सारॉश–

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणित योग सूत्र जिसमें महर्षि ने योग की दार्शनिकता बड़े ही सकारात्मक रूप में प्रतिपादित किया है। योग सूत्र में योग को वृत्तियो के सवर्था अभाव में परिभाषित किया है। जिसमें चित्त को मन, बुद्धि और अहंकार का सम्मिलित स्वरूप बताया है। चित्त किन – किन परिस्थितियो में रहता है, वही स्थितियो को भूमियो (अवस्थाओ) का रूप दिया है। चित्त की पॉच अवस्थाए क्रमशः मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र व निरूद्ध है।

प्रथम तीन अवस्थाओ में चित्त सत्व, रज, तम, इन तीनो गुणों की प्रधानता लिये होता है। एकाग्र अवस्था में योग का आरम्भ होता है, तथा निरूद्ध अवस्था में सभी वृत्तियो व गुणों का अभाव हो जाता है, तथा समाधि की प्राप्ति होती है।

2.8 शब्दावली –

- चित्त – मन + बुद्धि + अहंकार
- ज्ञानानुभूति – ज्ञान की अनुभूति
- त्रिगुणात्मक – तीनो गुणो (सत, रज, तम) से युक्त
- निरोध – रोकना, नियन्त्रण करना
- अन्तःकरण – मन + बुद्धि + अहंकार + चित्त
- कर्मबीज – संस्कार
- ज्ञानेन्द्रियॉ – पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ (श्रोत्रन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, दर्शनेन्द्रिय, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय)
- सत्कर्म – अच्छे कर्म
- सद्चिन्तन – अच्छी सोच, अच्छा चिन्तन
- विशुद्ध – अति शुद्ध

2.9 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर –

1–क – स　　ख – ब　　ग – अ　　घ – अ
ड़ – स

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1 – विज्ञानानन्द सरस्वती (2003), योग विज्ञान। योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।
2 – कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।
3 – निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।
4 – पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली
5 – व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।
6 – योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।
7 – मिश्र चन्द जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
8 – पतंजलि महर्षि (2008), पातंजल योग प्रदीप। गीताप्रेस गोरखपुर।
9 – राजवीर शास्त्री (2006), पातंजल योग प्रदीप। रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार।
10 – लाल नन्द दशौरा (2005), पातजल योगदर्शन भाष्यम्। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।

11 – शर्मा श्रीराम (2000), सांख्यदर्शन एवं योगदर्शन। वेद माता गायत्री ट्रस्ट, देव विभाग शान्तिकुन्ज, हरिद्वार।

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न –

1– चित्त की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए चित्त की अवस्थाओ का वर्णन कीजिए।

2– चित्त के भेद बताते हुए चित्त की भूमियो का वर्णन कीजिए।

इकाई 3 – चित्त की वृत्तियॉ

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 चित्त वृत्ति
3.4 चित्त वृत्तियों के भेद
  3.4.1 प्रमाण वृत्ति
  3.4.2 विपर्यय वृत्ति
  3.4.3 विकल्प वृत्ति
  3.4.4 निद्रा वृत्ति
  3.4.5 स्मृति वृत्ति
3.5 सारॉश
3.6 शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना –

प्रिय पाठकों इससे पूर्व की इकाई में आपने चित्त एवं चित्त की भूमियो का अध्ययन किया उपरोक्त इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप समझ ही गये होंगे कि चित्त क्या है। इसकी कितनी अवस्थाए हैं।

प्रिय पाठको चित्त वस्तुतः एक जलाशय की भॉति शान्त हैं। इस जलाशय में यदि एक कंकड़ फेंका जाए तो तरंग उत्पन्न होती है। यह तरंगे गोल – गोल धुमती हुयी केन्द्र से परिधि की ओर आती है। हमारे चित्त में जो कि शान्त जलाशय है। इसमें बाह्रय विचार रूपी कंकड़ पड़ने से तरंगे उत्पन्न होती है। जिन्हे कि वृत्तियॉ कहा जाता है। ये वृत्तियॉ का अर्थ है गोल – गोल धूमना या वर्ताव करना। यह चित्त की वृत्तियॉ हमारे चित्त में उठती रहती है। जब तक चित्त रूपी महा समुद्र (जलाशय) में तरंगे उठती रहती है तब तक चन्द्रमा का विम्ब उसमें स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। इस प्रकार चित्त में बासना की तरंगो के उठते रहने के कारण ही उस आत्म ज्योति का बोध नहीं हो पाता है। तथा इन तरंगो को रोक देने से ही आत्म तत्व का बोध हो पाता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जल में तरंग होने पर चन्द्रमा का प्रतिविम्ब नही दिखाई देता है। परन्तु तरंगो के रूक जाने पर चन्द्रमा का प्रतिविम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। इलिए महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट किया है कि इन चित्त वृत्तियो के अभाव होने पर ही साधक साधना में प्रवृत होता है, तथा आत्म ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए महर्षि पतंजलि ने परिभाषित करते हुए कहा है, कि चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग है। इसी योग से उस चैतन्य आत्मा का ज्ञान हो जाता है तथा इसी ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

प्रिय पाठको आपके मन में जिज्ञासा हो रही होगी कि उन वृत्तियो को जाना जाए कि जिनके रूक जाने या अभाव हो जाने पर जीवन के सर्वागीण विकास के साथ उस उच्च पद, परम् पद की प्राप्ति सम्भव है।

प्रस्तुत इकाई में आप चित्त की उन्ही वृत्तियो का विस्तार पूर्वक अध्ययन करेगे।

3.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई के बाद

- आप चित्त की क्लिष्ट वृत्तियो को समझ सकेगे।
- आप चित्त की अक्लिष्ट वृत्तियो को समझ सकेगे।
- आप चित्त की वृत्तियो के पॉचो प्रकारो का विस्तार से अध्ययन कर सकेगे।

3.3 चित्त वृत्ति –

प्रिय पाठको महर्षि पतंजलि ने बहुत संक्षेप में स्पष्ट कर दिया है कि योग क्या है। योग का सार उन्होने एक ही सूत्र में लिखकर रख दिया है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध'** कि योग चित्त की वृत्तियो का निरोध है, रूक जाना है। यही सत्य है। योग एक संकल्प साधना है। यह एक ऐसा विज्ञान है जिसमें अपनी इन्द्रियो को वश में करके चेतन आत्मा से संयुक्त हो सकते है। यह योग एक अनुशासन है। यह न कोई ग्रन्थ है ना कोई शास्त्र ही है। यह योग मनुष्य के जीवन को अनुशासित करने वाला विज्ञान है। मनुष्य के शरीर, इन्द्रियां मन सभी को नियन्त्रित कर पूर्ण अनुशासन प्राप्त कराने का विज्ञान है। इस चित्त में बासनाओं का पुन्ज एकत्रित है। वह भी जन्म जन्मान्तर के कर्म – संस्कारों का पुन्ज इसमें विद्यमान

है। जिसमें हमारी तरंगे (वासना रूपी) उठती रहती है। जिस प्रकार बादलों के कारण या बादलों के आवरण से आकाश दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार चित्त में उठने वाली तरंगों के कारण आत्मा का प्रकाश दिखाई नहीं देता है। चैतन्य आत्मा इससे परे है। ये चित्त की वृत्तियॉ बर्हिमुखी है जो सदा संसार की ओर उन्मुख रहती है। इसलिए मनुष्य का मन चंचल इन्हीं चित्त की वृत्तियों के कारण बना रहता है।

प्रिय पाठको इन तरंगो को ही वृत्तियॉ कहा गया है। ये चित्त पर पड़ने वाली तरंगे वृत्तियॉ ही है।

महर्षि पतंजलि इन वृत्तियो को समझाते हुए कहते है कि जब इन वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है तब ही आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होती है। क्योंकि जब आत्मा का संयोग वृत्तियो के साथ में होता है तब आत्मा वृत्तियो के साथ मिलकर वृत्तियो के समान ही अन्य वस्तुओ को देखती है। आत्मा उस समय स्वयं को नही देख सकती है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। परन्तु जब वृत्तियो रूक जाती है उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इसे इस प्रकार से समझ जा सकता है। जिस प्रकार अपना स्वरूप आइने में देंखे तो उसके आस पास की सभी वस्तुए दिखाई देती है। किन्तु इन्हें तो ऑख देख रही है। वह नहीं दिखाई देती है। तथा देखने वाली ऑख को देखने पर फिर अन्य कुछ भी नहीं दिखाई देता है। इसी प्रकार उस आत्मा (दृष्टा) की भी स्थिति ऐसी ही है। चित्त का कारण प्रकृति है तथा इसमें भेद बुद्धि के कारण दिखाई देता है।

3.4 चित्त वृत्ति के भेद –

महर्षि पतंजलि ने चित्त की पॉच वृत्तियॉ बताई है। तथा उनके प्रत्येक के क्लिष्ट ओर अक्लिष्ट दो – दो भेद है। महर्षि पतंजलि ने वृत्तियो का वर्णन इस प्रकार से किया है

'वृत्तयः पच्यतययः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।' पा0 यो0 सू0 1/5

अर्थात् वृत्तियॉ पॉच प्रकार की है। तथा उनके प्रत्येक के क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो– दो भेद है।

नामकरण – वृत्ति शब्द वृत्त वर्तने धातु में 'ति' प्रत्यय लगने से बनता है। जिसका अर्थ है– बर्ताव करना या गोल घूमना। चित्त जो बर्ताव करता है, या कार्य करता है वह सब वृत्तियों का रूप ले लेता है। जिस प्रकार जल में वर्तुलाकार गोल – गोल लहरे उठती है, उसी प्रकार चित्त में भी एक के बाद एक वृत्तियॉ उठती है। हमारा चित्त कुछ न कुछ विचार या कल्पना आदि करता रहता है। वाह्रय विचार जो हमारे चित्त में हलचल या परिणाम उत्पन्न करते है, इन्हीं परिणामों को वृत्तियॉ कहते है। इन्द्रियो का विषयों से सम्पर्क में आने से वृत्तियॉ उत्पन्न होती है।

महर्षि पतंजलि ने वृत्तियो को पॉच प्रकार की बताई है। परन्तु ये वृत्तियॉ स्वभाव से दो प्रकार की होती है – क्लिष्ट व अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्ति वे वृत्तियॉ है, जिनसे मनुष्य को कष्ट होता है। कष्ट या दुःख का अनुभव करता है।

दूसरी वृत्ति अक्लिष्ट वे वृत्ति है, जिनसे मनुष्य दुख का अनुभव नही करता है। सुख का अनुभव करता है। अतः पहली वृत्ति को क्लिष्ट अर्थात् दुःख प्रदान करने वाली कहा गया है। तथा दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् सुख प्रदान करने वाली वृत्ति।

उदाहरण स्वरूप इसे इस प्रकार से समझ सकते हैं। जब हम कोई अच्छा दृश्य जैसे सुन्दर उद्यान या अपनी पसन्द की वस्तु को देखते है तो हम प्रसन्न होते है। मन में प्रसन्नता

उत्पन्न होती है। चित्त में अच्छे व सकारात्मक विचार घूमने लगते है। जिन दृश्यों या विचार द्वारा हमें सुख की अनुभूति हुई, सुख मिला वह अक्लिष्ट वृत्ति होती है। इसके विपरीत यदि हम मार्ग में कोई दुर्घटना देखते है, ऐसे दृश्य देखते है जो कि हमे दुःखी करते है, हमारा मन दुःखी होने लगता है। हम परेशान व उदास हो जाते है। इस प्रकार की वृत्ति जिनसे हमे दुःख प्राप्त होता है। क्लिष्ट वृत्ति कहलाती है।

इन दोनो उदाहरणो में दृश्य मात्र के अनुभव अलग – अलग है। एक से सुख की, प्रसन्नता की अनुभूति हुई तथा दूसरी घटना से दुख की अनुभूति होती हैं। इन क्लिष्ट व अक्लिष्ट वृत्तियों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार से है –

- **क्लिष्ट वृत्ति (दुःख उत्पन्न करने वाली) –** क्लिष्ट वृत्तियो का अर्थ है – क्लेशपूर्ण वृत्तियॉ। ये वृत्तियॉ ही पंचक्लेशो को उत्पन्न करती है। इन वृत्तियों में रज तथा तम गुण प्रधान होते हैं। तथा मनुष्य को विवेक ज्ञान से दूर ले जाते है। ये क्लिष्ट वृत्तियॉ भौतिक सुख व दुःख दोनो उत्पन्न करती है। ये वृत्तियॉ अधर्म तथा वासनाओं को उत्पन्न करती हैं।इन्हीं वृत्तियों के कारण ही मनुष्य संसार चक्र में फंसा रहता है।
- **अक्लिष्ट वृत्ति (सुख प्रदान करने वाली) –** अक्लिष्ट का अर्थ है – क्लेष रहित या क्लेशों को कम करने वाली वृत्तियॉ। ये वृत्तियॉ सत्व गुण प्रधान होती है। ये वृत्तियॉ पांचो क्लेशो को नष्ट करने वाली होती है। इस वृत्ति में चित्त आत्मा की और आकृषित रहता है। ये वृत्तियॉ पॉच क्लेशो को नष्ट करने वाली होती है। तथा जन्म मरण के चक्र से मुक्ति प्रदान करने में सहायक होती है। ये वृत्तियॉ योगी को विवेक ख्याति की ओर अग्रसर करती हैं। इन अक्लिष्ट वृत्ति से ही साधक पहले क्लिष्ट को हटाता है। फिर उन अक्लिष्ट वृत्तियो का भी निरोध करता है। यही स्थिति ही योग है, जब चित्त की सभी वृत्तियों का अभाव हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने इन वृत्तियो को पॉच भागो में बॉटा है। जिनका वर्णन इस प्रकार है –

'प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः।' 1/6 पा0 यो0 सू0

इस सूत्र में महर्षि पतंजलि ने यह स्पष्ट किया है कि हमारे चित्त में जो वृत्तियॉ समय – समय उठती रहती है, तथा हमारे चित्त को चलायमान करती रहती है वह पॉच प्रकार की है।

(1).प्रमाण (2).विपर्यय (3).विकल्प (4).निद्रा (5).स्मृति

3.4.1 प्रमाण वृत्ति –

प्रमा (यथार्थ ज्ञान) करण (साधन) को प्रमाण कहा जाता है। इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त वास्तविक ज्ञान से चित्त में उत्पन्न हुई वृत्ति को प्रमाण वृत्ति कहते है। जिस ज्ञान से में सुनता हूॅ, मैं देखता हूॅ, मैं सुखी हूॅ, मैं दुःखी हूॅ, मैं यह वेद शास्त्र से जानता हूॅ, इस प्रकार के ज्ञान को बोध कहते है। यह बोध यदि यर्थाथ हो तो प्रमा कहलाता है। अर्थात जिस वृत्ति से प्रमा यर्थाथ बोध उत्पन्न होता है उसे प्रमाण वृत्ति कहते है। यह प्रमाण इन्द्रिय जनित ज्ञान है। इस प्रमाण के तीन भेद हैं, जो इस प्रकार है –

'प्रत्यक्षानुगमानागमा गमाः प्रमाणानि।' 1/7 पा0 यो0 सू0

प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम तीन प्रकार की प्रमाण वृत्ति है।

यह प्रमा चक्षु आदि इन्द्रियो द्वारा व अनुमान द्वारा अथवा श्रवण द्वारा या आप्त वचन द्वारा चित्त वृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए इस चित्त वृत्ति को प्रमा (ज्ञान) का कारण होने से प्रमाण कहा जाता है। यह प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की होती है –

1 – प्रत्यक्ष प्रमाण – इन्द्रिय जनित ज्ञान।

2 – अनुमान प्रमाण – इन्द्रियगत अनुभव न होकर अनुमान के आधार पर ज्ञान।

3 – आगम प्रमाण – यह शब्द प्रमाण है, जो आप्त वाक्य या श्रवण द्वारा उत्पन्न होते है।

1 प्रत्यक्ष प्रमाण – प्रति + अक्ष अर्थात् ऑख के सामने उत्पन्न वृत्ति प्रत्यक्ष वृत्ति है। हमारा चित्त इन्द्रियो के सम्पर्क में आकर जो ज्ञान प्राप्त करता है उसे प्रत्क्षय प्रमाण वृत्ति कहते है। या इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान या अनुभूति को प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते हैं। इसी को यथार्थ अनुभव या सत्य ज्ञान भी कहते हैं। किसी वस्तु का ज्ञान जब हमे इन्द्रियों की सहायता से होता है। वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे – ऑखों देखी, जिह्वा से स्वाद का ज्ञान, कानो से श्रवण, नासिका से गन्ध का ज्ञान तथा त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होना प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब यह ज्ञान भ्रम या संशय रहित होता है। तब वह सत्य ज्ञान होता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण भी क्लिष्ट व अक्लिष्ट दोनो हो सकता है। यदि यह ज्ञान संसार की अनित्यता का बोध करा कर ईश्वर की ओर उन्मुख करा देता है तो यह अक्लिष्ट प्रमाण वृत्ति है। जिससे की परम सुख की प्राप्ति होती है। किन्तु यदि इस वृत्ति से संसार की माया व प्रपंच भोग सत्य होने लगे तथा ईश्वर के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाए तब यह क्लिष्ट वृत्ति है। जिससे की मनुष्य के दुखों की वृद्धि होती है।

2 अनुमान प्रमाण – अनु + मान अर्थात किसी अन्य के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना। अनुमान प्रमाण वह है। जब वस्तुओ का ज्ञान इन्द्रियगत अनुभव न होकर अनुमान के आधार पर हो। किसी पूर्व दृष्ट पदार्थो के चिन्ह देखकर हमे उसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है। जैसे धुँए को देख कर पहाड़ी पर आग का अनुमान लगाना। बादलो को देख कर वर्षा का अनुमान आदि।

अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है – पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतयोदृष्ट।

(अ) **पूर्ववत् अनुमान –** पूर्ववत् अनुमान वह है, जहा कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो। जैसे यदि काले बादल और आकाश विद्युत को देखकर तथा बादलो की गड़गड़ाहट को सुनकर भविष्य में होने वाली वर्षा का अनुमान होता है। जो कि वर्तमान में इन्द्रियो द्वारा ग्राहय नही है। इस प्रकार के अनुमान को पूर्ववत या पूर्ववत उत्पन्न होने वाला ज्ञान कहा जाएगा।

(ब) **शेषवत् अनुमान** – जब किसी कार्य को देख कर उसके कारण का अनुमान लगाया जाता है, उसे शेषवत् अनुमान कहा जाता है। जैसे नदी के मटमैले जल को देखकर व बड़े हुए जलस्तर को देखकर उसके कारण रूप पर्वतो पर हुयी वर्षा का अनुमान लगाया जाता है। यह वर्षा एक दो दिन पहले हो चुकी होती है। जो कि इन्द्रियो द्वारा ग्राहय नही है। परन्तु उसका ज्ञान परिणाम को देखकर वर्तमान में (आज) लगाया जा सकता है। इसी को शेषवत् अनुमान कहते है।

(स) **सामान्यतः दृष्ट** – सामान्यतः दृष्ट का तात्पर्य यह है कि जब किसी कार्य के कारण को अनेको बार देख कर उसका ज्ञान किया जाता है। जो सामान्य रूप से देखा गया हो परन्तु विशेष रूप से देखा न गया हो वह सामान्यतः दृष्ट वृत्ति कही जाती है। जैसे मिट्टी

के बने घड़े को देखकर हम उसके बनाने वाले का अनुमान लगा लेते है कि यह वस्तु कुम्हार ने बनाई होगी। क्योकि कोई भी बनी हुई वस्तु को बनाने वाला अवश्य होगा। प्रत्येक बनी हुई वस्तु का कोई चेतन निमित्त कारण अवश्य होता है। इसी प्रकार लोहे से निर्मित वस्तु को देखकर यह अनुमान लगा लेते है कि यह वस्तु लोहार ने बनायी होगी। क्योकि प्रायः कुम्हार द्वारा घड़े का निर्माण और लोहार द्वारा हथियारों का निर्माण हम सामान्यतः शैशव अवस्था से ही देखते आ रहे होते है। उन्हे देखने पर हम अनुमान लगा लेते है कि यह वस्तु लोहार या कुम्हार द्वारा बनाई गयी है।

सामान्यतः दृष्ट प्रमाण को एक अन्य उदाहरण से भी इस प्रकार से समझा जा सकता है। जैसे दो व्यक्ति हमेशा साथ – साथ रहते हैं। राम व श्याम उनके नाम है। राम को देखकर यह अनुमान लगा लेते है कि दूसरा व्यक्ति अवश्य श्याम होगा। इसे सामान्यत दृष्ट अनुमान कहते है।

इस अनुमान प्रमाण के द्वारा यदि योग साधको में श्रद्धा बड़ती है। तब वह अक्लिष्ट वृत्ति है। और यदि इस वृत्ति के द्वारा सांसारिक भोग पदार्थो की रूचि बड़ती है। तब वह क्लिष्ट वृत्ति होती है।

3 – आगम प्रमाण – आगम प्रमाण वह ज्ञान है, जो प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के आधार पर न होकर विद्वानो द्वारा या ज्ञानियो द्वारा कहे गये वचन तथा शास्त्रो के वचनो के आधार पर होता है। वेद, शास्त्र और महापुरूषो के वचनो को आगम प्रमाण कहते है।

जब किसी वस्तु अथवा तत्व के ज्ञान का कारण ना तो इन्द्रियॉ हो न ही उनका अनुमान किया जाए तो उस ज्ञान को आगम प्रमाण से प्राप्त ज्ञान कहते है।

योगसूत्र (व्यासभाष्य 1/7) वर्णन किया गया है –

''आप्तेन दृश्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्ववोधसंक्रांतये।
शब्देनोपदिष्यते शब्दात् तदर्थविशयावृत्तिः श्रोतुरागमः।।''

अर्थात् आप्त पुरूष अथवा आप्त ग्रन्थों द्वारा प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ज्ञात विषय को दूसरे में ज्ञान उत्पन्न करने के लिए शब्द के द्वारा उपदेश दिया जाता है। उस शब्द से उस अर्थ को विषय करने वाली जो श्रोता की वृत्ति है, वह आगम प्रमाण कहलाती है।

यदि देखा जाए तो स्वर्ग आदि को चक्षु से ग्रहण नही किया जा सकता है। और न वह किसी के द्वारा अनुमानित है। जबकि स्वर्ग की मान्यता मानी जाती है। क्योंकि वेद आदि ग्रन्थों में स्वर्ग ओर नरक की मान्यता मानी गयी है। इसलिए ज्ञानियो द्वारा कहे गये कथन जो शास्त्रो में संग्रहीत है आगम प्रमाण के अन्तर्गत आते है। वेद, उपनिशद, दर्शन आदि मनीषियो के अनुभव के आधार पर लिखे गये है। इन कथनो से भोगो से वैराग्य होकर यदि मनुष्य का चित्त योग साधना की और प्रवृत होता है, तब वह अक्लिष्ट वृत्ति है। वही संसार की ओर, उसके भोगो की ओर चित्त के प्रवृत होने पर क्लिष्ट वृत्ति है।

3.4.2 विपर्यय वृत्ति –

विपर्यय का तात्पर्य मिथ्याज्ञान से है। मिथ्याज्ञान को ही विपर्यय कहा जाता है। मिथ्याज्ञान अर्थात् झूठाज्ञान। महर्षि पतंजलि ने विपर्यय का वर्णन इस प्रकार किया है –

'विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।' 1/8 पा0 यो0 सू0

अर्थात् विपर्यय मिथ्याज्ञान है। जो उस पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित नही है। अर्थात् किसी भी वस्तु को देखकर या सुनकर हम उस वस्तु से भिन्न किसी अन्य वस्तु को समझ लेते है। यही विपर्यय वृत्ति हैं।

जैसे अन्धकार के कारण रस्सी को सॉप समझ लेना, तथा सीपी में चॉदी की भ्रान्ति हो जाना तथा मरूस्थल में जल की भ्रान्ति हो जाना, जिसे मृगमरीचिका कहते है, आदि।

विपर्यय वृत्ति को अविद्या भी कहते है। जब तक मनुष्य देह आदि को आत्मा समझता रहता है तब तक वह भविष्य में डूबा रहता है। इस अनित्य संसार को नित्य समझता रहता है। योग साधना द्वारा ही इस अविद्या का नाश होता है।

मनुष्य जब इस मिथ्याज्ञान को अपना कर योग साधना की ओर प्रवृत होता है। जब यह मिथ्याज्ञान मन में प्रसन्नता उत्पन्न करें तब यह अक्लिष्ट विपर्यय वृत्ति है।

जैसे – मिट्टी के पार्थिव में प्राण प्रतिष्ठित शिव का रूप देख कर पूजा अराधना करना। जिससे चित्त शान्त व प्रसन्न होता है। वही जब यह वृत्ति संसार व भोगो की तरफ प्रवृत होती है तब वह क्लिष्ट वृत्ति होती है। जिससे मन में दुख व भय उत्पन्न होता है।

3.4.3 विकल्प वृत्ति –

किसी वस्तु के उपस्थित न रहते हुए भी शब्द ज्ञान मात्र से उत्पन्न चित्त वृत्ति को विकल्प कहते है। योगदर्शन में विकल्प का वर्णन करते हुए कहा है –

'शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।' 1/9 पा0 यो0 सू0

अर्थात् वस्तु के ना रहते हुए भी शब्द ज्ञान मात्र से उत्पन्न चित्त वृत्ति को 'विकल्प' कहते है।

विकल्प वृत्ति में शब्दो की प्रमुखता होती है। शब्दो को ही प्रमाण मान लेते है। शब्दो से उत्पन्न ज्ञान तथा उसके पीछे चलने का जिसका स्वभाव है। जबकि वह वस्तु उस स्थान पर नही होती है। तथा शब्दो को सुनकर ज्ञान प्राप्त होता है। वही विकल्प वृत्ति है। विकल्प वह वृत्ति है, जब कोई वस्तु के ना होने पर शब्द ज्ञान मात्र से जो कल्पना कर सकते है। प्रायः देखा जाता है कि संसार के कोई भी कार्य करने से पहले कल्पना ही होती है। सभी वैज्ञानिक उपलब्धियॉ, संगीत व कविताएं आदि मनुष्य की कल्पनाएं है। यह कल्पनाएं चित्त की एक वृत्ति है। इन कल्पनाओ का उपयोग सकारात्मक कार्यों में किया जाए तब यह अक्लिष्ट वृत्ति है।

जैसे साधक ने ईश्वर का स्वरूप कभी देखा नही है। साधक ग्रन्थों को पढ़ कर व सुनकर ईश्वर के स्वरूप की, उसके आलौकिक स्वरूप की कल्पना कर ध्यान लगाता है। तथा ध्यान के द्वारा क्लेशो के नाश के साथ – साथ उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। ऐसा विकल्प अक्लिष्ट कहलाता है। यदि मनुष्य का मन काल्पनिक उड़ानो को भर कर भोग, विलास, संसारिक राग में लगता रहता है, जो कि दुख का हेतु बनता है। यह विकल्प वृत्ति क्लिष्ट है।

3.4.4 निद्रा वृत्ति –

जाग्रत तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियो के अभाव की जो प्रतीति करती है, वह वृत्ति निद्रा है। निद्रा एक प्रकार की वृत्ति ही है। कई विद्वान व आचार्य निद्रा को वृत्ति नही मानते है। परन्तु योग में आचार्यो ने निद्रा को वृत्ति ही माना है। सांख्य के मतानुसार प्रमाण, विपर्यय, विकल्प के समान निद्रा भी एक वृत्ति है। निद्रा वृत्ति का स्वरूप महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

'अभाव प्रत्ययालम्वनावृत्तिनिद्रा।' 1/10 पा0 यो0 सू0

अर्थात् अभाव की प्रतीति को विषय करने वाली वृत्ति निद्रा है। यहाँ पर ज्ञान के अभाव की प्रतीति रहती है। इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान का उस अवस्था में अभाव रहता है। यह वह सुषुप्ति अवस्था है, जिसे जाग्रत अवस्था और स्वप्न अवस्था में इन्द्रिय ज्ञान होते रहते है। ऐसा ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में नही होता हैं। अतः निद्रा नामक वृत्ति को सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है।

इस अवस्था को लोक व्यवहार में गाड़ी निद्रा या गहरी नींद कहते हैं। क्योंकि जब व्यक्ति निद्रा से जागता है तब वह कहता है कि आज मैं सुखपूर्वक सोया। निद्रा में भी उसे यह ज्ञान है कि वह सुखपूर्वक सोया। यह ज्ञान निद्रा की अवस्था में होता है। तथा इसी का नाम निद्रा है। जो कि हमें नींद में भी सुख का अनुभव कराती है।

जब गहरी नींद में मनुष्य को यह भान रहता है कि आज मैं सुखपूर्वक सोया, आज गहरी नींद आयी। जब निद्रा से जाग जाने पर एक सुखद अनुभूति हो, आनन्द की अनुभूति हो, शरीर में किसी प्रकार का आलस्य ना रहे, इन्द्रियाँ प्रसन्न हो तब उसे अक्लिष्ट वृत्ति कहते है। वही जब मनुष्य के जागने पर शरीर में तमो गुण की अधिकता, थकान की अनुभूति हो, आसक्ति उत्पन्न हो तब वह क्लिष्ट कहलाती है।

उदाहरण – जिस प्रकार अन्धेरे कमरे में सभी वस्तुए छिपी रहती है। अन्धकार के कारण दिखाई नहीं दे रही है। किन्तु सभी वस्तुओ को छिपाने वाला अन्धकार स्वयं दिखता हैं। और वह वस्तुओं के अभाव की प्रतीति कराता है। इसी प्रकार तमोगुण सुषुप्ति अवस्था में अन्धकार की तरह चित्त की सभी वृत्तियो को दबाकर स्वयं स्थिर रूप में प्रधान रहता है। परन्तु इस अवस्था में रजोगुण तनिक मात्र में रहते हुए वह इस अभाव की प्रतीति कराता है। चित्त के ऐसे परिणाम को निद्रा वृत्ति कहा जाता है।

3.4.5 स्मृति वृत्ति –

महर्षि पतंजलि स्मृति का वर्णन योग दर्शन में इस प्रकार से किया है –

'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।' 1/11 पा0 यो0 सू0

अनुभव किये हुए विषय का फिर उभर आना स्मृति है। अनुभव के आधार पर जब हमें किसी विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। उसी को अनुभूत विषय कहते है।

सूत्र में 'असम्प्रमोषः' पद में सम् + प्र + मुष् (स्तेये = चोरी करना) + धम् प्रत्यय हुआ है। जिसका अर्थ है – अच्छी प्रकार से भूल जाना अथवा चुराया जाना। तथा (सम्प्रमोष) से नत्र् समास करने पर उससे अर्थ भिन्न हो जाता है। इस प्रकार इसका अर्थ है कि अनुभूत विषय का पूर्ण रूपेण व्यक्ति के अधिकार में बने रहना। मनुष्य जो कुछ भी अनुभव करता है। उसके संस्कार मन में एकत्र हो जाते हैं। और वे संस्कार कुछ समय पश्चात उचित निमित्त को पाकर उपस्थित हो जाते हैं। चित्त की इस वृत्ति को स्मृति कहते हैं। हमारे चित्त में अनुभव के अनुरूप संस्कार बनते हैं। और संस्कार के अनुरूप स्मृति होती है।

स्वप्न की दशा में स्मृतियॉ अव्यवस्थित होती है। इसका कारण रजोगुण व तमोगुण होता है। क्योकि यह सत्य है कि अनुभव के बिना कोई भी स्मृति नही हो सकती है। जैसे जो जन्मान्ध हो उन्हे रूप वाली वस्तु का स्वप्न नही आता है।

क्योकि जब हम किसी भी वस्तु का अनुभव करते है तभी वह वस्तु और उसका ज्ञान दोनो प्रकाशित रहते है। उन अनुभव से ही चित्त पर संस्कार पड़ते है। उन संस्कारों से ही स्मृति होती है। यह स्मृति भी दो प्रकार की होती है। जो स्मृति हमे उत्साह, श्रद्धा,

वैराग्य की ओर उन्मुख करे, जो वृत्ति हमें योग साधना की ओर आत्म ज्ञान में सहायक होती है। वह अक्लिष्ट वृत्ति होती है। तथा जो वृत्ति योग साधना में बाधक बनती है। वह क्लिष्ट वृत्ति है।

उदाहरण – माता – पिता द्वारा हमें जो संस्कार मिले होते है। वह स्मृति रूप में मन में एकत्र होते है। बचपन में सिखाये गये अच्छे उपदेश या ये संस्कार कभी नष्ट नही हो सकते है। तथा ना ही उन्हे कोई चुरा सकता है। क्योकि जो ज्ञान हमें सिखाया जाए या अनुभव द्वारा ग्रहण किया जाए वह ज्ञान नष्ट नहीं होता है। आवश्यकता पड़ने पर वह ज्ञान स्मृति के रूप में हमारे सामने आ जाता है।

अतः प्रिय विद्यार्थियों उक्त पॉचो वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति) को महर्षि पतंजलि ने तीनो गुणों से युक्त बताये हुए निरोध करने योग्य बताया है। क्योकि ये वृत्तियॉ क्लिष्ट होती है। तथा क्लेशो का कारण होती है। ये अविद्या रूपी क्लिष्ट वृत्ति सभी दुःखो का मूल है। तथा सुख की वृत्तियॉ सुख के विषयों में राग उत्पन्न करें जब उस सुख के विषयों और सुख के साधनो में विघ्न उत्पन्न हो तो द्वेष उत्पन्न होता है।इस प्रकार ये वृत्तियॉ क्लिष्ट होने पर क्लेश जनक है। इन सभी वृत्तियों के निरोध हो जाने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1 – बहु विकल्पीय प्रश्न –

(क) – चित्त की कितनी वृत्तियॉ है ?

अ. 2 ब. 7
स. 6 द. 5

(ख) – प्रमाण वृत्ति कितने प्रकार की है ?

अ. 3 ब. 6
स. 2 द. 8

(ग) – शब्द ज्ञान मात्र से उत्पन्न वृत्ति है ?

अ.प्रमाण ब.विकल्प
स.स्मृति द.निद्रा

(घ) – कौन सी वृत्ति के कारण मिथ्याज्ञान होता है ?

अ.विपर्यय ब.विकल्प
स.निद्रा द.स्मृति

3.5 सारॉश –

महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित बड़े ही सरलतम रूप में योग सूत्र नामक पुस्तक में किया है। महर्षि ने योग उस अवस्था को कहा है जब हमारी समस्त चित्त की वृत्तियॉ समाप्त हो जाएं। चित्त को परिभाषित करते हुए कहते है कि मन, बुद्धि, अहंकार का सम्मिलित रूप ही चित्त है। तथा इस चित्त में हमारे जनम जन्मो के संस्कार संग्रहित रहते है। तथा हमारे इस चित्त को वृत्तियॉ विपेक्षित करती रहती है। ये वृत्तियॉ पॉच प्रकार की है। तथा इन पॉचों प्रकार की वृत्तियॉ क्लिष्ट (दुःख) व अक्लिष्ट (सुख) दोनो प्रकार की होती है। क्लिष्ट वृत्ति मनुष्य को भोगो की ओर प्रवृत्त करती है। जबकि अक्लिष्ट वृत्ति मनुष्य को आत्म ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। महर्षि पतंजलि ने योग साधना में इन

वृत्तियो को बाधक माना है। अतः इन वृत्तियो का निरोध होना आवश्यक है। यह स्थिति ही साधक को परम् लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं।

3.6 शब्दावली –

- क्लिष्ट – दुःख उत्पन्न करने वाली
- अक्लिष्ट – सुख उत्पन्न करने वाली
- प्रतिष्ठित – स्थित
- चित्त – मन, बुद्धि, अहंकार का सम्मिलित रूप
- प्रत्यक्ष – इन्द्रिय जनित ज्ञान
- विपर्यय – झूठा ज्ञान

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1 –(क)–द, (ख)–अ, (ग)–ब, (घ)–अ, (ङ)–द

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ –

1 – पतंजलि महर्षि (2008), पातंजल योग प्रदीप। गीताप्रेस गोरखपुर।

2 – नन्द लाल दशौरा (2006), पातंजल योग सूत्र। रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार।

3 – राजवीर शास्त्री (2005), पातंजल योग प्रदीप भाष्यम्। आर्श साहित्य प्रचार इस्ट, दिल्ली।

4 – निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।

5 – पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली

6 – योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न –

1 – चित्त वृत्ति से आप क्या समझते है ? इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए क्लिष्ट व अक्लिष्ट वृत्ति को विस्तार से समझाइये ।

2 – प्रमाण वृत्ति का सविस्तार वर्णन कीजिए ।

3 – विकल्प व विपर्यय वृत्तियों का वर्णन कीजिए ।

4 – निद्रा व स्मृति वृत्ति को विस्तार से समझाइये ।

इकाई – 4 – पंचक्लेश एवं क्रिया योग।

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 पंच क्लेश
4.4 पंच क्लेश के भेद

4.4.1 अविद्या
4.4.2 अस्मिता
4.4.3 राग
4.4.4 द्वेष
4.4.5 अभिनिवेश
4.5 क्रिया योग
4.6 क्रिया योग के साधन
4.6.1 तप
4.6.2 स्वाध्याय
4.6.3 ईश्वर प्रणिधान
4.6.4 क्रिया योग की महत्ता
4.7 सारांश
4.8 शब्दावली
4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना–

प्रिय विद्यार्थियों इससे पूर्व की इकाई में आपने चित्त, चित्त की अवस्थाएं व चित्त की वृत्तियों का अध्ययन किया। इन चित्त की वृत्तियों की निरोधावस्था ही योग है। जैसा कि महर्षि पतंजलि ने परिभाषित किया है। प्रस्तुत इकाई में अब आप पंचक्लेशों का अध्ययन करेंगे। पंचक्लेशों को क्षीर्ण करने के उपाय क्रियायोग का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

प्रिय पाठकों, महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन के साधन पाद मे पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन किया है ये पाँचों क्लेश ही मनुष्य को जगत के प्रपंचों के बन्धन रूपी विकारों में आबद्ध कर दुःखी करते रहते है। ये पाँच क्लेश पाँच बन्धनों के रूप में हमें इस संसार से बाँधे रखते हैं। क्लेश हमारे चित्त में पड़े संस्कार समूह हैं तथा यह विभिन्न मनुष्यों के मन में विभिन्न अवस्थाओं में रहते है। इन चित्त में पड़े संस्कार समूह को क्षीर्ण करने का साधन क्रियायोग, का वर्णन महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन के साधनपाद में किया है।

प्रिय विद्याथियों पाँच क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश है,तथा इनको क्षीर्ण करने तथा समाधि की सिद्धि के लिये क्रियायोग का अभ्यास आवश्यक है। अब आपको यह जिज्ञासा हो रही होगी कि ये पंच क्लेश क्या है? कैसे हमें दुःख देते हैं, तथा कैसे हम इन दुःखों (क्लेशों) से निवृत्ति क्रियायोग के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, तथा समाधि की सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

प्रस्तुत इकाई में आप क्लेशों का विस्तृत अध्ययन करेंगे तथा इनको क्षीर्ण (तनु) कर किस समाधि की सिद्धि की जा सकती है। इन सभी तथ्यों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

4.2 उद्‌देश्य –

प्रस्तुत इकाई के बाद आप –

- ❖ पंचक्लेशों को विस्तारपूर्वक समझा सकेंगे–।
- ❖ पंच क्लेशों की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण करने में सक्षम हो सकेंगे।
- ❖ क्लशों के मूल में क्या है? समझ सकेंगे।
- ❖ क्लेशों को क्षीर्ण करने के उपाय क्रियायोग का अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिये गये प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हो सकेंगे।

4.3 पंच क्लेश –

महर्षि पतंजलि कृत योगदर्शन के साधनपाद के तीसरे सूत्र में पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन किया गया है।

क्लेश का यदि शाब्दिक अर्थ करें तो क्लेश शब्द का अर्थ है – विपर्यय, मिथ्याज्ञान और वह अविद्या आदि भेद के कारण पाँच प्रकार का होता है। ये पाँचों क्लेश जीव मात्र के संसार चक्र में बार – बार आने के हेतु है, तथा महा दुःखदायी हैं। संसार के सभी दुःखों का कारण ये पंचक्लेश ही है। ये पाँचों बन्धन रूपी पीड़ा को उत्पन्न करते है। ये संस्कार समूह हमारे चित्त में वर्तमान में रहते हुये संस्कार रूप गुणों के परिणाम को परिपक्व अर्थात् दृढ़ करते हैं, इसलिये इन्हें क्लेश कहा गया है। संसार के समस्त दुःखों के मूल में ये मिथ्याज्ञान रूपी क्लेश ही है। मनुष्य जीवन भर अज्ञानता वश इन्हीं क्लेशों के कारण भटकता रहता है, तथा ऐसे कर्मो में लिप्त रहता है, जिससे फिर से इस संसार के जन्म – मरण के दुष्चक्र में फसता रहता है। यदि ये क्लेश रूपी (मिथ्याज्ञान) नष्ट हो जाये तो मनुष्य को आत्मज्ञान रूपी प्रकाश प्राप्त हो जायेगा। इन क्लेशों को क्षीण क्रियायोग से किया जा सकता है। इन सभी क्लेशों के मूल में अविद्या है, अविद्या के कारण ही मनुष्य के अन्य क्लेश भी जीवित रहते है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है– जिस प्रकार शरीर में ज्वर आने पर शरीर में अन्य रोग भी उत्पन्न होते हैं, जैसे सिरदर्द, बेचैनी, घबराहट, भूख ना लगना, शरीर में दर्द, अरूचि आदि, तथा जैसे ही ज्वर उतरता है। तब ये लक्षण स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार अविद्या के समाप्त होते ही इन क्लेशों की सत्ता भी समाप्त हो जाती है।

4.4 पंचक्लेशों के भेद –

महर्षि पतंजलि ने इन क्लेशों का वर्णन योगदर्शन में इस प्रकार किया है, इनके पाँच भेद बताये हैं, जो निम्न है–

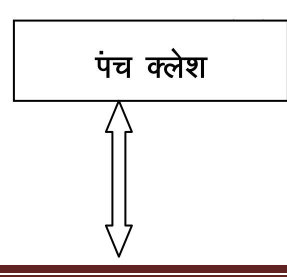

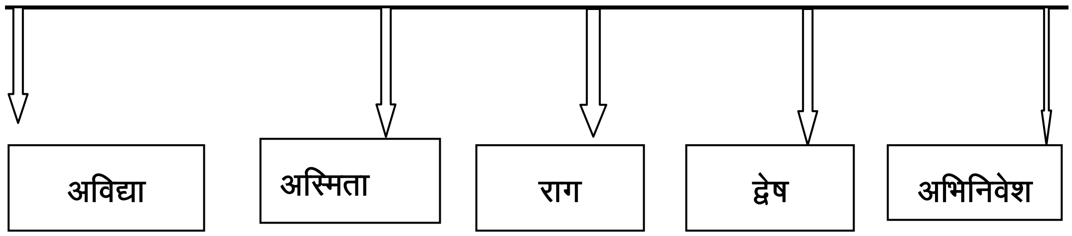

'अविद्याऽस्मितारागद्वेषभिनिवेशाःपञ्च क्लेशाः।' 2/3 पा0 यो0 सू0

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश है।

उपरोक्त वर्णित पाँचों क्लेश मनुष्य को जगत के प्रपंचों से बांध कर विकारों के रूप में पीड़ित करते रहते हैं। चित्त में स्थिर बने रहने के कारण संस्कार रूप गुणों के परिणाम को परिपक्व करते रहते है।

महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में वर्णन करते हुये कहा है कि मनुष्य को जाति, आयु, भोग एवं कर्मफल सभी इन क्लेशों के कारण होते हैं, क्योंकि पूर्व जन्म में जैसे हमारे कर्म होते है उन्ही के आधार पर अगले जन्म का निर्धारण होता है। ये क्लशों के कारण ही हमें दुःख भोगने पड़ते है। क्लेश मनुष्य के लिये दुःख के प्रदाता है। इन क्लेशों को अन्य नामों से भी जाना जाता है, यथा मिथ्याज्ञान, भ्रांतिज्ञान, अज्ञान, विपर्यय आदि।

योग भाष्यकार व्यास जी ने लिखा है–

'क्लेशः इति पन्च विपर्ययाः इत्यर्थः।'

अर्थात् क्लेश मिथ्याज्ञान ही है, और वह अविद्या आदि भेद से पाँच प्रकार के हैं।

सांख्य के अनुसार – सांख्य के अनुसार क्लेश को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है–

सांख्य में अविद्या को तम, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तामिस्र और अभिनिवेश को अन्ध तामिस्र कहा गया है।

प्रिय विद्यार्थियों ये अविद्या से उत्पन्न क्लेश प्राणियों के दुःखों के कारण होने से क्लेश कहलाते हैं। क्लेश वह विपरीत ज्ञान है, जो मनुष्य के कर्मो में सहायक होकर कर्म–विपाक त्र कर्मफलों अर्थात् जन्म, आयु और भोगों को प्रकट करते हैं, तथा विभिन्न अवस्थाओं में रहते हैं। इन क्लेशों की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार है –

- **क्लेशों की अवस्थाएं –**

महर्षि पतंजलि ने पाँच क्लेशों में अविद्या को इन क्लेशों की जननी कहा है। क्लेशों का मूल ही अविद्या है। अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश क्लेश की ही चार अवस्थाएं हैं। ये चारों अवस्थायें अविद्या की नहीं है। अविद्या सभी क्लेशों की उत्पत्ति का कारण हैं, तथा अविद्या का नाश होते ही सभी क्लेशों का अभाव हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने इन अवस्थाओं का वर्णन साधनपाद में इस प्रकार से किया है –

'अविद्या क्षेत्रमुत्त रेषां प्रसुप्त तुन विच्छिन्नो दाराणाम्।' 2/4 पा0 यो0 सू0

अर्थात् जो प्रसुप्त, तुन, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं में रहने वाले हैं एवं जिनका वर्णन अविद्या के बाद किया गया है उन अस्मिता आदि चारों क्लेशों का मूल कारण अविद्या ही है, अज्ञानता ही है।

अविद्या इन चारों क्लेशों (अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) के मूल में हैं। इन चार क्लेशों की ही चार अवस्थायें है। ये चारों अवस्थायें अविद्या की नहीं हैं, क्योंकि अविद्या के

कारण ही ये क्लेश है। अविद्या के अभाव में ये सभी क्लेशों का भी अभाव हो जाता है। इन चारों क्लेशों की चार अवस्थाओं का वर्णन निम्न है –

1.प्रसुप्त अवस्था – प्रसुप्त क्लेश वह क्लेश है जो चित्त में स्थिर रहकर भी अपना कार्य नहीं कर पाते हैं। ये क्लेश जब अपना कार्य नहीं कर पाते है, केवल चित्त में संस्कार रूप में सोये रहते हैं। वह अवस्था प्रसुप्तावस्था कहलाती है।

2.तनु अवस्था – जिन क्लेशों को साधना द्वारा शक्ति से रहित कर दिया जाता है, लकिन उनकी वासनाएँ बीज रूप में चित्त में निरन्तर विद्यमान रहती है। क्लेशों की यह अवस्था तनु अवस्था कहलाती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य कार्य करने में असमर्थ होकर शांत रहते है।

3.विछिन्न अवस्था – यह वह अवस्था है जिसमें एक क्लेश किसी दूसरे बलवान क्लेश से दबा हुआ रहता है। तब यह क्लेश की विछिन्न दशा होती है। जैसे राग (क्लेश) के उभरने पर क्रोध (द्वेष) दब जाता है और द्वेष (क्लेश) के उभरने पर राग दब जाता है। जो क्लेश उभरता है वह उसकी उदार दशा है और जो दब जाता है वह उसकी विछिन्न दशा होती है।

4.उदार अवस्था – उदार अवस्था वह अवस्था है जब क्लेश अपने सहयोगी विषय भोगों को पाकर अपना कार्य सुचारू रूप से कर रहे हो। अपने कार्य में पूर्ण रूपेण प्रवृत्त हो रहे हो।

उपर्युक्त पाँचों क्लेशों में से अस्मिता आदि चार क्लेशों के ही चार अवस्थाएं, भेद कहे गये हैं। अविद्या के कोई भी भेद अवस्थायें नहीं कही गयी है, क्योंकि अविद्या ही इन चारों क्लेशों का मूल है। अविद्या के समाप्त होते ही सभी क्लेश समाप्त हो जाते है।

4.4.1 अविद्या –

अविद्या सभी क्लेशों का मूल कारण है। अविद्या के यर्थाथ स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है–

'अनित्यषचिदुःखानात्मसु नित्यषुचि सुखात्मरव्यातिर विद्या। ' 2/5 पा0 यो0 सू0

अर्थात अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुख में सुख और आनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है।

इस सूत्र में अविद्या के स्वरूप का विवेचन किया गया है। अविद्या एक प्रकार का मिथ्याज्ञान है। विपर्यय ज्ञान है। अर्थात् जिसमें जो धर्म नहीं है, उसको उसमें मान लेना, यही अविद्या है। अविद्या के चार चरण इस प्रकार है –

1. **अनित्य में नित्य का ज्ञान** – यह संसार , शरीर, मन, इन्द्रियाँ आपसी रिश्ते, धन – दौलत मान सम्मान आदि अनित्य है। मनुष्य के लोक परलोक के भोग, भोगों की क्षमता रखने वाला यह शरीर भी विनाशी है। नाशवान है। इस बात को सभी जानते हुय भी राग व द्वेष आदि में घिरे रहते हैं। यह संसार, शरीर, मन, इन्द्रियाँ धन आदि सभी अनित्य है, सदा रहने वाले नहीं है। ये सभी इसी जीवन तक रहने वाले है, नित्य नहीं है, किन्तु फिर भी मनुष्य इसी अनित्य पदार्थो को ही नित्य समझता है। यही अविद्या है।
2. **अपवित्र को पवित्र की संज्ञा देना** – मनुष्य का यह शरीर हाड़, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि अपवित्र धातुओं का बना है। तथा मनुष्य अहंकार वश इस अपवित्र शरीर में पवित्रता का अहंकार करता है। तथा इस शरीर के प्रति व अपने पुत्र – स्त्री के शरीरों से प्रेम करता है। यही अपवित्रता में पवित्र बुद्धि ही अविद्या है।

3. **दुःख में सुख की अनुभूति होने का ज्ञान** – यह जगत् तथा इस जगत के सभी विषय दुःख देने वाले है। ऐसा मनुष्य मानता भी हैं। किन्तु फिर भी इन विषय – भोगों को सुख देने वाले समझकर उनको भोगने की ईच्छा रखता है। यही दुःख में सुख की अनुभूति का ज्ञान ही अविद्या है।
4. **अनात्मा में आत्मा की अनुभूति होना** – मनुष्य का शरीर मन सहित दस इन्द्रिया एवं चित्त जड़ माने जाते है, तथा आत्मा इनसे अलग है। पृथक् है। आत्मा इस शरीर से सर्वथा पृथक् है। आत्मा चेतन है। किन्तु मनुष्य को ऐसा ज्ञान होते हुये भी अविद्या के कारण इसी को अपना ही स्वरूप मान लेता है। आत्मा को इस देह से पृथक् अनुभव नहीं कर पाता है। इसी का नाम अनात्मा में आत्मभाव की अनुभूति होना कहते है, यही अविद्या है।

4.4.2 – अस्मिता –

'दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।' – 2/6 पा0 यो0 सू0

अर्थात् दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति का एकी भाव ही अस्मिता है। इस सूत्र में अस्मिता क्लेश के स्वरूप का वर्णन है। यहाँ आत्मा (पुरूष) को हक् शक्ति अर्थात देखने वाला दृष्टा कहा है, और दर्शन शक्ति को बुद्धि या चित्त कहा है। दृष्टा (पुरूष) और दर्शन शक्ति (बुद्धि, चित्त) ये दोनों एक दूसरे से विलक्षण एवं पृथक है। पुरूष चेतन है और चित्त या बुद्धि जड़ है। ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते है, किन्तु मनुष्य अविद्या के कारण ही इन दोनों को एक ही समझता है। आत्मा चेतन है और चित्त जड़ है। पुरूष त्रिगुण सत्, रज, तम से परे है, तथा चित्त तीनों गुणों से संयुक्त है। पुरूष स्वामी है जबकि चित्त सेवक है। पुरूष परिणाम से रहित है जबकि चित्त परिणाम से युक्त है। इस तरह आत्मा (पुरूष) व चित्त दोनों के अलग – अलग होते हुये भी मनुष्य को इनमें अविद्या के कारण भेद – ज्ञान प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार अविद्या के कारण भेद ज्ञान की प्रतीति ना हो पाने की स्थिति को अस्मिता क्लेश कहा गया है।

महर्षि व्यास के अनुसार –

'पुरूषो हकषक्ति बुद्धि–दर्शनषक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिताक्लेश उच्यते।'
व्यास भाष्य पा0 यो सू0 2/6

'पुरुष हक शक्ति अर्थात देखने जानने वाला और बुद्धि दर्शन शक्ति अर्थात दिखाने वाला है। इन दोनों की एक स्वरूपता ख्याति (दोनों पृथक–पृथक है फिर भी) अर्थात एकरूपता जैसी प्रतिति को ही अस्मिता क्लेश कहते है।'

इस अस्मिता क्लेश के कारण ही मन इन्द्रिय और शरीर में आत्म भाव अर्थात अहमत्व और ममत्व पैदा हो जाता है, तथा शरीर मन और इन्द्रियों को सुख पहुँचाने वाले विषयों और वस्तुओं में राग उत्पन्न हो जाता है।

4.4.3 राग –

मनुष्य ने संसार में जिन सुखों का अनुभव कर लिया है, मनुष्य को उस सुख अथवा सुख के साधनों में इच्छा व तृष्णा या लोभ का होना ही राग नाम क्लेश है। महर्षि पतंजलि ने राग का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया है –

सुखानुशयी रागः। 2/7 पा0 यो0 सू0

अर्थात सुखों के पश्चात रह जाने वाला संस्कार तथा सुखप्रद वस्तु में जो लगाव रूप भाव है, वही राग क्लेश है।

सुख भोगने के पश्चात चित्त में उसको भोगने की आकांक्ष हमेशा बनी रहती है। उसे ही राग कहा गया है।

महर्षि व्यास के अनुसार –

'सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति।'

व्यास भाष्य–पा0 यो0 सू0 2/7

अर्थात सुख को जानने वाले को उस (सुख) के अनुस्मरण पूर्वक उस (सुख) में या उसके साधनों को जो प्राप्त करने की इच्छा रूप तृष्णा या लोभ है, वही राग है।

आचार्य राजवीर शास्त्री – 'पुरूष संसार में जिन भोगों को भोगता है उनके इन्द्रियों के अनुकूल सुखात्मक भोगों को भोगने के बाद उनके संस्कारों की स्मृति बार – बार होती रहती है और ऐसी इच्छा बनी रहती है कि मैं उन भोगों को फिर से भोगू इस प्रकार लौंकिक सुखात्मक वस्तु को देखकर अथवा सुनकर उसके प्रति तृष्णा या उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है वही राग नाम क्लेश होता है।'

यही राग द्वेष का कारण होता है। क्योंकि चित्त में राग के संस्कार एकत्रित हो जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर इन्द्रियों और मन को दुःख प्रतीत हो अथवा सुख के साधनों में विघ्न डालने वाली वस्तुओं से द्वेष होने लगता है।

4.4.4 द्वेष –

चौथा क्लेश द्वेष है। यह वह द्वेष रूप संस्कार है, जो दुख के अनुभव के पश्चात दुख देने वाले साधनों के प्रति घृणा भाव से उत्पन्न होता है। जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है –

'दुःखानुषयी द्वेषः।' 2/8 पा0 यो0 सू0

अर्थात् दुःख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश ही द्वेष है।

महर्षि व्यास के अनुसार –

'दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिधोमन्युर्जिघांसा क्रोधः द्वेषः।'

व्यास भाष्य पा0 यो0 सू0 – 2/8

अर्थात दुख का अनुभव करने वाले मनुष्य का दुःख के अनुरूप स्मृतिपूर्वक दुःख या दुःख के साधनों में जो घृणा भाव उत्पन्न होता है या क्रोध उत्पन्न होता है, वह द्वेष है।

आचार्य श्री राम शर्मा जी – जब कभी किसी व्यक्ति को प्रतिकूल वस्तु या पदार्थ में दुःख का अनुभव होता है तब उसके कारणों या साधनों के प्रति घृणा हो जाती है, और क्रोध पैदा होता है। जब यह क्रोध उसके चित्त में प्रतिष्ठित हो जाता है, यही द्वेष कहलाता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – जिसमें हम दुःख पाते हैं, उसे तत्क्षण त्याग देने का प्रयत्न करते है।

स्वामी ओमानन्द तीर्थ – जिन वस्तुओं अथवा साधनों से दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा क्रोध हो, उसके जो संस्कार चित्त में पड़े, उसको द्वेष क्लेश कहते हे।

द्वेष क्लेश वह स्थिति है जब सुखात्मक भोगों में कोई बाधक बन रहा हो। तब उस व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक विरोधी भावना उत्पन्न होती है कि मैं उस प्रतिकूल वस्तु अथवा बॉधा से बच सकूँ। ऐसी प्रतिकूल भावना ही द्वेष नामक क्लेश है। यह क्लेश राग के विपरीत है। द्वेष क्लेश से चित्त अत्यधिक व्यथित हो जाता है तथा ऐसे अनिष्ट कार्यों में

प्रवृत्त हो जाता है, जिसका बाद में पछतावा होता है। अतः योगी को क्लेशों से बचने का सदा प्रयत्न करना चाहिये।

4.4.5 अभिनिवेश –

पाँचवा क्लेश अभिनिवेश है। महर्षि पतंजलि पांचवे क्लेश अभिनिवेश को इस प्रकार वर्णित करते हुये कहते है –

'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढ़ोऽभिनिवेशः।' पा0 यो0 सू0 2/9

अर्थात जो परम्परागतानुसार चला आ रहा है तथा जो मूढ़ों की भाँति ज्ञानी पुरूषों में भी आरूढ़ हुआ देखा जाता है। यह मृत्यु भय रूपी क्लेश अभिनिवेश है।

सृष्टि के नियमानुसार यदि देखा जाय तो मनुष्य इस संसार में जन्म लेगा तो उसकी मृत्यु भी निश्चित है, किन्तु मृत्यु को निश्चित जानकर सभी भयभीत होते है। जीने की इच्छा सभी की होती हैं मरना कोई भी नहीं चाहता है।

प्रिय पाठको, इस चराचर जगत में एक कीट पतंगे से लेकर विवेकशील पुरूषों में भी मृत्यु भय समान रूप से होता है। मनुष्य बचपन से ही इस भय से ग्रस्त रहता है। उसे अनेक कारणों से भय लगता है। जैसे – आग, पानी, जानवर, ऊँचे स्थान आदि। यह भय उसे मृत्यु का ही होता है। क्योंकि यह परम्परागत रूप से मनुष्य स्वभाव से चला आ रहा है किन्तु मृत्यु सभी की निश्चित है। चाहे वह विद्वान हो, मूर्ख हो, मूढ़ हो, विवेकी हो, सभी में मृत्यु का भय व्याप्त होता है। यह मृत्युभय ही ''अभिनिवेश'' है। जो एक क्लेश है। परन्तु जो ज्ञान द्वारा आत्मा के स्वरूप को पहचान लेता है वह इस मृत्युभय रूपी क्लेश से मुक्त हो जाता है क्योंकि आत्मा कभी नहीं मरती, वह तो अजर अमर है, फिर भय किसका ? क्योंकि मृत्यु तो वस्त्र परिवर्तन की भाँति है। जैसे पुराने वस्त्रों को त्यागकर हम नये वस्त्र धारण करते है उसी प्रकार आत्मा भी पुराने जीर्ण – क्षीर्ण शरीर को त्याग कर नया शरीर धारण करती है। जिसका वर्णन श्री कृष्ण ने श्रीमदभगवद्गीता में इस प्रकार किया है यथा

''वांसासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहाति नरोऽपराणि।
यथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।''

गीता 2/22

यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय और अविकारी है, अजर है, अमर है। अतः इस आत्मा को इस प्रकार जानकर मनुष्य को शोक नहीं करना चाहिये।

फिर भी मनुष्य को इन क्लेशों राग – द्वेष के कारण शरीर में आत्माध्यास हो जाता है। तथा मूढ़ से लेकर विवेकी पुरूष अज्ञान के कारण अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भूल कर इस नश्वर, नाशवान, भौतिक शरीर की रक्षा में लगे रहते है तथा उसके नाश से भयभीत होते है। इस मृत्यु के भय से जो भी संस्कार चित्त में पड़ते हैं, वहीं मृत्युरूपी भय अभिनिवेश क्लेश है।

व्यास भाष्य के अनुसार – महर्षि व्यास पातंजल योगसूत्र के व्यास भाष्य में कहते है कि सभी प्राणियों को नित्य यही आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहे। अर्थात हमारी कभी मृत्यु नहीं हो। यह ज्ञान पूर्व जन्म के अनुभव के कारण होता है। यही मृत्यु रूपी भय अभिनिवेश क्लेश है। जो कि विद्वान, मूर्ख तथा क्षुद्र जन्तुओं में भी बराबर दिखाई देता है।

आचार्य श्री राम शर्मा जी के अनुसार – यह करण भय रूपी क्लेश समस्त प्राणियों में अनादि काल से स्वाभाविक रूप से चला आ रहा है। अतः कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता

कि मेरी मृत्यु हो, सभी संसार में अपनी उपस्थिति चाहते है। एक लघु कीटक भी मृत्यु के भय से भयभीत होकर अपनी रक्षा का प्रयास करता है। यह मृत्यु रूपी भय मूढ़जनों की भांति विद्वानों को भी सताता है।

स्वामी हरिहरानन्द – वास्तव में 'मैं' अमर होने पर भी उसकी मृत्यु या नाश हो जायेगा। यह अज्ञान मूलक मरणभय ही प्रधान अभिनिवेश क्लेश है।

इस प्रकार ये पाँचों क्लेश मनुष्य को दुःख देते है। महर्षि पतंजलि ने इन क्लेशों को तनु (कम) करने के लिये क्रिया योग का वर्णन किया है। ये अविद्या आदि क्लेशों के संस्कार मनुष्य की चित्त भूमि में बीज रूप में अनादि काल से पड़े हुये है। उनको शिथिल (तनु) करने के लिये तथा चित्त को समाधि की प्राप्ति योग्य बनाने के लिये क्रिया योग आवश्यक है।

प्रिय पाठकों अब आप के मन में प्रश्न उठ रहे होंगे कि यह क्रिया योग है क्या? जिसके अभ्यास से इन दुख रूपी क्लेशों से निवृत्ति प्राप्त की जा सकती है।

आपकी इन्हीं जिज्ञासाओं का उत्तर आपको अगले सूत्रों में विस्तार से मिल सकेगा।

4.5 क्रियायोग –

महर्षि पतंजलि ने साधनपाद में समाहित चित्त वाले योग के उत्तम अधिकारियों के लिये योग साधना का मार्ग अभ्यास वैराग्य मार्ग बताया है तथा उन अधिकारियों के लिये जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग द्वेष आदि से कलुषित है। उनके लिये अभ्यास व वैराग्य की साधना कठिन होती है। मध्यम कोटी के साधकों का भी चित्त शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य का सम्पादन कर सके, इस प्रकार चित्त की एकाग्रता के लिये क्रियायोग का मार्ग बताया गया है।

महर्षि पतंजलि ने उत्तम कोटि के साधकों के लिये समाधि पाद की रचना की है। जिसमें उन्होंने अभ्यास वैराग्य की बात कही है। समाधिपाद में भावना प्रधान है क्रिया नहीं। साधनपाद में मध्यम कोटि के साधकों के लिये क्रिया योग बताया गया हे। इस क्रिया योग में क्रियात्मक पहलुओं का समावेश है। क्रियायोग के तीन साधन है – तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान। क्रिया योग में क्रियात्मक पहलुओं का समावेश होने के कारण ही क्रियायोग नाम पड़ा।

पंडित श्री राम शर्मा आचार्य जी के अनुसार – 'चित्त की निर्मलता के सहज उपक्रम को क्रियायोग कहा है।'

क्रियायोग का अर्थ है – कर्म के सहारे योग की ओर बढ़ना। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है , हमारी देह मानों एक रथ है, इन्द्रियां घोड़े है, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, आत्मा रथी है। गृहस्वामी आत्मा रथ में सवार है। यदि घोड़ों की गति बहुत तेज हो और लगाम खिंची ना रहे तो रथ की बड़ी दुर्दशा हो जायेगी पर यदि इन्द्रिय रूपी घोड़े अच्छी तरह से संयत रहे और मन रूपी लगाम बुद्धि रूपी सारथी के हाथों अच्छी तरह से थमी रहे तो रथ ठीक अपने गंतव्य तक पहुँच जाता है।

क्रिया योग अर्थात् योग या चित्त निरोध को लक्ष्य कर कर्म करना।

आचार्य उदयवीर शास्त्री – योग के अंतरंग साधनों का अनुष्ठान वे उत्तम अधिकारी कर पाते हैं, जिनका चित्त पहले से शुद्ध है, परन्तु जो अभी विक्षिप्त चित्त है। उन मध्यम अधिकारियों के लिये आवश्यक है कि वे प्रथम बहिरंग साधनों का अनुसंधान कर चित्त को

शुद्ध बनाये। जैसे – खेत में उपजे खरपतवार निकाल कर बीज बोने योग्य बनाया जाता है। उसी प्रकार साधन अपने मन को वश में कर लेता है।

पंडित श्री राम शर्मा आचार्य जी के अनुसार – समाधिपाद का लाभ स्वाभाविक सहज, शुद्ध अन्तःकरण सम्पन्न योगी ही ले सकते है। अतः साधनपाद में मध्यम कोटि के साधकों के लिये क्रमानुसार अन्तस की सहज निर्मलतापूर्वक निर्बीज समाधि प्राप्त करने के उपाय का प्रतिपादन किया है। क्रियायोग का वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है –

'तपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।' पा0 यो0 सू0 2/1

अर्थात्

तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

यह क्रियायोग मन व इन्द्रियों को वश में करने वाला व योग सिद्धि में सहायक है। क्रियायोग से क्लेश तनु हो जाते है। तथा समाधि की योग्यता आ जाती है। साधक की समाधि की अवस्था में ही सभी दुःखों की निवत्ति हो जाती है। तथा समस्त सुखों की प्राप्ति कर जीवन दिव्य गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। ये क्रियायोग के तीन साधन है। तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान इनका वर्णन इस प्रकार है –

4.6 क्रियायोग के साधन –

प्रिय विद्यार्थियो, यह क्रियायोग क्लेशों को क्षीण करने वाला तथा समाधि की योग्यता प्रदान करने वाला है। जीवन में दिव्य गुणों का समावेश करने वाला है।

महर्षि पतंजलि ने साधन पाद में क्रियायोग के तीन साधन बताये है – ये साधन निम्न है –

1. तप 2. स्वाध्याय 3. ईश्वर प्रणिधान

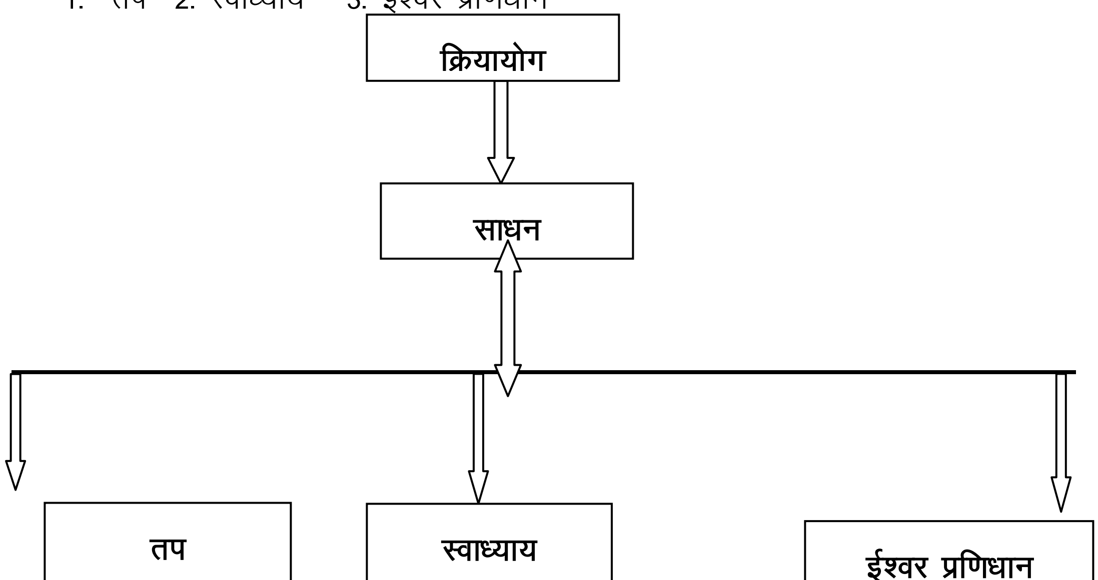

क्रियायोग – कर्म, भक्ति, ज्ञान की त्रिवेणी

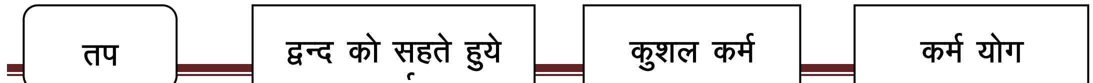

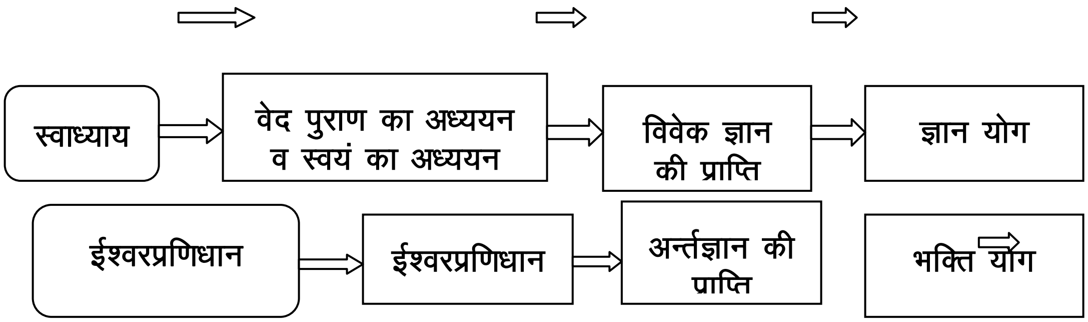

4.6.1 तप –

तप क्रियायोग का वह साधन है जिस साधन से साधक के जन्म जन्मान्तरों से संचित चित्त में जो अविद्यादि क्लेशों और वासनाओं के संस्कार है, उन संस्कारों से मुक्त हो चित्त पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। और चित्त निर्मल हो जाता है।

तप का तात्पर्य है तपाना, शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियों का उचित रीति व अभ्यास से वश में करना अथवा साधना मार्ग में चलते हुये जो भी शारीरिक व मानसिक कष्ट हों उन्हें सहर्ष सहन करना 'तप' है। इसे इस प्रकार सहजता से समझा जा सकता है– कि अपने लक्ष्य या ध्येय को प्राप्त करने के लिये मार्ग में आने वाली शारीरिक व मानसिक कष्टों (पीड़ा) या बाधओं को सहर्ष सहन करना ''तप'' है।

शास्त्रों में कहा भी गया है –

'तपो द्वन्द सहनम्।'

अर्थात् चाहे कितना ही कष्ट सहन करना पड़े फिर भी अपने धर्म (कर्तव्यकर्म) से न डिगना तप है।

महाभारत में वर्णन है –

'तपः स्वधर्म वर्तित्वम्।' म. भा. वन. 3/3/88

अर्थात् चाहे कितना भी कष्ट सहन करना पड़े फिर भी अपने धर्म (कर्तव्य कर्म) से न डिगना तप है।

चाणक्य सूत्र के अनुसार –

'तपः सार इन्द्रिय निग्रहः।' चाणक्यसूत्र 5/85

अर्थात् इन्द्रियों को अनुचित विषयों से रोकना ही तप है।

ओमोनन्द तीर्थ – जिस प्रकार अश्व विद्या में कुशल सारथी चचंल घोड़े को साधता है, उसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों एवं मन को उचित रीति और अभ्यास से वशीकार करने को तप कहते है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री – जो व्यक्ति तपस्वी नहीं है वह योगमार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। क्लेश और वासनाओं का शयन शशि तप प्रभाव से कम होती है। तप का आचरण मन, वाणी, शरीर तीनों से होना चाहिये।

शास्त्रों में तीन प्रकार के तप का वर्णन मिलता है। यथा कायिक तप, वाचिक तप एवं मानसिक तप।

इन तीनों कायिक वाचिक एवं मानसिक तप के द्वारा अन्तःकरण उसी प्रकार पवित्र हो जाता है। जिस प्रकार धातु को आग में तपाने पर उसकी अशुद्धियों का नाश होकर पूर्ण शुद्ध धातु प्राप्त हो जाती है।

क) कायिक तप – शारीरिक तप कायिक तप के अन्तर्गत आते है। शारीरिक तप के अन्तर्गत शारीरिक द्वन्दों को सहन करना, शरीर से शीत तथा उष्ण, भूख प्यास, सहन करना योगानुष्ठान का पालन करना, व्रत उपवास आदि शारीरिक तप है। शारीरिक तप से पापों का क्षय होता है।

ख) वाचिक तप – मन, वचन, कर्म से आचरण करना, प्रिय बोलना, शास्त्रों के अनुसार शुद्ध विचारों से युक्त प्रिय वाणी, बड़ों का सम्मान तथा छोटों को स्नेह, व्यर्थ का वार्तालाप न करना, किसी से भी हास्यास्पद या छलयुक्त वाणी का प्रयोग न करना, मौन व्रत का पालन करना, वाणी के तप कहे जाते है।

श्रीमद भगवद् गीता में कहा गया है कि वाणी के तप से साधक को अमोध शक्ति प्राप्त होती है।

ग) मानसिक तप – नकारात्मक विचारों को दैवीय गुणों से युक्त भावों या विचारों से नष्ट करते रहना ही मानसिक तप है। पवित्र श्रेष्ठ सद्विचारों को मन में धारण करना तथा हिंसात्मक व कठोर भावनाओं का त्याग करना ही मानसिक तप है। कामनाओं का त्यागकर इन्द्रियों को विषयों के वशीभूत ना करके, इन्द्रिय संयम कर उन्हें ईश्वरोन्मुख बनाना ही मानसिक तप है।

उपर्युक्त तीनों तप करने से तथा इच्छा कामना का त्याग करने से साधक का अन्तःकरण शुद्ध व पवित्र हो जाता है। यही तप ही श्रीमदभगवद्गीता में कर्म योग नाम से व्यक्त किया गया है।

4.6.2 स्वाध्याय –

क्रियायोग का दूसरा चरण स्वाध्याय है। स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है स्व. अध्याय। स्व पद के चार अर्थ है – आत्मा, आत्मीय, आत्म सम्बन्धी, जाति। अध्याय का अर्थ है – चिंतन, मनन या अध्ययन।

इस प्रकार स्वाध्याय का अर्थ है – आत्म विषयक चिंतन या मनन कराना या आत्म विषयक वेद, पुराण, उपनिषद, मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन करना तथा प्रणव आदि मंत्रों का जप करना।

स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है – स्वयं का अध्ययन करना तथा अपने जीवन का स्वयं समीक्षात्मक अध्ययन ही स्वाध्याय है। ऐसा ज्ञान अर्जित करना जिससे स्व कर्तव्य का बोध हो सके । ऐसे महापुरूषों का जीवन दर्शन व वेद पुराण उपनिषदों का अध्ययन करना, केवल अध्ययन ही नहीं करना वरन् उनका चिन्तन व मनन करना तथा शास्त्रोक्त बुरे कर्मो का त्याग कर ईश्वर के प्रति समर्पण भाव स्वाध्याय कहलाता है।

महर्षि व्यास के अनुसार –

'स्वाध्यायः प्रणव श्री रूद्रपुरूषसूक्तादिःमन्त्राणां जपःमोक्ष्य शास्त्राध्ययभ्य।'

योग भाष्य 2/1

अर्थात् प्रणव अर्थात ओंकार मंत्र का विधिपूर्वक जप करना रूद्रसूक्त तथा पुरूषसूक्त आदि वैदिक मंत्रों का अनुष्ठान कर जप करना तथा मोक्ष शास्त्रों का गुरूमुख से श्रवण करना या अध्ययन करना स्वाध्याय है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार –

1. आत्म विषयक चिन्तन मनन करना तथा वेद, उपनिषद आदि मोक्ष प्रदत्त शास्त्रों का अध्ययन करना । प्रणवमंत्रों का जप करना आदि स्वाध्याय है।
2. आत्मा का स्वरूप क्या है? कहाँ से आता है? कहा जाता है? इत्यादि विवेचन से जानकारी के लिये प्रयत्नशील रहना स्वाध्याय है।
3. बन्धु– बान्धव आदि की वास्तविकता को समझ कर मोहवश उधर आकृष्ट न होते हुये विरक्ति की भावना को जाग्रत करना स्वाध्याय है।
4. धन सम्पत्ति की ओर आकृष्ट ना होना तथा धन की नश्वरता को समझते हुये निर्वाह उपयोगी मात्रा में आस्था रखना स्वाध्याय है।

स्वामी विवेकानन्द – स्वाध्याय का पठन अध्ययन का तात्पर्य है उन ग्रन्थो का अध्ययन करना जो यह शिक्षा देते है कि आत्मा की मुक्ति कैसे होती है तथा स्वाध्याय अपनी धारणाओं को दृढ़ करने के लिये आवश्यक है तथा ज्ञान प्राप्ति का रहस्य है, सार भाग को ग्रहण करना यही स्वाध्याय है।

पं0 श्रीराम शर्मा जी के अनुसार – 'अच्छी पुस्तकें जीवन्त देव प्रतिमायें है। जिनकी आराधना से तत्काल प्रकाश और उल्लास मिलता है।'

पतंजलि योग सूत्र में स्वाध्याय के फलों का वर्णन किया है –

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।' इ पा0 यो0 सू0 2/44

अर्थात् स्वाध्याय से ईष्ट देवता का भली – भॉति साक्षात्कार हो जाता है।

अतः स्वाध्याय का अभिप्राय जीवन में उच्च विचारों के समावेश से है। स्वाध्याय से जीवन में ज्ञान का प्रकाश होता है तथा जीवन उच्च व दिव्य बनता हे। मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है।

4.6.3 ईश्वर प्रणिधान –

ईश्वर की शरण में स्वयं को समर्पित कर देना ही ईश्वर प्राणिधान है।

ईश्वर प्रणिधान का शाब्दिक अर्थ है – आत्मसमर्पण। अथवा ईश्वर प्रणिधान से तात्पर्य है – ईश्वर की भक्तिभावपूर्वक आत्मसर्मपण से है। मन, वचन, कर्म से उस परम् ब्रहम परमात्मा की भक्ति करना, ईश्वर का गुणानुवाद करना, उसी का चिन्तन करना, देह इन्द्रिया, अन्तःकरण, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त आदि व समस्त कर्मो व उनके फलों को ईश्वर को समर्पित कर देना, उसी ईश्वर से अनन्य प्रीति या भक्ति करना ये सभी ईश्वर प्राणिधान के अंग है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – ईश्वर में कर्म फल को अर्पित करना। अर्थात कर्म के लिये स्वंय कोई प्रशंसा या निन्दा ना लेकर इन दोनों को ईश्वर को समर्पित कर देना और शांति से रहना ईश्वर प्रणिधान है।

स्वामी ओमानन्द – ईश्वर प्रणिधान का सामान्य अर्थ ईश्वर की भक्ति विशेष शरीर और मन, इन्द्रिय, प्राण आदि सभी कारणो, उनसे होने वाले प्रत्येक कर्मो और उनके फलों अर्थात सारे वाहय और आभ्यन्तर जीवन को समर्पण कर देना है।

ईश्वरप्रणिधान को व्यास भाष्य में इस प्रकार परिभाषित किया है –

'ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।' व्या0 भा0 2/32

अर्थात उस परम गुरू परमेश्वर सभी कर्मो को अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है। अतः मन, वचन, कर्म से ईश्वर के प्रति समर्पण ही ईश्वर प्रणिधान है।

ईश्वरप्रणिधान का फल पातंजल योगसूत्र में इस प्रकार है –

'ईश्वरप्रणिधनाद्वा।' 1/23 पा0 यो0 सू0

अर्थात ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि शीघ्र हो जाती है। योगसूत्र में 2/45 में भी महर्षि पतंजलि ने ईश्वरप्रणिधान का फल बताया है –

'समाधिसिद्धिश्वरप्रणिधानात्।'

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है। अर्थात ईश्वर प्रणिधान से ईश्वरीय कृपा की प्राप्ति होती है तथा ईश्वरीय कृपा से योग के समस्त अनिष्ट दूर हो जाते है। योगी को शीघ्र ही समाधि की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

ईश्वर शरणागति (ईश्वर प्रणिधान) एक ऐसा भक्तिमय साधन है जो साधक के जीवन में भक्ति का प्रकाश करता है ज्ञान की प्राप्ति कराता है। भक्ति योग से ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा उस ज्ञान का प्राप्त कर कर्मो में कुशलता प्राप्त होती है। इस प्रकार तप (कर्मयोग) स्वाध्याय (ज्ञानयोग) ईश्वरप्रणिधान (भक्तियोग) महर्षि पतंजलि ने इन्हें अष्टांग योग के अन्तर्गत भी लिया है। तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ये नियम है। इन तीनों साधनों को सूत्रकार ने क्रियायोग कहा है। इन तीनों अंगों की विशेष महिमा है। यह क्रियायोग मन, वचन तथा कर्म से नियमित रूप से आचरण में उतारने का नाम है, क्योंकि क्लेशों को क्षीण करने के लिये ईश्वरीय कृपा प्राप्त कर ज्ञान की प्राप्ति कर (नित्य अनित्य का ज्ञान) कर्मो को कुशल बना कर ही किया जा सकता है तथा इन कर्म, भक्ति, ज्ञान द्वारा ही क्लेशों को उसी प्रकार जला देते है। साधक का चित्त अविद्या आदि क्लेशों के क्षीण हो जाने पर शुद्ध हो जाता है तथा शुद्ध चित्त में जो भी कर्म होते है, वह कुशल होते हैं, तथा इस प्रकार होते हैं जैसे छिलका रहित तन्दुल (धान चावल) को यदि उर्वर भूमि में भी डाला जाय तो वह प्ररोह (अंकुरण) में समर्थ नहीं होता है। उसी प्रकार क्रियायोग (कर्म भक्ति ज्ञान) द्वारा क्लेश भी क्षीण हो जाते है। मनुष्य को दुःख देने में समर्थ नहीं होते है। सभी क्लेश समाप्त हो जाते है तथा समाधि की सिद्धि होती है।

4.6.4 क्रियायोग की महत्ता –

महर्षि पतंजलि ने यद्यपि तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ये तीनों अंग ही अष्टांग योग में वर्णित किये है। इन तीनों की विशेष महत्ता होने के कारण जीवन में क्लेशों की निवृत्ति का साधन होने के कारण ही इनका विशेष वर्णन किया है।

प्रिय विद्यार्थियों यह क्रियायोग मनुष्य के क्लेशों को क्षीण कर समाधि की सिद्धि देने वाला है। जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने क्रियायोग के दो फल बताकर इस प्रकार किया है –

'समाधि भावनार्थ क्लेश तनु करणार्थश्च।' पा0 यो0 सू0 2/2

अर्थात निश्चय ही यह क्रिया योग समाधि की सिद्धि देने वाला तथा अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।

विभिन्न आचार्यो तथा विद्वानों ने क्रियायोग की महत्ता का वर्णन इस प्रकार किया है –

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – संयम के अभाव में ही योग के सारे विघ्न उपस्थित होते है और उनसे फिर क्लेश की उत्पत्ति होती है। उन्हें दूर करने का उपाय है। क्रियायोग द्वारा मन को वशीभूत कर लेना, उसे अपना कार्य करने न देना।

आचार्य उदयवीर शास्त्री– समाधि भावना को दृढ़ करना व जाग्रत करना क्रियायोग का पहला प्रयोजन है।

पंडित श्री राम शर्मा जी – निश्चय ही यह क्रियायोग अन्तः करण, चित्त आदि को विकारों आदि से शिथिल कर क्षीण करके समाधि की प्राप्ति में सहयोगी होता है। तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग के द्वारा कायिक, मानसिक तथा वाचिक क्लेशादि विकारों का शमन होता है।

क्रियायोग में तप (कर्म) स्वाध्याय (ज्ञान) ईश्वर प्रणिधान (भक्ति) का सुन्दर समन्वय मनुष्य के जीवन को उच्च व दिव्य बनाता है। यही कर्म भक्तिज्ञान के सुन्दर समन्वय को महर्षि पतंजलि ने क्रियायोग कहा है। यह क्रियायोग अविद्या आदि क्लेश, जिनके संस्कार बीज रूप में चित्त भूमि में जन्म जन्मान्तरों से पड़े हुये है। उन संस्कारों को क्षीण करने और चित्त को समाधि की प्राप्ति की योग्यता प्रदान करने हेतु किया जाता है।

तप जिसे कर्मयोग कहा जा सकता हे। उसी तप से शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन की अशुद्धि दूर होती है तथा वे शुद्ध होकर क्लेशों को दूर करने और समाधि प्राप्ति में सहायक होते हे।

स्वाध्याय जिसे ज्ञान योग कहा जा सकता हैं। इस ज्ञान योग से, स्वाध्याय से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और चित्त के ऊपर विक्षेपों का आवरण हट जाता है तथा चित्त शुद्ध होकर समाहित होने योग्य हो जाता है।

ईश्वर प्रणिधान जिसे भक्तियोग कहा जा सकता है। उस ईश्वर प्रणिधान से शीघ्र ही समाधि की सिद्धि होती है और क्लेशों की निवृत्ति होती है। महर्षि पतंजलि ने इसका वर्णन योगसूत्र में 1/20 में किया है कि ईश्वर प्रणिधान के द्वारा श्रृद्धा पूर्वक समाधि की शीघ्र सिद्धि मिलती है, बिना श्रद्धा के समाधि सिद्ध नहीं हो सकती है।

गीता में 4/39 में कहा गया है – 'श्रद्धावां लभते ज्ञानम्।'

अर्थात् श्रद्धावान मनुष्य को ही ज्ञान प्राप्त होता है।

अतः क्रियायोग द्वारा क्लेशों को तनु करना चाहिये। क्लेशो ंके तनु होने पर अभ्यास वैराग्य का मार्ग प्रशस्त होता है। अभ्यास वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था विवेक ख्याति से सूक्ष्म किये क्लेशों के संस्कार रूप बीज दग्ध हो जाते है। क्लेशरूपी बीजों के दग्ध होने पर ही पर वैराग्य की प्राप्ति होती है। पर वैराग्य के संस्कारों की वृद्धि से विवेक ख्याति अधिकार समाप्त होता है, और असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त हो जाता है।

4.7 सारांश –

महर्षि पतंजलि ने साधनपाद में मध्यम कोटि के साधकों को क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को तनु व समाधि की सिद्धि होती है। पंच क्लेश पाँच प्रकार के क्लेश जिनके संस्कार बीज रूप से चित्त भूमि में जन्म जन्मान्तरों से पड़े हुये है। उनको तनु करने के लिये और चित्त को समाधि की प्राप्ति के योग्य बनाने हेतु क्रियायोग की साधना की जाती है। क्रियायोग के तीन साधन तप, स्वाध्याय , ईश्वर प्रणिधान है। तप से शरीर व इन्द्रियों की अशुद्धि दूर होने पर ये समाधि की सिद्धि में सहायक है। स्वाध्याय से अन्तःकरण शुद्ध होता है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि शीघ्र होती है।

महर्षि पतंजलि ने कर्म भक्ति ज्ञान का सुन्दर समन्वय इस क्रिया योग में किया है। ईश्वर प्रणिधान जो कि भक्तियोग है, भक्ति के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान (ज्ञान योग) की प्राप्ति है, और इस ज्ञान द्वारा हमारे कर्म स्वयं ही कुशल हो जाते है, क्योंकि ज्ञान द्वारा

सही गलत का ज्ञान, विवेक ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस कर्म भक्ति ज्ञान का समन्वय क्रियायोग हमारे क्लेशों को कम कर जीवन में दिव्यता लाता है, तथा समाधि में सहायक है।

4.8 शब्दावली

अनात्मा – जो आत्मा नहीं है
अविद्या – अज्ञान
अस्मिता – मैं का भाव
राग – सुख के प्रति अस्मिता
द्वेष – दुःख के प्रति घृणा का भाव
अभिनिवेश – मृत्यु का भय
सुप्तावस्था – सोई हुई अवस्था
अनित्य – जो हमेशा रहने वाला नहीं है
नित्य – जो हमेशा रहेगा
दृष्टा – देखने वाला
मोक्ष – मुक्ति

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क) द
ख) अ
ग) ब
घ) द
ड़) अ

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ –

1. तीर्थ ओमानन्द, पातंजल योग प्रदीप (1999) गीता प्रेस गोरखपुर।
2. सरस्वती विज्ञानानन्द, योग विज्ञान (2007) योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति ऋषिकेश।
3. दशौरा नन्दलाल, पातंजल योगसूत्र (2006) रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार
4. शास्त्री राजवीर, पातंजल योगदर्शन भाष्यम् (2005) आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।
5. त्रिपादी सूर्यकान्त, राजयोग (2011) रामकृष्ण मठ, नागपुर।
6. शर्मा श्री राम, सांख्य एवं योगदर्शन (संवत् 2057) वेदमाता गायत्री ट्रस्ट वेद विभाग शास्त्री कुंज हरिद्वार।

4.11 निबंधात्मक प्रश्न –

1. पंचक्लेशों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. क्लेशों की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
3. क्रियायोग का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. क्लेशों को तनु करने का उपाय क्रियायोग है, स्पष्ट कीजिए।
5. टिप्पणी – (अ) अविद्या

(ब) ईश्वर प्रणिधान

`

इकाई 5 योगान्तराय एवं चित्त प्रसादन

5.1 – प्रस्तावना
5.2 – उद्देश्य
5.3 – योगान्तराय (चित्त विक्षेप)

- व्याधि
- स्त्यान
- संशय
- प्रमाद
- आलस्य
- अविरति
- भ्रन्तिदर्शन
- अलब्ध भूमिकत्व
- अनवस्थित्व

5.4 – विक्षेप सहभुवः
5.5 – चित्त प्रसादन क्या है ?
5.5.1 – चित्त प्रसादन के उपाय
5.6 – सारॉश
5.7 – शब्दावली
5.8 – अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 – सन्दर्भ ग्रन्थ
5.10 – निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना –

प्रिय विद्यार्थियों इससे पूर्व की इकाई में आपने पंचक्लेश और क्रियायोग का अध्ययन किया। पंच क्लेश जो कि मनुष्य के चित्त के जन्म जन्मान्तरो के संस्कार समूह हैं, जो

मनुष्य को दुःख देते है, क्लेश कहलाते है। इन क्लेशों को दूर करने के लिये महर्षि पतंजलि ने क्रिया योग की साधना बताई है। प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन में साधको की श्रेणी के अनुसार साधन पद्धतियॉ बताई है। क्रियायोग मध्यम कोटि के साधको के लिए बताई गयी साधन पद्धति है। प्रिय विद्याार्थियों महर्षि पतंजलि ने योग के जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधना पद्धतियॉ बताई है। योग को परिभाषित करते हुए कहा है –

"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।' 1/2 पा0 यो0 सू0

अर्थात चित्त की वृत्तियों का सर्वथा अभाव ही योग है। यह योग एक साधना है, ब्रहम ज्ञान है। यही योग को जीवन में अपनाने के लिए उन्होने साधको की श्रेणी के अनुसार साधना पद्धतियॉ व अनुष्ठान का मार्ग बताया है। कोई भी साधक इन साधना पद्धतियों में से कोई भी साधना पद्धति को अपनाए, लक्ष्य तक अवश्य पहुॅच जाता है। परन्तु प्रिय विद्यार्थियों इन साधना पथ पर अनेक विघ्न बाधा उपस्थित होते है। जिससे कि योग साधना में बाधा उत्पन्न होती है। प्रस्तुत इकाई में आप इन्हीं बाधक तत्वो का अध्ययन करेगे, जिन्हे योग अन्तराय भी कहा जाता है। यह योग साधना के विघ्न है, विक्षेप है, योगान्तराय है। योगान्तराय साधक के चित्त में असन्तुलन उत्पन्न करते है। इन योगान्तराय के साथ – साथ इनके साथ चलने वाले पॉच अन्य विक्षेप सहभुवः है, जिनका अध्ययन आप करेंगे। साथ ही प्रिय विद्याार्थियों प्रस्तुत इकाई में आप योगान्तराय (चित्त विक्षेप, विक्षेप सहभुवः) के साथ –साथ चित्त प्रसादन क्या है? चित्त प्रसादन स्थिर रखने के उपाय क्या है? तथा ये योगान्तराय हमारे चित्त को असन्तुलित करते है, इन विघ्नो से व्यथित ना होकर तथा और दुगने साहस के साथ साधना करनी चाहिए। इन विघ्नों का सामना कर हम मजबूत होते है, तथा अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ संकल्प ले कर साधना करनी चाहिए। इस तरह जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। कैवल्य की प्राप्ति की जा सकती है।

5.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई में आप –

- योगान्तराय व विक्षेप सहभूवः का अध्ययन कर सकेंगे।
- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद क्या है ? इनका अध्ययन करेंगे।
- आप आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन को समझ सकेंगे।
- अलब्ध भूमिकत्व व अनवस्थित में क्या अन्तर है? समझ सकेंगे।
- विक्षेप सहभूवः के अन्तर्गत तीनो प्रकार के दुःखों व दौर्मन्य को समझ सकेंगे।
- अंगमेजयत्व व श्वास–प्रश्वास किस प्रकार चित्त के विक्षेप सहभुवः है? समझ सकेगे।
- आप चित्त प्रसादन का विस्तृत अध्ययन करेंगे। व चित्त प्रसादन के उपायो को समझ सकेंगे।

5.3 योगान्तराय (चित्त विक्षेप) –

चित्त के विक्षेपो को ही योगान्तराय कहते है। साधना की समस्त बाधाओ को चित्त विक्षेप, योगान्तराय, विघ्न कहते है। ये चित्त को विक्षिप्त करके उसकी एकाग्रता नष्ट करते है। ये योग साधना में विध्न उत्पन्न करते है। जिससे विघ्नो से व्यथित होकर साधक अपनी साधना बीच में ही छोड़ देता है। ये योग साधना में अन्तराय उत्पन्न करते है, इसलिए इन्हें योगान्तराय कहते है।

'योगस्य अन्तः मध्ये आयान्ति ते अन्तरायाः।'

ये योग के मध्य में आते हैं, इसलिए इन्हें योगान्तराय कहा जाता है। ये विघ्न योग के साधक के मार्ग में प्रबल बाधक बनते है। इसलिए इन्हें योग के बाधक तत्व भी कहा जाता है। ये विघ्न एक साथ ही आए ऐसा नही होता है। वरन योग साधक के मार्ग में विभिन्न स्तरो में ये विघ्न आते है। अतः योग साधक को इन विघ्नो से बचने का प्रयास सदैव करना चाहिए। क्योंकि कोई भी कार्य करने में या श्रेष्ठ कार्य करने में विघ्न अवश्य आते है। जैसा कि कहा भी गया है – ''श्रेयांसि बहुविघ्नानि।'' कि श्रेष्ठ कार्यो में विघ्न आया ही करते है। प्रिय विद्यार्थियो इन विघ्नो से व्यथित होकर साधना को बीच में ही नहीं छोड़ना चाहिए। एक योग साधक को इन विघ्नो को सहन करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। अपने संकल्पो की पूर्णता के लिए इन विघ्नो से व्यथित नही होना चाहिए। अपने पथ पर निर्भिकता से चलना चाहिए। इन विघ्नो के शमन के लिए महर्षि पतंजलि ने उस ईश्वर की कृपा का वर्णन किया है कि इन विघ्नो के शमन के लिए उस एकतत्व का अभ्यास करना चाहिए। जिस पर ईश्वर की अनुकम्पा होगी, उसे यह विघ्न नहीं सताते।

प्रिय विद्यार्थियों आइये जाने ये विघ्न या अन्तराय है क्या। ये विध्न या अन्तराय नौ है – व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थित। ये नौ विघ्न ही चित्त को विक्षेपित करते है, तथा इन्ही नौ अन्तराय के साथ–साथ चलने वाले पॉच विक्षेप सहभुवः है, जो योग साधना में बाधक है।

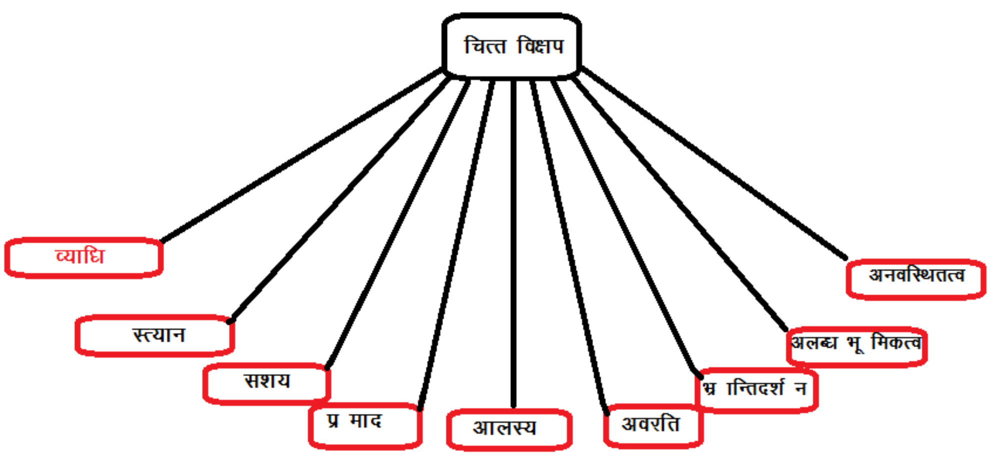

इस प्रकार चित्त के विक्षेप या अन्तराय नौ है। जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद में इस प्रकार किया है, जो निम्न है –
'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वनवस्थितत्वानि
चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया।'

1/30 पा0 यो0 सू0

- **व्याधि –**

योग भाष्य में वर्णन है –व्याधिर्धातुरसकरण वैषम्यम्।'' अर्थात धातु, रस, करण इन तीनो की विषमता ही व्याधि है। अर्थात् आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त व कफ तीन दोष है। हमारे गलत आहार विहार के कारण ये तीनों दोषो में किसी एक की वृद्धि या क्षय हो जाता है अर्थात इनमें विषमता आ जाती है। विषमता के कारण ही ये दूषित होते हैं। इसलिए ये दोष कहलाते है। ये दोष ही कुपित होने पर धातुओ में (रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र) विषमता उत्पन्न करते है। जिसे धातु वैषम्य कहते है। ये त्रिदोषों की विषमता, धातुओ की विषमता ही रोग है। जो योग में विघ्न है, अन्तराय है। इस वैषम्य विपरित आहार करने से आहार का परिपाक नही हो पाता है। जिसे रस वैषम्य कहते है। यही शरीर में रोगों का कारण है। गलत आहार विहार से इन्द्रियो (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय) की शक्ति मन्द हो जाती है। जिसे करण वैषम्य कहते है। इस प्रकार धातु वैषम्य, रस वैषम्य एवं करण वैषम्य, इन तीनो की विषमता ही व्याधि है। क्योकि रोगी शरीर में साधना नही की जा सकती हैं, तथा चारो पुरूषार्थों की पूर्ति भी वही कर सकता है, जो आरोग्य का सुख लाभ ले रहा हो, जो निरोग हो। उसी प्रकार योग साधना का लाभ भी वही ले सकता है, जो व्याधियो से मुक्त हो, अतः व्याधि योग साधना में अन्तराय है।

- **स्त्यान –**

चित्त की अकर्मण्यता ही स्त्यान है। व्यास भाष्य के अनुसार – 'स्त्यानमर्कण्यता चितस्य।' अर्थात् चित्त की अकर्मण्यता ही स्त्यान है। स्त्यान के कारण ही शरीर में भारीपन बना रहता है। जिसके रहते सत्कार्यो के प्रति प्रीति नही रहती है, यही स्त्यान है। हमारे चित्त में पूर्व जन्म के संस्कार एकत्रित रहते है, जिसके कारण चित्त सांसारिक विषय भोगो में लिप्त रहता है। जिससे कि योगानुष्ठान की इच्छा होने पर भी वह सामर्थ्य नही होती कि योगानुष्ठान कर सके, अकर्मण्यता का अनुभव होता है। यही अकर्मण्यता समाधि में बाधक है। इस प्रकार स्त्यान एक अन्तराय व बाधक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

- **संशय –**

योग विद्या की वस्तुस्थिति पर अविश्वास तथा अपने द्वारा किए गये प्रयत्न की सफलता पर संदेह करना संशय कहलाता है। व्यास भाष्य के अनुसार – 'संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति।' अर्थात् ऐसा ज्ञान जो उभयकोटिस्पक्, दोनो किनारो को छूने वाला दो विरूद्ध मार्गो को जाने वाला अर्थात् द्विविधा (संशय) उत्पन्न करने वाला है, यह भी हो सकता है, और वह भी हो सकता है, इस प्रकार का ज्ञान संशय है। योग साधना में सफलता निरन्तर तथा दीर्घकाल तक अभ्यास के पश्चात प्राप्त होती है। साधक लम्बे समय तक, निरन्तर सेवा पूर्वक श्रद्धा पूर्वक जब साधना करता है, तब ही उसे सफलता मिलती है। परन्तु फल प्राप्ति से पूर्व ही मन में संदेह हो जाए कि मैं योग साधना कर सकूँगा या नही या मुझे इसमें सफलता मिलेगी कि नही, समाधि की प्राप्ति होगी कि नही। यही सन्देह

चित्त को असन्तुलित कर देता है, चित्त विक्षिप्त होता है। जिससे साधना में विघ्न उत्पन्न होते है। अतः योग साधना में संशय एक बहुत बड़ा विघ्न है, अन्तराय है।

- **प्रमाद –**

चौथा अन्तराय प्रमाद है। प्रमाद एक ऐसी मन की अवस्था है, जिसमें मन में उत्साह न होने के कारण योगानुष्ठान के कार्यो में प्रवृत्ति नही होती है। क्योकि योगानुष्ठान के लिए उत्साह और निरन्तरता का होना आवश्यक है। जिसे कि योग साधना में साधक तत्व के रूप में लिया गया है। व्यास भाष्य के अनुसार – 'प्रमादः समाधिसाध्नानामभावनम्।' अर्थात समाधि के साधनो को ना करना प्रमाद विघ्न या अन्तराय है। मन में उत्साह न होने के कारण ही लापरवाही पूर्वक योगसाधना करना तथा उसे अधूरा ही छोड़ देना और वह छूट भी गया तो चिन्ता न करना प्रमाद है। यह प्रमाद योग साधना में बाधा उत्पन्न करता है। अतः प्रमाद योग साधना में अन्तराय है।

- **आलस्य –**

शरीर और चित्त के तमोगुण के प्रभाव के कारण जो शरीर और मन में भारीपन होता है। चित्त व शरीर में भारीपन होने से योग साधना में या समाधि के साधनो में प्रवृत्ति नही होती यही आलस्य विघ्न है। 'आलस्य कायस्य चितस्य च गुरूत्वादप्रवृत्तिः।' – व्यास भाष्य। अर्थात शरीर और चित्त के तम प्रधान होने पर योग साधना में प्रवृत ना होना ही आलस्य विघ्न है। गलत आहार विहार से शरीर और चित्त में भारीपन हो जाता है। यह योग साधना में बाधा उत्पन्न करता है, तथा योग साधना में बहुत बड़ा अन्तराय है।

- **अविरति –**

विरक्ति का अभाव ही अविरति है। विरक्ति या वैराग्य ही समाधि के लिए प्रमुख साधन है, और इस वैराग्य का अभाव ही योग साधना में अन्तराय है। प्रायः अविवेक के कारण ही मनुष्य इस जागतिक विषय भोगों के आकर्षण से घिर कर इन विषयों (रूप, रस,गन्ध, स्पर्श) में ही आसक्त रहता है। इन विषयों के प्रति आसक्ति उसके पूर्व जन्मों के संस्कारो के कारण बनी रहती है। इन विषयों के प्रति आसक्ति ही अविरति है। महर्षि व्यास ने अविरति का वर्णन इस प्रकार किया है – 'अविरतिचित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः।' अर्थात् चित्त के विषयो (रस, रूप आदि) की सम्प्रयोग रूप जो इच्छा है वह अविरति है। अर्थात् विरक्ति का अभाव अविरति योग साधना में एक विघ्न है। जब तक विषयो के प्रति आसक्ति रहेगी तब तक चित्त की वृत्तियो का निरोध सम्भव नही है। इस प्रकार योग साधना के लिए अविरति एक महान अन्तराय है।

- **भ्रन्तिदर्शन –**

योग साधना का सातवॉ अन्तराय या विघ्न भ्रान्तिदर्शन है। 'भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्।' अर्थात् मिथ्याज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते है। मिथ्याज्ञान एक क्लिष्ट वृत्ति है, विपर्यय है। विपर्यय अर्थात् किसी एक वस्तु को देख कर या सुन कर उस वस्तु को, उस वस्तु से भिन्न समझ लेना जैसे – रस्सी को सॉप समझ लेना या मरूस्थल में जल की भ्रान्ति हो जाना। इसी प्रकार साधक योग के साधनो को असाधन समझ कर उनकी अवहेलना करता है। मिथ्या ज्ञान के कारण ही गुरू के द्वारा तथा शास्त्रों में कही हुई बातो पर अविश्वास होने लगता है, तथा योग साधना के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती है। जिससे योग साधना में विघ्न होता है। योग साधना के लिए यह अन्तराय सबसे प्रबल शत्रु है।

- **अलब्ध भूमिकत्व –**

योग साधना का आठवॉ अन्तराय है, अलब्ध भूमिकत्व। योग व्यास भाष्य में कहा गया है – 'अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः।' अर्थात समाधि की किसी भी भूमि की प्राप्ति न होना योग साधना में विघ्न है। योग साधना करते – करते समाधि की प्राप्ति होने पर उसकी अन्य भूमियो की प्राप्ति न कर पाना ही अलब्ध भूमिकत्व है। साधना को जब समाधि की प्रथम भूमि प्राप्त हो जाती है, तब उसके उत्साह में वृद्धि होने लगती है। इसी कारण वह सोचता है कि एक भूमि प्राप्त होने पर अन्य भूमि भी उसी तरह सहजता से प्राप्त हो जायेगी, जैसे प्रथम भूमि प्राप्त हुयी है। परन्तु किसी कारण वश उसकी प्राप्ति ना होना अलब्ध भूमिकत्व कहा गया है।

- **अनवस्थित्व –**

नवा विघ्न या अन्तराय अस्थिरता है। अस्थिरता के कारण अपने लक्ष्य तक नही पहुॅच पाता है। समाधि भूमि प्राप्त हो जाने पर भी उसमें चित्त का न ठहरना अर्थात ध्येय का साक्षात्कार होने से पूर्व ही समाधि का छूट जाना ही अनवस्थितत्व है। योग भाष्यानुसार –

''अनवस्थितत्वं यललब्धायां भूमौचितस्याप्रतिष्ठा।
समाधिप्रतिलाम्भे हि सति तदवस्थितं स्यदिति।।''

अर्थात समाधि की प्राप्ति की भूमि पर चित्त का न लगना क्योकि समाधि की सिद्धि होने पर तो चित्त अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। परन्तु अनवस्थितत्व की स्थिति में साधक अपनी सफलता को देखकर अपने कर्त्तव्य कर्मो को पूर्ण समझ कर साधना बीच में ही छोड़ बैठते हैं। जिस कारण पूर्ण सफलता प्राप्त होने पर ही चित्त योग साधना में नही लगता चित्त का योग साधना में ना लगना एक बड़ा विघ्न है। इसलिए महर्षि पतंजलि ने साधक के लिए पूर्व में ही योग दर्शन (1/14) में निर्देश दिये है कि योग साधना के लिये निरन्तर, दीर्घकाल तक सेवापूर्वक, श्रद्धापूर्वक करनी चाहिए। जिससे कि साधक अपने लक्ष्य समाधि की सिद्धि, कैवल्य प्राप्त कर सके। इस प्रकार प्रिय पाठको महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित योग के नौ अन्तराय है। इन्हे अन्तराय या विघ्न या विक्षेप कहा जाता हैं। इन नौ विक्षेपो, अन्तरायो या विघ्नो के साथ – साथ होने वाले पॉच उपविघ्न भी है। जिन्हे इनके साथ – साथ चलने के कारण विक्षेप सहभुवः या उपविघ्न या अन्तराय भी कहा जाता है।

प्रिय विद्यार्थियों अब आप उन पॉच चित्त के विक्षेपो या अन्तराय के साथ होने वाले उपविघ्नो का अध्ययन करेंगे जो हमारे चित्त को विक्षिप्त करते है, तथा योग साधना में बाधा उत्पन्न करते है।

5.4 विक्षेप सहभुवः –

(उपविघ्न) – प्रिय विद्यार्थियो महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योग दर्शन में चित्त को परिभाषित किया गया है। चित्त की शुद्धि के उपाय बताये गये है। महर्षि ने जीवन के वे सूत्र दिये है, जो हमारे जीवन का परिमार्जन, परिष्कार करते है। योग साधना पथ में निरन्तर आगे बड़ते रहने के सूत्र दिए है, तथा इन विघ्नो, अन्तरायो का वर्णन कर उनसे व्यथित ना होने का सन्देश दिया है। ईश्वरीय अनुभूति या साधना के मार्ग में विघ्नों से व्यथित ही प्रमाद करने वाले साधको को चेतावनी देते हुए महर्षि कहते है, इन विघ्नो की इति श्री यही तक नही है। साथ – साथ पॉच और अन्य भी है, जिन्हे विक्षेप सहभुवः कहते है।

प्रिय पाठको महर्षि शायद यह बताना चाहते है कि साधना के मार्ग में अन्दर से ईश्वरीय अनुभूति (कृपा) का सहारा तथा बाहर से विघ्नो, अन्तराय की, उपविघ्नो की चोट पड़ती है। तभी हम मजबूत दृढ़ संकल्प से लक्ष्य की ओर चल पड़ते है। यही बात **कबीर** ने भी कही थी। ''**अन्तर हाथ सहाय दे बाहर वाहें चोट।**'' योग साधना वह ब्रहम विद्या है, जिसमें हम एक कदम बढ़ाते है तो उस ईश्वरीय सत्ता के निकट पाते है। वह ईश्वर जो गुरूओ का भी गुरू है। वह ईश्वर ही हमें मजबूत करने के लिए अन्दर से हमे अपनी कृपा देकर सहारा देता है, तथा बाहर से विघ्नो की चोट देकर मजबूत बनाता है। क्योकि बिना मजबूती (दृढ़ इच्छा शक्ति) के हम कोई भी साधना नही कर सकते है। तो आइये पाठको हम अध्ययन करें कि किन – किन उपविघ्नो का सामना कर दृढ़ इच्छा शक्ति प्राप्त कर अपने लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति की जा सकती है। ये उपविघ्न निम्न है, जिनका वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है –

'दुखदौर्मनस्याड.गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।'

– पा0 यो0 सू0 1/31

अर्थात् दुःख, दौर्मनस्य (मन का क्षोभ), अंगमेजयत्व (अंगो का कॉपना), श्वास, प्रश्वास ये पॉच विक्षेपो के साथ – साथ होने वाले विघ्न है। आइये इन उपविघ्नो का विस्तृत अध्ययन करें

- **दुःख –**

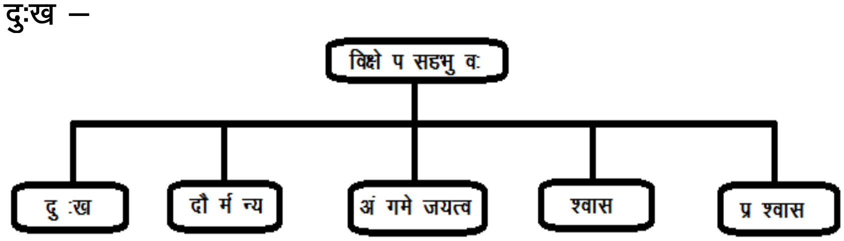

इस संसार में दुःख ही दुःख है। परन्तु शास्त्रों में तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन मिलता है। इन्हे त्रिविध ताप भी कहते है। ये संसार के प्राणियो को ताप देते है, इसलिए ताप कहलाते है। इन त्रिविध दुःखो का वर्णन महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार किया है – ''त्रिविध ताप अर्थात् इस संसार में तीन दुःख है। एक 'आध्यात्मिक' जो आत्मा, शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर आदि पीड़ा होती है, आध्यात्मिक दुःख है। दूसरा 'आधिभौतिक' जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा 'आधिदैविक' जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अतिउष्णता, मन व इन्द्रियो की अशान्ति से होता है।'' (स0 प्र0 प्र0 समु0)

महर्षि व्यास के अनुसार – दुःख –

''दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च।
येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्।।''

अर्थात् दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार है। जिससे पीड़ित होकर प्राणी उस वेदनीय दुःख की निवृत्ति या नाश के लिए प्रयत्न करते हैं, वह दुःख कहा जाता है। दुःख तीन प्रकार के होते है – आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।

आध्यात्मिक दुःख – काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि के कारण या इन्द्रियो में किसी प्रकार की विकलता होने के कारण जो मन तथा शरीर में ताप या पीड़ा होती है उसको आध्यात्मिक दुःख कहते है। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के होते है – शारीरिक और मानसिक। शारीरिक रोग जैसे कब्ज, ज्वर, अस्थमा आदि। मानसिक रोग जैसे तनाव, अवसाद, चिन्ता आदि। इन सभी रोगो को आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है।

आधिभौतिक दुःख – मनुष्य, पशु, पक्षी, सिंह, मच्छर और अन्य जीवो के कारण होने वाली पीड़ा को आधिभौतिक दुःख कहते है।

आधिदैविक दुःख – सर्दी, अत्यधिक गर्मी, ऑधी – तूफान, भूकम्प, बिजली आदि दैवी कारणों से होने वाली पीडा को आदिदैविक दुःख कहते है।

- **दौर्मनस्य** – इच्छा पूर्ति न होने के कारण जो मन में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, वह दौर्मनस्य है। अर्थात अपने स्वार्थ की पूर्ति ना होने पर मन में क्षोभ उत्पन्न होता है। मन में दुःख होता है। इस विघ्न के उपस्थित होने पर साधक की योग के साधनो के प्रति प्रवृत्ति नही होती। योग भाष्य के अनुसार – 'दौर्मनस्यमिच्छाविधाताच्चेतसः क्षोभः।' अर्थात इच्छा के पूर्ण ना होने से चित्त का क्षुब्ध होना दौर्मनस्य है। क्षुब्ध चित्त साधना में प्रवृत नही हो पाता है। जिस कारण वह साधक साधना बीच में ही छोड़ बैठता है। यह दौर्मन्य योग साधना में सबसे बड़ा विघ्न है, विक्षेप सहभुवः है।
- **अंगमेजयत्व** – व्यास भाष्य के अनुसार – 'यदड्.गान्येजयति कम्पयति तदड्.गमेजयत्वम्।' अर्थात जो अंगो को कम्पित करता है, वह अंगमेजयत्व है। शरीर में वात व्याधि के कारण शरीर में कम्पन होना ही अंग मेजयत्व है। अंग के कम्पन होने से योग साधना में बाधा उत्पन्न होती है। जो कि एक विघ्न है, अन्तराय है।
- **श्वास** – महर्षि व्यास ने श्वास का वर्णन इस प्रकार किया है – 'प्राणो यद् वाहयं वायुमाचामति स श्वासः।' अर्थात जो वाह्मय वायु का नासिका द्वारा आचमन (पान) किया जाता है, वह श्वास कहलाता है। जब साधक की श्वास क्रिया पर नियन्त्रण नही हो पाता है तो उस स्थिति में बाहर की वायु का नासिका मार्ग में स्वतः ही प्रवेश हो जाता है। जिससे कुम्भक क्रिया में विघ्न हो जाता है। इस प्रकार का विघ्न योग साधना में बाधा डालता है। अतः यह श्वास नामक उपविघ्न के रूप में लिया गया है।
- **प्रश्वास** – प्रश्वास का वर्णन योग व्यास भाष्य में इस प्रकार किया गया है – 'थत्कौष्ठ्यं वायुं निः सारयति स प्रश्वासः।' अर्थात् जो कोष्ठ (उदर) की वायु को बाहर निकालना है, वह प्रश्वास है। जो प्राण भीतर की वायु को बाहर निकालता है, वही प्रश्वास है। यह श्वास – प्रश्वास की क्रिया निरन्तर चलती ही रहती हैं। श्वास – प्रश्वास की यह गति स्वभाविक होती है। परन्तु अस्थमा आदि रोगो के कारण श्वास – प्रश्वास का अत्यन्त वेग से आना जाना योग साधना में बाधा उत्पन्न करता है क्योंकि रोग की अवस्था में श्वास – प्रश्वास साधक की इच्छा के

विपरीत हो जाती है। जो साधक को प्राणायाम के अभ्यास (पूरक, रेचक, कुम्भक) में बाधा उत्पन्न करते है। इस प्रकार श्वास व प्रश्वास अलग – अलग रूप से योग साधना में विघ्न है, अन्तराय है।

इस प्रकार योग साधना में पग – पग पर साधक को विविधि प्रकार के अवरोधो का सामना करना पड़ता है। पथ की विषमता के कारण ही योग मार्ग को अत्यन्त दुर्गम बताया गया है। इसी विषमता के कारण ही साधक कई बार इसमें असफल होता है। साधना के पथ पर असफल होने के बाद भी पुनः दृढ़ संकल्प से उठकर श्रद्धा पूर्वक फिर प्रसन्नता से आगे बढता है। जिसका वर्णन महर्षि ने पूर्व में 1/14 में किया है। महर्षि पतंजलि ने बताया है कि योग पथ की साधना कठिन है। जिस साधना में अनेको विघ्न अन्तराय है, अतः इन विघ्नो के शमन के लिए एक तत्व के अभ्यास का वर्णन किया है।

'तत प्रतिषेधार्थ मेकतत्वाभ्यासः।' पा0 यो0 सू0 1/32

अर्थात उक्त योगान्तरायो के निराकरण के लिए साधक को एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए। एक तत्व के अभ्यास से तात्पर्य ईश्वर के स्मरण से है। अर्थात ईश्वर का चिन्तन विघ्न बाधाओ का शमन कर साधना पथ का मार्ग प्रशस्त करता है। एक तत्व का अभ्यास एक साधक, एक भक्त के लिए सहज ही होता है। भक्त के जीवन में एक तत्व उसके अराध्य होते है। उसका हृदय अपने भगवान का स्मरण नित्य प्रति करता है। अपने ईष्ट के प्रति उसकी भावनाएँ इतनी प्रबल होती है कि उसका अभ्यास निरन्तर होता ही रहता है, उसे करना नही पड़ता है। इसके उदाहरण अनेक है जैसे मीरा, ध्रुव, प्रहलाद आदि। मीरा अनेको विघ्न बाधाओ को पार कर अपनी साधना अनवरत करती रही । उसी ईश्वर के निरन्तर चिन्तन व साधना से उसकी जीवनी शक्ति इतनी प्रबल हो गयी थी कि उसे विष का कोई असर नही हुआ था।

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियो उस ईश्वरीय चिन्तन, मनन, ईश्वर प्राणिधान के द्वारा समस्त विघ्नो पर विजय पाया जा सकता है। तथा अपने चित्त को प्रसन्न रखा जा सकता है। चित्त को स्वच्छ कर समाधि की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। अब आपके मन में चित्त को प्रसन्न व स्वच्छ किस प्रकार किया जा सकता है, यह प्रश्न उठ रहे होगे। आप जानना चाहेगे कि –

- चित्त प्रसादन क्या है?
- चित्त को प्रसन्न व स्वच्छ किस प्रकार रखा जा सकता है।
- चित्त प्रसादन के उपाय कौन से है?
- क्या समाधि की सिद्धि के लिए चित्त का स्वच्छ होना आवश्यक है?

आगामी पृष्टो का अध्ययन करने के बाद आप निश्चित ही उपरोक्त प्रश्नो के उत्तर दे सकने में समर्थ हो सकेगे।

5.5 चित्त प्रसाधन –

प्रिय विद्यार्थियो जैसा कि सर्वविदित ही है कि जो क्लेश, कर्म (कर्मो के बन्धन) से परे है, तथा ऐश्वर्यमान हैं वही ईश्वर है। जिसकी प्रजा हो तथा राजोचित वैभव हो वही राजा है। इसी प्रकार जिसके अन्दर दिव्य आलौकिक शक्तियो का पुंज हो, जो निरन्तर साधना

के द्वारा योग के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयासरत हो वही योगी है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योगी का सर्व चित्त वृत्ति निरोध आवश्यक है। यह तभी सम्भव हो पाता है, जब वह निरन्तर साधना करें। तभी चित्त की वृत्तियो का निरोध (अभाव) सम्भव है। महर्षि ने इसे ही समाधि की अवस्था अर्थात योग कहा है।

परन्तु प्रिय विद्यार्थियो किसी भी शुभ कार्य को करने में अनेको प्रकार के विघ्न बाधाएँ आती है। इसी तरह से योग साधना करने पर भी अनेको विघ्न बाधाएँ आती है। योग का पथ विभिन्न कंटको से घिरा है। साधक इस साधना में कई बार असफल होने पर भी फिर से उठ कर श्रद्धा पूर्वक साधना पथ पर अनवरत चलता रहता है। क्योकि इससे पूर्व महर्षि पतंजलि ने अभ्यास का वर्णन करते हुए कहा है, कि साधना के लिए अभ्यास दीर्घ काल तक, निरन्तर व सेवा पूर्वक तथा श्रद्धा पूर्वक होना चाहिए। श्रद्धा व सेवा का उपदेश महर्षि पूर्व (1/14) में ही दे चुके है। एक बार बाधाओ द्वारा असफल होने पर वह क्षण याद करना चाहिए जब हमारे अन्तस में योग मार्ग के लिए श्रद्धा का प्रथम अंकुर प्रस्फुटन हुआ था। वह क्षण याद करते ही पुनः दोगुने उत्साह के साथ साधक उस मार्ग पर चल पड़ता है, तथा अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच कर रहता है।

प्रिय विद्यार्थियो जहा योग में बाधा पहुँचाने वाले विभिन्न अवरोध है, वही योग साधना में सहायक बनने वाले साधक तत्व है, जो हमारी योग साधना को लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक होते है। ऐसे उपाय जो हमारे चित्त के विक्षेपो को दूर करने में सहायक होते है उन विक्षेपो को बाधक तत्व कहा जाता है। इसी प्रकार जो हमारी साधना में सहायक होते है उन्हे साधक तत्व कहते है। ये साधक तत्व हमारे चित्त को निर्मलता प्रदान करते है। चित्त को स्वच्छ करते है, चित्त को प्रसन्न करते है। इसलिए इन्हे चित्त प्रसादन कहा जाता है।

चित्त प्रसादन शब्द की व्युत्पति दो शब्दो से हुई है, चित्त व प्रसादन। चित्त का अर्थ चेतना से है, तथा प्रसादन का तात्पर्य स्वच्छता (सफाई) से है। इस प्रकार चित्त प्रसादन का अर्थ चित्त यानि चेतना को प्रसादन। अर्थात अपनी अन्तर चेतना की सफाई से है। जिस चित्त में हमारी जन्म – जमान्तरो के संस्कार संचित रहते हैं, तथा चित्त के प्रसादन से हमारे योग का अन्तिम लक्ष्य का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः महर्षि ने उन चित्त विक्षेपो को एक तत्व के अभ्यास से दूर किया जा सकता है। चित्त विक्षेपो के प्रतिषेधार्थ एक तत्व का अभ्यास किया जाना चाहिए, जिनसे विघ्नो व उपविघ्नो का नाश सम्भव है। परन्तु प्रिय विद्यार्थियो विघ्नो, बाधाओं, अन्तरायो का अभाव होने के बाद चित्त को निर्मल स्वच्छ बनाये रखना आवश्यक है। क्योकि जब चित्त निर्मल होगा तभी साधना के उपयुक्त होगा। निर्मल चित्त में साधना की जा सकती है। अतः चित्त को स्वच्छ और निर्मल बनाये रखने के लिए महर्षि पतंजलि ने कुछ उपायो का वर्णन किया है। जिन्हे चित्त प्रसादन के उपाय की संज्ञा दी गयी है। वे चित्त प्रसादन के उपाय निम्न है –

5.5.1 चित्त प्रसाधन के उपाय –

प्रिय विद्यार्थियो हमारा चित्त सत्व, रज, तम गुणो से गठित है। इस कारण इसमें तीनो गुण विद्यमान रहते है। चित्त में जो सत्व गुण है, वही विद्या है, तथा जो तमोगुण है, वह अविद्या है। इन गुणो के कारण ही चित्त की वृत्तियाँ बनती है। ये चित्त वृत्तियाँ मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती रहती है। हमारे चित्त में जन्म – जन्मो के संस्कार अंकित रहते है। जिस कारण उन संस्कारो के कारण ही भोगो की ओर मनुष्य सदा आकर्षित रहता

है। इनका प्रमुख कारण अहंकार कहा जा सकता है। मनुष्य इस संसार में भ्रम में रहता है। भ्रमित रहकर अहंकार वश वह इस जगत में व्यवहार करता है, तथा राग, द्वेष, लोभ, मोह में वशीभूत रहता है। अतः साधक को चाहिए कि वह चित्त को निर्मल करने के लिए विद्यादि गुणों को विकसित करे, सकारात्मक (पोजिटिव) चिन्तन रखें, तथा अविद्यादि दोषो को दूर करे।

प्रिय पाठको अब आपके मन में प्रश्न उठ रहे होगे कि अविद्यादि गुण कौन से है, अविद्यादि दोष कौन से है? प्रिय विद्यार्थियो मित्रता की भावना, दया, हर्ष, करूणा आदि भाव विद्याा के गुण है। ज्ञान के परिचायक हैं, तथा क्रोध, हिंसा, राग, द्वेष, घृणा, निन्दा आदि अविद्या (अज्ञान) के दोष है। विद्याादि गुणों को अपनाकर मनुष्य का चित्त शान्त, प्रसन्न तथा निर्मल होता है। अविद्यादि दोषो में जैसे जो मनुष्य किसी सुखी व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या करता है, निन्दा करता है, वह मनुष्य स्वयं ही दुखी रहता है। जो निन्दा व आलोचना करता है वे सभी मानसिक विकृति के लक्षण है। क्योकि घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि भावो से भरा चित्त उसी तरह का हो जाता है, औरो की निन्दा करते – करते वह अपने अन्दर सद्गुण नही विकसित नही कर पाता है। जो दूसरो में दोष देखता है, वही दोष उसके अन्दर आने लगते है। क्योकि जैसा सोचते है, एक दिन वैसे ही हो जाते है। इसलिए महर्षि पतंजलि चित्त की निर्मलता के लिए सकारात्मक विचारो को अपनाने की बात कहते है। जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में समाधिपाद में सूत्र नम्बर 33 से 39 तक इस प्रकार से किया है –

1. 'मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणांसुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनात्श्चितप्रसादनम्।' 1/33

अर्थात सुखी व्यक्ति से मित्रता, दुखियो पर दया, पुण्यात्माओ से प्रसन्नता की भावना तथा पापियो से उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है। भावार्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति सुखी है तो उसके सुख में प्रसन्न होकर उसके प्रति मित्रता का भाव रखना चाहिए। महर्षि पतंजलि ने दुःखी व्यक्ति के दुःख से दुःखी होकर उसके प्रति करूणा का भाव रखना चाहिए। पुण्यात्मा (अच्छे कार्य करने वाले) के प्रति प्रसन्नता का भाव रखना चाहिए तथा पापात्मा मनुष्य के लिए उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है।

➢ **मैत्री की भावना सुखी व्यक्ति से –**

महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में व्यवहार परिष्कार की विधि बतायी है कि किस प्रकार व्यवहार परिष्कार से चित्त का परिष्कार होता है। महर्षि के अनुसार यदि व्यवहार को सुधार लिया जाए तो चित्त का परिष्कार सम्भव है। व्यवहार परिष्कार के इस सूत्र के चार आयाम है।

- पहला आयाम मैत्री है। महर्षि के अनुसार मैत्री सुखी (आनन्दित) व्यक्ति से करनी चाहिए। सुखी व्यक्ति से मित्रता करके सुखी जीवन से सुखी रहने की उत्कृष्ट जीवन जीने की कला सीखी जा सकती है। उससे प्रेरणा ले उत्कृष्ट जीवन बनाया जा सकता है। सुखी व्यक्ति से मित्रता कर जीवन की सही दिशा दी जा सकती है। अतः महर्षि का उद्धेश्य सुखी व्यक्ति से मित्रता के द्वारा जीवन पथ को सही मार्गदर्शन देने से है। योग व्यास भाष्य के अनुसार – 'तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्।' अर्थात् सुख सम्पन्न और भोग सम्पन्न सभी

प्राणियो के प्रति मित्रता की भावना करनी चाहिए। ऐसा करने से उपासक की आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होता है, मन स्थिर होता हैं।

- दूसरा आयाम है, करूणा। योग व्यास भाष्य के अनुसार 'दुःखितेषु करूणाम्।' अर्थात दुःखी प्राणियो के प्रति दया की भावना करें। महर्षि पतंजलि के अनुसार दुखी व्यक्ति से मित्रता ना कर उसके प्रति करूणा का भाव रखना चाहिए। क्योकि दुःखी व्यक्ति से मित्रता करने से हमारा चित्त भी दुःखी होगा। उसके प्रति करूणा का भाव रख कर उसके प्रति हृदय से सहानुभूति रखकर उसके दुःख को दूर करने के उपाय करने चाहिए व उन्हें सन्मार्ग बताना चाहिए, जिससे चित्त शान्त व निर्मल बनता है।

➢ **मुदिता की भावना पुण्यात्मा से –**

महर्षि पतंजलि के सूत्र का तीसरा आयाम है मुदिता की भावना पुण्यात्मा व सफल व्यक्तियो के प्रति। प्रायः देखा जाता है कि सफल व पुण्यात्मा व्यक्ति केवल ईर्ष्या के पात्र बनते है। बाहरी रूप से सभी उनकी प्रशंसा करते रहते है। परन्तु परोक्ष रूप से उन्हे नीचा दिखाने का उपाय सोचते है, या उनके प्रति ईर्ष्या करते है। महर्षि कहते है कि किसी की सफलता को देखकर हमे उससे प्रेरणा लेनी चाहिए, प्रसन्न होना चाहिए। उनके पुण्य कर्मो से प्ररित हो, सफल होने का मूल मन्त्र सिखना चाहिए। क्योकि पुण्य कर्मो के द्वारा ही मनुष्य सफलता प्राप्त करता है। योग व्यास भाष्य के अनुसार 'पुण्यात्मकेषु मुदिताम्' अर्थात् पुण्यात्माओ के साथ हर्ष की भावना रखनी चाहिए। किसी भी पुण्यात्मा – महात्मा के पुण्य कर्म की ओर दृष्टि डालकर उससे प्रेरणा लेनी चाहिए। इसलिए महात्मा – पुण्यात्मा (अच्छे कार्य करने वाले) की सफलता के पीछे उसके द्वारा किये गये पुण्य कार्यो से हमे प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करके उसे आगे बड़ाने का प्रयास करना चाहिए।

➢ **पापी व्यक्ति से उपेक्षा का भाव –**

महर्षि पतंजलि के सूत्र का चौथा आयाम, पापी व्यक्ति से उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। योग व्यास भाष्य के अनुसार 'अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते।' अर्थात् पापियो के साथ उपेक्षा अर्थात न उनके साथ प्रीति रखना ना ही वैर का भाव। इस प्रकार के भाव रखने से योगी की आत्मा में सत्य का ज्ञान का प्रकाश होता है, और उसका मन स्थिर हो जाता है। स्थिर व निर्मल मन ही साधना में समर्थ्य होता है। अन्तः में प्रिय विद्यार्थियो जैसा कि योग व्यास भाष्य में कहा गया है –

'(चित्तप्रसादनम्) ततश्च चित्तं प्रसीदती।
प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते।।'

अर्थात् मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा इन चारो आयामो का पालन करने से योगी (साधक) को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। चित्त शान्त होता है, निर्मल होता है तथा निर्मल चित्त ही साधना में समर्थ है। प्रिय विद्याार्थियों महर्षि ने इस सूत्र में व्यवहार द्वारा चित्त परिष्कार कैसे किया जा सकता है। इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार एक साधारण मनुष्य भी इन चार आयामो को अपने जीवन में अपना कर कुशलता से मुक्त होकर चित्त का परिष्कार कर सकता है। यही इस सूत्र में महर्षि ने योगियो का, साधको का व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह भी दर्शाया है। योगी को इस संसार के सुख को देखकर, सुखी मनुष्यो को देखकर ईर्ष्या का भाव नही रखना चाहिए। उनके प्रति मित्रता

का भाव रखना चाहिए। दुःखियो से घृणा ना करके करूणा, दया का भाव रखें। उसके प्रति संवेदना प्रकट कर सहानुभूति रखें व उसके दुःख दूर करने का उपाय बताने का प्रयास करें जिससे मन शान्त होता है। तथा पुण्यात्मा के प्रति हर्ष की भावना रखे तथा पापात्मा के प्रति उपेक्षा भाव सदा रखना चाहिए। उन्हे सन्मार्ग बताएं परन्तु यह ध्यान भी रखें कि वे उनकी साधना में बाधक न बन जाए। इस प्रकार का व्यवहार एक योगी का होना चाहिए। एक योगी इस प्रकार का व्यवहार कर अपने चित्त को स्थिर व निर्मल रख कर साधना पथ पर अनवरत चल सकता है। चित्त को प्रसन्न रख कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

2. महर्षि पतंजलि ने चित्त प्रसादन का दूसरा उपाय बताते हुए कहा है –

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।'

अर्थात् प्राण वायु को बार – बार बाहर निकाले और रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है। महर्षि पतंजलि ने इससे पूर्व के सूत्र में व्यवहार द्वारा चित्त को निर्मल करने के उपाय बताते है। प्रिय विद्यार्थियो अगला उपाय प्राणों द्वारा चित्त को वश में करने का है। महर्षि के अनुसार भीतर के प्राण वायु को बाहर निकाल के, जितना हो सके सुखपूर्वक बाहर ही उसे रोक दें, पुनः धीरे – धीरे श्वास को भीतर लें, तथा पुनः फिर वही करैं इस प्रकार बार – बार अभ्यास किये जाने पर प्राण साधक के वश में हो जाते है, तथा प्राण को वश में करने से मन स्थिर हो जाता है। मन के स्थिर होने पर आत्मा भी स्थिर होती है। आत्मा, मन और प्राण इन तीनों के स्थिर होने पर उस अर्न्तयामी व्यापक परमेश्वर का साक्षात्कार होने लगता है।

प्रिय विद्यार्थियो महर्षि पतंजलि ने प्रथम उपाय व्यवहार शुद्धि द्वारा चित्त व द्वितीय उन्होने प्राणों को वश में करने के लिए प्राणायाम बताया है। क्योकि यदि प्राणों को वश में नही किया गया तो चंचल मन साधना नही कर सकता। जैसे हठप्रदीपिका में कहा गया है– '**चले वाते चलं चित्तं निश्चलं भवेत्।**' अर्थात प्राण के चंचल होने से चित्त भी चंचल होता है और प्राण के निश्चल होने पर निश्चल हो जाता है। इसी तरह मनुस्मृति में भी कहा गया है –

'दहयनते ध्यायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
तयेन्द्रियाणां दहयन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।'

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से स्वर्ण आदि धातुओ के मल नष्ट हो जाते है, शुद्ध धातु प्राप्त हो जाती है। उसी तरह प्राणायाम रूपी अग्नि में शरीर को तपाने से मन आदि इन्द्रियो के दोष दूर हो जाते है। अशुद्धियो का क्षय हो जाता है। चित्त निर्मल हो जाता है।

3. महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित तीसरा उपाय है –

'**विषयवती वा प्रवृत्तिरूत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।**' पा0 यो0 सू0 1/35

अर्थात (विषयवती) नासिकाग्र आदि स्थानो में चित्त को स्थिर करने से उत्पन्न दिव्यगन्धादि विषयो वाली प्रवृत्ति मन की स्थिति को बाधने वाली होती है। महर्षि पतंजलि कहते है कि नासिका के अग्र भाग पर धारणा (चित्त को स्थिर करना) करने से योग साधक को दिव्य गन्ध की अनुभूति होती है। वह गन्ध प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार जिहवा के अग्रभाग पर चित्त को चित्त को स्थिर करने से जो दिव्य रस की अनुभूति होती है तथा तालू में संयम करने से (चित्त को स्थिर करने से) दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है। उसे रूप प्रवृत्ति कहा जाता है तथा जिहवा के मध्य भाग पर चित्त को एकाग्र करने से दिव्य

स्पर्श का अनुभव होता है। जिसे स्पर्श प्रवृत्ति कहते है, तथा जिहवा के मूल में चित्त को एकाग्र करने पर दिव्य शब्द प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार इन्द्रियो के विभिन्न विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध है। ये पंच महाभूतो की तन्मात्राऍ भी है। इन विषयो से उत्पन्न साधना वृत्ति मन की स्थिति का निरोध करती है। इस प्रकार ये विभिन्न प्रवृत्तियॉ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती है। अतः साधक को श्रद्धा और विश्वास से इन प्रवृत्तियों में से किसी एक का अभ्यास योग्य गुरू के निर्देशन में करना चाहिए। इन विषयो का ध्यान करने से भी चित्त निर्मल होता है।

4. महर्षि पतंजलि कहते है कि इसके अतिरिक्त मन को स्थिर करने वाली एक और प्रवृत्ति निम्न है – **'विशोका वा ज्योतिष्मती।'** पा0 यो0 सू0 1/36

अर्थात इसके अतिरिक्त शोक रहित ज्योतिष्मति (प्रकाश वाली) वृत्ति मन को प्रसन्न करने वाली होती है। महर्षि पतंजलि न पूर्व में बताया है कि विषयवती प्रवृत्ति मन को स्थिर कर देती है। उसी प्रकार विशोका (शोक रहित) नामक प्रकाश वाली प्रवृत्ति भी मन को स्थिर कर देती है। विशोका वृत्ति में हृदय कमल में चित्त को स्थिर करने पर चित्त की एकाग्रता सधती है। हृदय कमल में अनाहत चक्र पर संयम करने पर आत्मानुभूति का सम्यक ज्ञान का साक्षात्कार करता हैं। इस दिव्य आलोक की दशा में साधक इतना प्रफुल्लित हो जाता है कि उसे शोक आदि का अनुभव नही होता है। इस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के उदित होने पर तमोगुण तथा रजोगुण से उत्पन्न होने वाले शोक आदि की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए यह प्रवृत्ति विशोका प्रवृत्ति कही जाती हैं। इस प्रवृत्ति के उत्पन्न होने पर चित्त प्रसन्न होता है, निर्मल होता है।

5. महर्षि पतंजलि मन की स्थिरता का अगले उपाय का वर्णन कर रहे है –

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।' पा0 यो0 सू0 1/37

अर्थात वीतराग पुरूषो का विषय करने वाला चित्त भी स्थिर हो जात है। वीतराग अर्थात ऐसे पुरूष जो रागादि द्वेषो से रहित हो, ज्ञानवान हो, वैराग्यवान हो ऐसे पुरूषो का विषय करने वाला चित्त भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।

प्रिय विद्यार्थियो जिन योगियो, महापुरूषो के राग, द्वेष नष्ट हो चुके हो, ऐस योगियों को ध्येय मानकर विषय करने से, ऐसे राग द्वेष नष्ट हुए योगियो का ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है। भावार्थ यह है कि जैसे यदि शुक्रदेव जैसे वीतराग सन्तो को लक्ष्य मानकर उनका ध्यान करने से उन्ही की तरह गुण साधक के अन्तर में आने लगते है। साधारणतः आपने देखा ही होगा कि एक हृष्ट – पुष्ट व स्वस्थ पुरुष या स्त्री को आप देखते है तो उन्हे देख कर वैसा ही बनने का विचार या भाव मन में आने लगते है। इसी तरह राग द्वेष आदि दोषो से रहित चित्त, शान्त चित्त, विरक्त चित्त वाले योगी के चरित्र का चिन्तन करने से ध्यान करने से साधक के चित्त में वैसे ही भाव आने लगते है। साधक श्रद्धा पूर्वक प्रयत्न करता है तथा इस प्रकार प्रयत्न करते – करते साधक के जीवन में ज्ञान का प्रकाश होता है। चित्त लौकिक विषयो से परे आलौकिक की दिव्यता का अनुभव करता है तथा साधक का चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है।

6. चित्त की स्थिरता का उपाय महर्षि बताते हुए कहते है –

'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्वनं वा।' पा0 यो0 सू0 1/38

अर्थात जो चित्त स्वप्न व निद्रा के ज्ञान का अवलम्वन करने वाला (आश्रय लेने वाला) है, वह भी स्थिर होता है। यहॉ सूत्र के अर्थ से स्पष्ट है कि 'ज्ञान' शब्द का सम्बन्ध

स्वप्न तथा निद्रा दानो से है। यद्यपि निद्रा तमोगुण प्रधान है इसलिए चित्त की त्याज्य वृत्ति है। परन्तु सत्व गुण की मात्रा होने के कारण ही यह ज्ञान हो पाता हैं। जैसे कोई व्यक्ति सो कर उठता है, सो कर जागने पर यह अनुभति करता है कि आज मैं सुखपूर्वक सोया। यह सुख की अनुभूति यह निद्रा ज्ञान चित्त की एकाग्रता में सहायक होता है। इसी प्रकार स्वप्न ज्ञान भी चित्त को प्रसन्न व स्थिर करने में सहायक होते है। जैसे यदि स्वप्न में अपने ईष्टदेव, महापुरूष के दर्शन हो या स्वप्न में ही अदभूत सफलता पाना, स्वप्न में कोई सिद्ध पुरूष स्वयं बन जाना आदि स्वप्नो से मन प्रसन्न होता है। उन स्वप्नो को याद कर वैसे ही भाव मन में लाया जाए तो भी मन स्थिर होता है।

7. महर्षि पतंजलि मन को स्थिर करने का अन्य उपाय बताते है –

'यथाभिमतध्यानाद्वा।।' पा0 यो0 सू0 1/39

अर्थात जिसका जैसा अभिमत हो उसके ध्यान से भी मन स्थिर हो जाता है। इस सूत्र में महर्षि ने चित्त को स्थिर करने के चित्त प्रसादन के उपाय बताये हैं। महर्षि के अनुसार जिस साधक को जो उपाय अनुकूल लगे, उसका श्रद्धा पूर्वक अभ्यास करके चित्त को स्थिर किया जा सकता है। इस सूत्र में महर्षि कहते है कि इन उपायो के अतिरिक्त जिन्हे यह साधन रूचिकर ना लगे वे अपनी रूचि के अनुसार विषयो में ध्यान करके मन स्थिर कर सकते है। जैसे अपने ईष्टदेव का ध्यान देवताओ (गणेश, शिव, राम, कृष्ण, हनुमान आदि) का ध्यान अपने गुरूदेव का ध्यान तथा ह्दय क्षेत्र पर ध्यान, भूमध्य, नाभि, श्वास आदि पर ध्यान सन्तो के चित्रो का ध्यान आदि। इस प्रकार जिसको जैसा अभिमत हो उस पर ध्यान करने से मन स्थिर होता है।

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियो महर्षि पतंजलि ने सूत्र 33 से 39 तक के कर्म हमारे चित्त का शोधन करने के बताए है। इन उपायो से चित्त प्रसन्न होता है, निर्मल होता है तथा स्थिर हो जाता है व साधक का पथ प्रशस्त होता है। ये कर्म शोधन कर्म कहलाते है। ये कर्म हमें ईश्वर की भक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। भक्ति तथा योग साधक को पात्रता प्रदान करते है। जैसे – जैसे साधक इन उपायो को अपनाता है, उसके कर्म शुद्ध, सात्विक होने लगते है, तथा चित्त की वृत्तियो का शोधन होता है। दृढ़निष्ठा के साथ इन उपायो को करने से मनुष्य अपने लक्ष्य तक अवश्य पहॅुच जाता है।

5.6 शब्दावली –

- व्याधि – रोग
- धातु – धारण करना।
- रस वैषम्य – आहार का न पचना।
- स्त्यान – काम न करने की इच्छा, अकर्मण्यता।
- अविरति – वैराग्य का भाव।
- मिथ्याज्ञान – झूठा ज्ञान।
- दौर्मन्य – इच्छा पूर्ति ना होने वाली एक स्थिति दौर्मन्य है।
- अंगमेजयत्व – अंगो का हिलना, कम्पायमान होना।

1 – बहुविकल्पीय प्रश्न :

(क) चित्त विक्षेपो की संख्या कितनी है –

अ. 9	ब. 10
स. 11	द. 12

(ख) विक्षेप सहभुव कितने है –

अ. 7	ब. 5
स. 8	द. 6

(ग) दुःख कितने प्रकार के होते है –

अ. 6	ब. 2
स. 5	द. 3

(घ) चित्त प्रसादन के कितने उपाय बताये है –

अ. 6	ब. 4
स. 7	द. 3

2 – **सत्य/असत्य बताइये –**

क. सुखी व्यक्ति से मित्रता से चित्त प्रसन्न होता है।
ख. पापी से मित्रता से चित्त निर्मल होता है।
ग. चित्त विक्षेप 10 प्रकार के है।
घ. व्याधि, स्त्यान विक्षेप सहभूव है।
ड़. चित्त प्रसादन के उपाय 1/33 से 1/39 तक बताए है।
च. एक तत्व का अभ्यास समस्त चित्त विक्षेपो को दूर करने के लिए है।
छ. इच्छा पूर्ति ना होना दौर्मन्य है।

5.7 सारॉश –

महर्षि पतंजलि ने योग साधना में बाधा उत्पन्न करने वाले तत्वो को योगाअन्तराय नाम दिया है, चित्त विक्षेप कहा हैं। ये योगान्तराय नौ प्रकार के है। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व व अनवस्थितत्व। इन्ही के साथ चलने वाले पॉच अन्य योगान्तराय है, जिन्हे विक्षेप सहभुवः कहा गया है। इन चित्त के विक्षेप, सहभुवः इन सभी को दूर करने के लिए महर्षि ने एक तत्व का अभ्यास बताया हैं। ईश्वर शरणागति बतायी है। जिससे योग साधना में बाधा दूर हो तथा साधना का मार्ग प्रशस्त हो। इन विघ्नो, अन्तरायो को दूर करने के बाद चित्त की प्रसन्नता, शुद्धता (शोधन) का उपाय, चित्त प्रसादन का उपाय बताया है। साधक साधना की उच्च अवस्था तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह एक तत्व के अभ्यास द्वारा इन योगान्तरायो को दूर करें तथा साधना में अनवरत चलने के लिए चित्त के शोधन के उपाय चित्त प्रसादन के उपाय को आत्म सार करें। चित्त प्रसादन के उपायों को अपनाकर साधक योग की उच्च अवस्था कैवल्य की प्राप्ति कर सकता हैं।

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1.	क. अ	ख. ब	ग. द	घ. स
2.	क. सत्य	ख. असत्य	ग. असत्य	घ.असत्य
	ड़. सत्य	च.सत्य	छ.सत्य	

5.9 – सन्दर्भ ग्रन्थ –

1 – सरस्वती विज्ञानानन्द (2003), योग विज्ञान।योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।
2 – कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।
3 – निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।
4 – पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली
5 – व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।
6 – योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।
7 – मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न –

1. योगान्तराय का विस्तृत वर्णन कीजिये।
2. विक्षेप सहभुवः किसे कहते है, तथा यह कितने प्रकार के होते है ?
3. विघ्नो को दूर करने का उपाय महर्षि पतंजलि के अनुसार क्या है ? व्याख्या करें।
4.चित्त प्रसादन क्या है ? योग दर्शन में वर्णित चित्त प्रसादन के उपायो को वर्णन कीजिए।

इकाई 6– अभ्यास और वैराग्य

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 अभ्यास एवं वैराग्य
6.4 अभ्यास तथा वैराग्य का उद्धेश्य
  6.4.1 अभ्यास क्या है?
  6.4.2 अभ्यास में दृढ़ता के उपाय
  6.4.3 अभ्यास के साधन
6.5 वैराग्य
  6.5.1 वैराग्य क्या है?
  6.5.2 वैराग्य के भेद

6.6 अभ्यास और वैराग्य की साधना में बाधक तत्व, अभ्यास और वैराग्य की साधना का फल
6.7 सारॉश
6.8 शब्दावली
6.9 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री
6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना –

प्रिय विद्यार्थियो इससे पूर्व की इकाई में आपने योगान्तराय व चित्त प्रसादन के उपायों का अध्ययन किया। इस इकाई में आप चित्त वृत्ति निरोध के उपाय, अभ्यास और वैराग्य का अध्ययन करेंगे।

प्रिय विद्यार्थियों चित्त की वृत्तियो के अभाव को योग कहा गया हैं। ये वृत्तियॉ ही क्लेश प्रदान करने वाली तथा अक्लेश की भी हेतु है। इन दोनो वृत्तियो (क्लिष्ट–अक्लिष्ट) का निरोध स्वरूपावस्था के लिए आवश्यक है। अतः महर्षि पतंजलि ने इन वृत्तियो के निरोध के लिए योग साधको की योग्यता को ध्यान में रखते हुए वृत्ति निरोध के उपाय अभ्यास – वैराग्य का वर्णन किया है। महर्षि पतंजलि ने उच्च कोटि के साधको के लिए अभ्यास और वैराग्य की साधना बताई है। केवल अभ्यास के द्वारा चित्त की वृत्तियो का निरोध सम्भव नहीं है, नहीं केवल वैराग्य से। अतः दोनो के सम्मिलित अभ्यास से ही चित्त वृत्ति निरोध होता है। अभ्यास और वैराग्य का प्रस्तुत इकाई में विस्तार से वर्णन किया जा रहा है –

6.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत ईकाई के बाद में आप –

- अभ्यास और वैराग्य की साधना को समझ सकेंगे।
- अभ्यास के साधन व अभ्यास में दृढ़ता के उपायों का अध्ययन कर सकेंगे।
- वैराग्य के भेद तथा अभ्यास और वैराग्य की साधना के बाधक तत्वो को समझ सकेंगे।
- अभ्यास और वैराग्य की साधना के फल का अध्ययन कर सकेंगे।

6.3 अभ्यास एवं वैराग्य –

पिछली इकाई में आपने योगान्तराय एवं चित्त प्रसादन के उपायो का अध्ययन किया। प्रस्तुत ईकाई में आप अभ्यास वैराग्य का अध्ययन करेंगे, अभ्यास वैराग्य का उद्धेश्य का विस्तृत अध्ययन करेंगे। महर्षि पतंजलि ने योग साधना की प्राप्ति चित्त की वृत्तियो के सर्वथा अभाव के द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। चित्त जो कि मन, बुद्धि व अहंकार का सम्मिलित रूप है। चित्त शान्त जलाशय की भॉति है। परन्तु हमारे चित्त में वृत्ति रूपी लहरें इस शान्त जलाशय को तरंगित करती रहती है। लहरो के कारण जिस प्रकार मनुष्य

चन्द्रमा का प्रतिबिम्व उस जलाशय में नही देख पाता, उसी प्रकार मनुष्य इन वृत्तियो की वासना रूपी तरंगो के निरन्तर उठते रहने के कारण आत्म तत्व का बोध नही कर पाता है। योग के लक्ष्य को प्राप्त नही कर पाता है। इन वृत्तियो की तरंगो को सर्वथा रोक देने से ही हम आत्म तत्व के दर्शन कर पाते है। महर्षि पतंजलि ने समस्त योग का सार एक ही सूत्र में रखा है, कि चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग हैं। इन चित्त की वृत्तियो का निरोध (अभाव) अभ्यास और वैराग्य से होता हैं।

महर्षि पतंजलि ने वर्णन किया है कि साधक को भटकाने वाला उसका अपना चित्त ही है, व चित्त की वृत्तियॉ ही है। इन चित्त की वृत्तियो के निग्रह से, निरोध से ही योग सधता हैं। पर यह अभ्यास वैराग्य से सम्भव है। चित्त की स्थिरता के लिए बार – बार प्रयत्न करना ही अभ्यास है। मन को किसी एक ध्येय पर स्थिर करने की चेष्टा बारम्वार करना अभ्यास है। तथा वैराग्य अर्थात बिना राग के, जिसे यह कहा जा सकता है कि जिस मनुष्य को कोई आसक्ति नहीं है। महर्षि पतंजलि ने देखें गये तथा सुने गये विषयो के प्रति तृष्णा का अभाव हो जाना ही वैराग्य कहा है।

वैराग्य शब्द भारतीय अध्यात्म में चिर – परिचित शब्द है। वैराग्य अर्थात बिना राग के, यह कहा जा सकता हैं। मनुष्य को विषय भोगो के प्रति कोई भी आसक्ति ना हो वही वैराग्य है। भोगो की वासना का क्षय आत्म ज्ञान से ही हो पाता है। संसार से दुःखी हो कर उससे दूर भागना वैराग्य नही कहा जा सकता। विवेक ज्ञान द्वारा जब सत – असत की पहचान, सही गलत की ठीक समझ, उचित अनुचित का सही ज्ञान, नाशवान व अविनाशी तत्व का बोध होने लगे तो समझना चाहिए कि वैराग्य सधने लगा। चित्त की वृत्तियो को रोकने के लिए एक साधन अभ्यास है तथा दूसरा वैराग्य है।

6.4 अभ्यास तथा वैराग्य का उद्धेश्य –

प्रिय विद्यार्थियो अभ्यास तथा वैराग्य की साधना महर्षि पतंजलि ने उच्च कोटि के साधको के लिए, चित्त की वृत्तियो के निरोध के लिए बतायी है। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में वर्णन किया है –

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' – 1/2

अर्थात चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव या इन चित्त की वृत्तियो का सर्वथा रूक जाना ही 'योग' है। यह योग साधना संकल्प की साधना है। यह योग शास्त्र ऐसा अनुशासन है, जो मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को पूर्ण रूप से अनुशासित करने वाला विज्ञान है। जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने प्रथम सूत्र में व्यक्त किया है –

'अथयोगानुशासनम्।' – पा0 यो0 सू0 1/1

अर्थात अब योग का अनुशासन । अब साधक के जीवन में वह पुण्य समय आ गया है जब मनुष्य एक निश्चित कार्य पद्धति का अनुशरण कर, स्वयं पर अनुशासन कर जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

प्रिय विद्यार्थियो अभ्यास वैराग्य का उद्धेश्य चित्त वृत्तियो का निरोध कर जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। महर्षि पतंजलि ने जीवन के लक्ष्यो को पूर्ण करने के लिए अभ्यास पर बल दिया है, पर ममुक्षु साधक के लिए अभ्यास व वैराग्य की साधना बतायी है। जिससे जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

महर्षि पतंजलि ने चित्त वृत्ति निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की साधनायें बताई हैं।

'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' पा0 यो0 सू0 1/12

अर्थात अभ्यास और वैराग्य द्वारा उन चित्त वृत्तियो का निरोध होता है। प्रिय विद्यार्थियो अब प्रश्न उठता है कि यह अभ्यास क्या है? जिससे चित्त की वृत्तियो का निरोध होता है। तो आइये अध्ययन करे कि अभ्यास क्या है।

6.4.1 – अभ्यास क्या है? –

चित्त की स्थिरता के लिए किये जाने वाला प्रयत्न अभ्यास है। महर्षि पतंजलि ने अभ्यास का वर्णन इस प्रकार किया है **–'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।'** – पा0 यो0 सू0 1/13 अर्थात चित्त की स्थिरता के लिए जो निरन्तर प्रयत्न किया जाता है, वही अभ्यास है।

प्रिय विद्यार्थियो इसे इस प्रकार समझा जा सकता है, कि मनुष्य का चित्त चंचल है, जो रजोगुण, तमोगुण वृत्तियो के कारण ही विषयो मे रमण करता रहता हैं। किन्तु सतोगुण वृत्ति के उत्पन्न होने पर चित्त की चंचलता दूर हो जाती है, तथा चित्त शान्त होता है। इसी स्थिति को एकाग्रता कहते हैं। इसी एकाग्रता को हमेशा बनाये रखने के लिए जो पूर्ण इच्छा शक्ति के साथ निरन्तर प्रयत्न किया जाता है। उसी का नाम 'अभ्यास' है। इस संसार के कठिन से कठिन दुसाध्य कार्य भी अभ्यास से पूरे हो जाते है। जैसा कहा भी गया है –

''करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात है सिल पर परत निसान।''

अर्थात अभ्यास करते – करते एकदम जड़मति भी सुविज्ञ तथा सुजान हो जाते हैं जैसे कोमल रस्सी से कठोर सिल (पाषाण) पर भी निशान पड़ जाते है, उसी प्रकार अभ्यास के बल पर मनुष्य कठिन से कठिन कार्य भी करने में समर्थ हो जाता है। अभ्यास के बल पर मनुष्य ही नही वरन् पशु – पक्षी भी असम्भव से असम्भव कार्य को सम्भव कर देता है। अब प्रश्न उठता है कि अभ्यास किसका किया जाए। चित्त की एकाग्रता को स्थिर बनाये रखने के लिए योगानुष्ठान करने चाहिए। योग साधना में लगे रहना चाहिए। योग के अनुष्ठान, क्रियायोग व अष्टॉग योग व अभ्यास व वैराग्य है। इन अनुष्ठान करने से ही मनुष्य को समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रिय विद्यार्थियों इन अनुष्ठान को करने के लिए अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास किस प्रकार दृढ़ हो महर्षि पतंजलि ने दृढ़ता के निम्न उपाय बताये है।

6.4.2 अभ्यास में दृढ़ता के उपाय –

महर्षि पतंजलि ने समाधि पाद के 14वें सूत्र में अभ्यास में दृढ़ता के उपाय बताये है। जो निम्न प्रकार से है –

'सतु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।'

अर्थात वह अभ्यास दीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक, सत्कार पूर्वक किये जाने पर दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार अभ्यास की सफलता के लिए निम्न बातो का होना आवश्यक है। निम्न उपायो को अपनाने पर ही अभ्यास दृढ़ अवस्था वाला होता है। ये उपाय निम्न है –

- पहला – दीर्घ काल (लम्बा समय),
- दूसरा – निरन्तरता,
- तीसरा – भाव भरी श्रद्धा,

- चौथा – दृढ़ निष्ठा।

यदि साधना के अभ्यास में ये चार तत्व हो तो अवश्य ही चमत्कारी परिणाम देखने को मिलते हैं।

पहला – दीर्घ काल (लम्बा समय) – महर्षि पतंजलि ने आत्म तत्व की प्राप्ति के लिए चित्त के बार – बार यत्न पूर्वक रोकने का निरन्तर अभ्यास करने के लिए कहा है। परन्तु यह अभ्यास सिर्फ एक या दो महिने के लिए नहीं दीर्घ काल तक करना है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य शुरू – शुरू में तो उत्साह के साथ अभ्यास करते है। परन्तु बाद में एक महिने – दो महिने, एक साल, दो या पॉच साल में ही साधना को छोड़ बैठते है। कुछ मनुष्य दीर्घ काल तक अभ्यास करते है। परन्तु उनमें निरन्तरता नहीं होती हैं। कुछ महिने अभ्यास करने के बाद छोड़ दिया, फिर शुरू की फिर कुछ दिन छोड़ी, इस तरह अभ्यास करने से अभ्यास में दृढ़ता नही आती है। इसे लम्बे समय तक धैर्य व दृढ़ विश्वास के साथ करने से ही अभ्यास दृढ़ अवस्था वाला होता है।

दूसरा – निरन्तरता – महर्षि पतंजलि ने नैरन्तर्य का अर्थ खण्ड रहितता से लिया है। इसका अर्थ यह है कि साधक को साधना की नियमितता को बनाये रखना चाहिए। योगागों का अभ्यास प्रतिदिन करें। उसकी नियमितता खण्डित ना हो। अभ्यास में आलस्य व प्रमाद नही करना चाहिए, तथा किसी भी प्रकार का व्यवधान नही करना चाहिए, तथा अभ्यास निरन्तर चलते रहना चाहिए।

तीसरा – भाव भरी श्रद्धा – अभ्यास में दृढ़ता के लिए भाव भरी श्रद्धा का होना आवश्यक है। यदि साधक किसी तरह अपनी साधना में दीर्घ काल व निरन्तरता अपनाता हैं परन्तु भाव भरी श्रद्धा ना हो तो साधना सिद्ध नही हो पाती है। बार – बार चित्त में व्यग्रता व सन्देह उत्पन्न होता है, कि यह साधना पूर्ण हो भी पायेगी या नहीं, या यह साधनासही भी है या नहीं। कभी गुरू के प्रति संदेह, कभी साधना के प्रति। इस प्रकार का चंचल मन और डगमगाती श्रद्धा से साधक की साधना पूर्ण नही हो पाती है। अतः अभ्यास की दृढ़ता के लिए साधक को साधना के प्रति भाव भरी श्रद्धा का होना आवश्यक है।

चौथा – दृढ़ निष्ठा – योगानुष्ठान के अभ्यास में बल व प्राण लाने के लिए दीर्घ काल, निरन्तरता, भाव भरी श्रद्धा तथा अडिग निष्ठा का होना बहुत जरूरी है। साधना पथ पर बिना थके, बिना रूके भाव भरी श्रद्धा के साथ तथा समर्पित भावना व दृढ़ निष्ठा के साथ अभ्यास करते जाना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास की दृढ़ता के इस उपायो को अपनाने से साधक अपने लक्ष्य तक अवश्य पहॅुच पाता है।

6.4.3 अभ्यास के साधन –

प्रिय विद्यार्थियों अभ्यास में दृढ़ता के उपायो का अध्ययन आपने किया। अब आपके मन में प्रश्न उठ रहे होंगे कि ये अभ्यास किसका किया जाए। जिनका अभ्यास करने से चित्त की वृत्तियो का निरोध होता है। प्रिय विद्यार्थियो अभ्यास के इन साधनो का वर्णन महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के अन्तर्गत किया है। ये साधन निम्न है –

- **एक तत्व का अभ्यास –**

महर्षि पतंजलि ने साधना के लिए एक तत्व का अभ्यास आवश्यक बताया है। मनुष्य साधना तभी कर सकता है, जब शरीर स्वस्थ हो। मनुष्य के शरीर में एक प्रकार से विद्युत प्रवाह चलता रहता हैं। जब इस प्रवाह में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न होता है, तो

मनुष्य साधना नही कर सकता हैं। इसी विद्युत प्रवाह को एकतत्व के अभ्यास के द्वारा सही किया जा सकता है। तथा शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता सकता है। तभी मनुष्य साधना कर सकता है। चित्त की वृत्तियो को नियन्त्रित करने के लिए एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये। एक तत्व के अभ्यास का वर्णन महर्षि पतंजलि ने निम्न प्रकार से किया है –

'ततप्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः।' – पा0 यो0 सू0 1/32

अर्थात साधना के मार्ग में आये विघ्नो को दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए। उस एकतत्व के अभ्यास के लिए एक ही तत्व 'ऊँ' का उच्चारण करना चाहिए। 'ऊँ' के उच्चारण से चित्त शान्त होता हैं।

- **प्रणव (ऊँकार) का उच्चारण –**

एक तत्व के अभ्यास के लिए महर्षि पतंजलि प्रणव का उच्चारण बताते हुए कहते है –

'तस्य वाचकः प्रणवः।' – पा0 यो0 सू0 1/27

अर्थात उस ईश्वर को ऊँ नाम से जाना जाता है। महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में ऊँ ईश्वर व एकतत्व का नाम बताया हैं। उस एकतत्व या ईश्वर के वाचक ऊँ का उच्चारण से साधना की सिद्धि होती हैं। इस ऊँ में उतने ही रहस्य है, जितने प्रभु के नाम में हैं। जिसने ऊँ को जान लिया, समझना चाहिए उसने प्रभु को पहचान लिया। वेद, पुराण, उपनिषद सभी में ऊँ की महिमा का वर्णन किया है। अतः ऊँ के उच्चारण का अभ्यास करके चित्त की वृत्तियो को शान्त किया जा सकता है।

- **वीत राग पुरूष का ध्यान –**

महर्षि पतंजलि ने चित्त को शुद्ध करने के लिए अभ्यास के साधन के रूप में वीतराग पुरूष का ध्यान का वर्णन इस प्रकार किया है –

'वीतराग विषय वा चित्तम्।' – पा0 यो0 सू0 1/37

अर्थात वीतराग को विषय करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता हैं। वीतराग से अभिप्राय वह पुरूष जिसके सभी राग, आसक्तियां, आकाक्षांए शान्त हो चुकी हों, जो पुरूष इनसे परे आ चुका हो, ऐसे पुरूष स्वयं महर्षि पतंजलि भी हैं। साथ ही उनकी परम्परा में अनेक ऋषि महर्षि बुद्ध पुरूष हैं, जिन्होने इस धरा को पावन किया है। इन ऋषियो में कुछ प्राचीन ऋषिगण है, तथा कुछ अवतार हुए है जैसे प्रभु श्री राम, भगवान श्री कृष्णा, बुद्ध, महावीर आदि सन्त आत्माएं है। आधुनिक युग के सिद्ध पुरूषो में श्री रामकृष्ण परमहंस, महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण, स्वामी विवेकानन्द आदि हैं। इन सभी ने इस युग को अपनी तपस्या से, साधना से प्रकाशित किया, ये सभी वीतरागी पुरूष है।

प्रिय विद्यार्थियो वीतराग पुरूष का ध्यान करने से मनः स्थिति उन्ही की तरह होने लगती है। इस तरह वीतराग पुरूष का ध्यान करने से चित्त निर्मल होता है, स्थिर होता है, जो कि चित्त वृत्तियो के निरोध में सहायक है।

प्रिय विद्यार्थियो महर्षि पतंजलि ने अभ्यास के साधन एक तत्व का अभ्यास ऊँ का उच्चारण आदि बताया हैं। परन्तु इस ओऽम् के उच्चारण के लिए किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठना आवश्यक है। क्योकि चित्त की वृत्तियो को रोकने के लिए सर्वप्रथम शरीर को स्थिर करना आवश्यक है। यदि अधिक समय तक शरीर को स्थिर रखना आवश्यक है, यदि शरीर को अधिक समय तक स्थिर अवस्था में, बिना हिलाये – डुलाये, मूर्ति के समान

स्थिर रखा जाए तो विचारो का प्रवाह रूक जाता है। इसलिए प्रिय विद्यार्थियो वृत्तियो के इस प्रवाह को रोकने के लिए एक आसन में स्थिर होना पड़ता है। जिसका वर्णन निम्न है

- **आसन का अभ्यास –**

प्रिय विद्यार्थियो चित्त की वृत्तियो को रोकने के लिए आसन का अभ्यास जरूरी है। जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है –

'स्थिरसुखमासनम्।' – पा0 यो0 सू0 2/46

अर्थात स्थिर व सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके वह 'आसन' है। परन्तु चित्त वृत्ति निरोध के लिए ध्यानात्मक आसन में बैठना उचित है। क्योकि वृत्तियो के निरोध के लिए आसन में दीर्घ काल तक स्थिर रह कर अभ्यास की आवश्यकता है। यदि आसन पर स्थिरता का अभ्यास ना हो तो साधना में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। अतः ज्यो – ज्यो स्थिरता आती है, त्यो – त्यो वृत्तियॉ शान्त होने लगती है। चित्त शान्त होने लगता हैं।

- **प्राणायाम का अभ्यास –**

प्रिय विद्यार्थियो महर्षि पतंजलि ने चित्त को वृत्तियो से रहित करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास बताया है। जो निम्न है –

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।' – पा0 यो0 सू0 1/34

अर्थात प्राण को बारम्बार बाहर निकालने तथा बाहर रोकने के प्रयास से भी चित्त निर्मल होता है। इस सूत्र में प्राणायाम की प्रक्रिया मुख्यतः रेचक, कुम्भक (बाह्रय कुम्भक) का वर्णन किया गया है। प्रच्छर्दन से तात्पर्य अन्दर स्थित वायु को प्रयत्न पूर्वक नासारन्ध्रो से बाहर छोड़ने की क्रिया से है, तथा विधारण छोड़ी गयी वायु को वहीं रोके रखने की प्रक्रिया को विधारणा कहते है। अतः इन दोनो प्रच्छर्दन और विधारण क्रिया द्वारा प्राण का नियमन करने से चित्त शुद्ध होता हैं।

6.5 वैराग्य –

प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियो के निरोधापाय के रूप मे अभ्यास व वैराग्य का वर्णन किया है। इससे पूर्व आपने अभ्यास का अध्ययन किया। अब आप दूसरा साधन वैराग्य का अध्ययन करेगे। अभ्यास की पूर्णता के लिए वैराग्य साधना की अति आवश्यकता होती है। वैराग्य अर्थात बिना राग के अर्थात यदि साधक साधना में सफलता चाहता है, तो सांसारिक माया मोह, आसक्ति उसकी साधना में बाधक बनते है। जब तक आसक्ति रहेगी साधना सफल नही हो सकती है। आत्मिक जागृति एवं आध्यात्मिक उपलब्धि की प्राप्ति का एक ही सशक्त उपाय है वैराग्य।

6.5.1 वैराग्य क्या है? –

प्रिय विद्यार्थियो जैसा कि पूर्व में भी बताया गया है, कि वैराग्य अर्थात बिना राग। वैराग्य का जन्म विवेक के द्वारा होता है। विवेक का अर्थ है – उचित –अनुचित का ज्ञान, सही – गलत की समझ, अविनाशी तत्व व नाशवान का बोध, असत्य और सत्य की पहचान। जिसे इसका ज्ञान हो जाये, विवेक ज्ञान प्राप्त हो जाए, उसी साधक का वैराग्य सधता है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है –

''ये हि संस्पर्शजाभोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।'' – गीता 5/22

अर्थात इन्द्रियो के स्पर्श से अनुभव होने वाले जो भी भोग है, वे सभी दुःख देने वाले है। ये सभी आदि अन्तः वाले है, नाशवान है। इसलिए विवेकवान पुरूष इनमें नही रमते है। अर्थात जो विवेकवान पुरूष हैं, वही विषय भोगो से दूर रहेगा। इस प्रकार वैराग्य का उदय विवेकज्ञान से होता है। क्योकि भोग यदि लौकिक हो अथवा अलौकिक सभी निरर्थक है। अर्थ यदि है तो केवल आत्मतत्व का है। इस आत्मतत्व साधना के लिए अभ्यास व वैराग्य का होना आवश्यक है। अतः वैराग्य के लिए सांसारिक दुःखो का बारम्बार चिन्तन कर वैराग्य साधा जा सकता है। जैसे गौतम बुद्ध ने सभी राजसी सुखो को त्याग कर यही निष्कर्ष निकाला कि 'सब्बं दुक्ख्म्' – यह सब दुःख ही है। वैराग्य की सच्ची साधना यही है।

6.5.2 वैराग्य के भेद –

प्रिय विद्यार्थियो महर्षि पतंजलि ने वैराग्य के दो प्रकार के भेद बताये है –

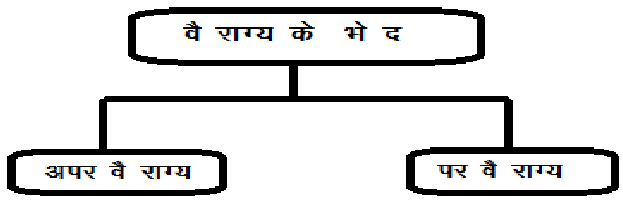

- वशीकार अथवा अपर वैराग्य – वैराग्य का वर्णन योग सूत्र में इस प्रकार से है –
  'दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञावैराग्यम्।' पा0 यो0 सू0 1/15

अर्थात देखे हुए तथा सुने हुए विषयो में जो पूर्ण रूपेण तृष्णा रहित चित्त की वशीकार नामक संज्ञा ही वैराग्य है। उपरोक्त सूत्र में महर्षि पतंजलि ने विषय को दो श्रेणियो में विभाजित किया है –

1. दृष्ट
2. आनुश्रविक

दृष्ट विषय – दृष्ट विषय उन्हे कहते है जो इस जगत में हम स्वयं देखते है, या दिखाई देते है। जैसे – धन सम्पदा, ऐश्वर्य, रूप, रस, गन्ध आदि।

आनुश्रविक विषय – आनुश्रविक विषय उन्हे कहते हैं जो महा – पुरूषों व पुराण, उपनिषद शास्त्रो द्वारा सुने गये हैं। जैसे – स्वर्गलोक दिव्यलोक की प्राप्ति आदि।

इस प्रकार वह स्थिति जिसमे मनुष्य को सुने गये तथा देखे गये विषयो के प्रति कोई भी आसक्ति नही रहती है। इस स्थिति में दोनो विषयो के प्रति कोई भी विकार चित्त में नही रहता है। उस स्थिति को वशीकार नामक वैराग्य कहा जाता है। इसे ही अपर वैराग्य कहते है।

- **पर वैराग्य** – पर वैराग्य का वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है –

'तत्परंपुरूषख्यातेर्गुणवैतृष्णयम्।' – पा0 यो0 सू0 1/16

अर्थात पुरूष के ज्ञान होने पर (आत्मज्ञान होने पर) प्रकृति के गुणो में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना 'परम वैराग्य' है। प्रिय विद्यार्थियो पुरूष (आत्मा) का ज्ञान हो जाने पर प्रकृति के गुणो के स्वरूप की जानकारी हो जाती है। जिससे प्रकृति के गुणो में तृष्णा का अभाव हो जाता है। जिसे पर वैराग्य कहा जाता है।

प्रिय विद्यार्थियो वैराग्य की यह अवस्था अति दुर्लभ अन्तः चेतना के परमात्मा में विलीन हो जाने पर यह अवस्था स्वयं ही प्रकट हो जाती है। जिसे पर वैराग्य कहते है। अन्तर्चेतना प्रभु में जब विलीन हो जाती है, तो विषय भोगो के प्रति कोई भी रूचि नही रह जाती है, आसक्ति नही रह जाती है। यही पर वैराग्य है।

प्रिय विद्यार्थियो यह अवस्था कैसे प्राप्त हो या इस परम सिद्धि का भाव चेतना में कैसे अवतरण हो? इस प्रकार के प्रश्न आपके मन में उठ रहे होगे। आपकी जिज्ञासाओ का एक ही उत्तर है, प्रभु में प्रीति।जिन साधको की ईश्वर के प्रति प्रीति है उनके चरणो में अनुरक्ति है, उन्हे वैराग्य की सिद्धि अपने आप ही मिल जाती है। भक्ति मार्ग से वैराग्य की सिद्धि सहज ही हो जाती है।

6.6 – अभ्यास और वैराग्य की साधना में बाधक तत्व, अभ्यास और वैराग्य की साधना का फल –

प्रिय विद्यार्थियो अभ्यास व वैराग्य की साधना काल में साधक के सामने नौ प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं। इन विघ्नो से साधना में बाधा उत्पन्न होती है। इसलिए इन्हे बाधक तत्व कहा जाता है। ये चित्त को विक्षेपित करते है, जिससे चित्त चंचल हो जाता है, तथा योग साधना मे अन्तराय आते है। जिससे इन्हे योगान्तराय कहते है। प्रिय विद्यार्थियो इससे पूर्व की इकाइयो में योगान्तराय का विस्तृत अध्ययन आप कर चुके होगें संक्षेप मे महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित योगान्तराय इस प्रकार है –

"व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्ध
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।"

अर्थात व्याधि – शरीर व मन में किसी रोग का होना व्याधि है।
स्त्यान – अकर्मण्यता अर्थात काम ना करने की प्रवृति।
संशय – स्वयं की क्षमता व साधना के परिणाम पर संदेह करना।
प्रमाद – योग साधना की अवहेलना करना प्रमाद है।
आलस्य – तमोगुण की अधिकता से शरीर में भारीपन।
अविरति – संसार के विषयो के प्रति आकर्षित होना तथा वैराग्य का अभाव।
भ्रान्तिदर्शन – मिथ्याज्ञान, योग साधना के प्रति भ्रामक ज्ञान, भ्रान्तिदर्शन है।
अलब्ध भूमिकत्व – साधना करने पर भी लक्ष्य प्राप्त न होना। जिससे साधना के प्रति उत्साह की कमी, अलब्ध भूमिकत्व है।
अनवस्थितत्व – साधना में चित्त की विशेष स्थिति प्राप्त हो जाने पर भी उसमें स्थिर ना हो पाना, अनवस्थितत्व है।

यह सभी विघ्न योग साधना में बाधक है। महर्षि पतंजलि चेतावनी देते हुए स्पष्ट करते हैं कि इन विघ्नो का क्रम यही समाप्त नही होता है। इन नौ विघ्नो के साथ – साथ पॉच

उपविघ्न भी है। जो साधक की साधना में बाधा उत्पन्न करते है। इनका वर्णन इस प्रकार से है –

'दुःखदोर्मनस्यङ्गमेजयत्व श्वासप्रश्वास विक्षेपसहभुवः।' पा0 यो0 सू0 1/31

अर्थात दुःख, दौर्मन्य, अंग मेजयत्व, श्वास प्रश्वास ये पांच विक्षेपो के साथ – साथ होने वाले विघ्न है।

दुःख – दुःख के तीन भेद है। आध्यात्मिक, आदिभौतिक व आदिदैविक। काम – क्रोध, राग– द्वेष, आदि विकारो के कारण शरीर तथा मन की पीड़ा आध्यात्मिक दुःख है। मनुष्य तथा अन्य जीवो शेर, सर्प, मच्छर आदि के द्वारा होने वाले कष्ट को आदि भौतिक दुःख कहते है। अति वृष्टि (वर्षा), ऑधी, विजली, सर्दी – गर्मी, भूकम्प आदि प्राकृतिक आपदाओ के द्वारा होने वाली पीड़ा आदि दैविक दुःख है।

दौर्मन्यस्य – मन की इच्छा के पूर्ण ना होने पर मन में उत्पन्न क्षोभ दौर्मनस्य है।

अंगमेजयत्व – शरीर के अंगो का कम्पित होना अंगमेजयत्व है।

श्वास – वाह्रय कुम्भक में कठिनाई अर्थात बिना इच्छा के बाहर की वायु का भीतर प्रवेश हो जाना ही श्वास नामक विघ्न है।

प्रश्वास – न चाहने पर अन्दर की श्वास का बाहर निकल जाना अर्थात अन्तः कुम्भक में कठिनाई प्रश्वास नामक विघ्न है।

ये सभी विघ्न, उपविघ्न साधक की साधना के विघ्न है। इन विघ्नो को दूर करने के लिए तथा साधना के पथ पर आगे बढने के लिए महर्षि पतंजलि ने एक तत्व के अभ्यास पर बल दिया है। जिसका वर्णन इस इकाई के पूर्व में ही किया जा चुका है।

प्रिय विद्यार्थियो आपने विघ्नो का अध्ययन किया। आइये अब अभ्यास वैराग्य की साधना का फल क्या है इसका अध्ययन करें –

प्रिय विद्यार्थियो अभ्यास वैराग्य की साधना महर्षि पतंजलि ने उच्च कोटि के साधको के लिए बतायी है। अभ्यास वैराग्य के द्वारा मन पर, चित्त पर नियन्त्रण सम्भव है। चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव है। यही स्थिति ही योग है। अभ्यास वैराग्य की साधना की महत्ता का वर्णन करते हुए श्रीमद् भगवद् गीता में इस प्रकार किया गया है –

''असंयतात्मना योगो दुष्प्राय इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शुक्योऽवाप्तुमुपायतः।।'' गीता 6/36

अर्थात जिसके वश में मन नहीं है। ऐसे असंयत साधक के द्वारा योग में सफलता पाना कठिन है, असम्भव है। जबकि जिन्होने इसको वश में कर लिया, वो साधक बड़ी आसानी से योग में सफल हो जाते हैं।

अभ्यास वैराग्य से मन पर, चित्त पर नियन्त्रण आसानी से हो जाता है। मन का नियन्त्रण ही चित्त वृत्ति निरोध है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने मन को नियन्त्रण करने के लिए अभ्यास वैराग्य की साधना बतलाई है। जिसका वर्णन इस प्रकार है –

''अशंसय महाबाहो मनो दुर्निगहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।'' गीता 6/25

अर्थात हे कुन्तीपुत्र महाबाहो अर्जुन तुम्हारे इस कथन में कोई संशय नही है, कि मन की चंचलता किसी भी तरह से वश में आने वाली नही है। परन्तु अभ्यास वैराग्य के द्वारा इसे आसानी से वश में किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियो यह कहा जा सकता है कि अभ्यास वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियो का निरोध सम्भव है। यही चित्त वृत्ति निरोध को महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार परिभाषित किया है –

'योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः।' पा0 यो0 सू0 1/2

अर्थात चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग है। महर्षि ने अगले ही सूत्र में यह बताया है –

'तदा दृष्टु स्वरूपेवस्थानम्।' पा0 यो0 सू0 1/3

अर्थात वृत्तियो के निरोध होने पर आत्मा (दृष्टा) की अपने स्वरूप में अवस्थिति होती है। यह चित्त वृत्ति निरोध साधना का फल है। किसी भी योग साधक की साधना का लक्ष्य है। जिससे आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती हैं। यही कैवल्य है, यही आत्मा का मोक्ष है, परम् गति है। अभ्यास वैराग्य का फल है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1. बहुविकल्पीय प्रश्न –

क – चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव है –
अ. अन्तकरण ब. योग
स. आत्मा द. इनमें से कोई नहीं

ख – चित्त वृत्ति निरोध का उपाय है –
अ. हठयोग ब. ज्ञानयोग
स. अभ्यास वैराग्य द. कर्मयोग

ग – चित्त की स्थिरता के लिए बार – बार प्रयत्न करना क्या है?
अ. विध्न ब. वैराग्य
स. तप द. अभ्यास

घ – वैराग्य का अर्थ है?
अ. अभ्यास ब. बिना राग के
स. राग द. द्वेष

ड – अभ्यास में दृढ़ता का पहला उपाय है?
अ. निरन्तरता ब. दीर्घकाल
स. भावभरी श्रद्धा द. इनमे से कोई नही

च – अभ्यास के साधक है?
अ. एक तत्व का अभ्यास ब. ऊँ का उच्चारण
स. वीत राग का ध्यान द. उपरोक्त सभी

छ – वैराग्य के कितने भेद है?
अ. 5 ब. 2
स. 6 द. 4

6.7 सारॉश –

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में योग की दार्शनिकता को बहुत ही सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। महर्षि पतंजलि ने 'योगदर्शन' के दूसरे सूत्र में ही योग की परिभाषा को स्पष्ट कर यह बताया है कि चित्त की वृत्तियो को रोक लेना ही योग है। यही सूत्र योग दर्शन

का मूल आधार हैं। क्योकि मनुष्य का मन चंचल है, और सांसारिक माया मोह में भटकता ही रहता है। वृत्तियॉ एकाग्र नही हो पाती हैं। इन चित्त की वृत्तियो को अभ्यास व वैराग्य द्वारा रोक कर ईश्वर का दर्शन, साक्षात्कार किया जा सकता है।

महर्षि पतंजलि के योग का मुख्य उद्धेश्य यह है कि मनुष्य स्थूल से सूक्ष्म की और अग्रसर हो। वह भौतिकवादी दृष्टिकोण को कम कर आत्मतत्व को ग्रहण करने का प्रयत्न करें। क्योकि मनुष्य की वृत्तियॉ ही उसे भौतिक पदार्थो में लिप्त करती है। भौतिक पदार्थो को ग्रहण करने वाली होती हैं। योग साधना द्वारा जब चित्त वृत्तियो को नियन्त्रित किया जाता है, तब मनुष्य वाह्मय जगत से आन्तरिक जगत में प्रवेश करता है। अर्थात वह अन्तर्मुखी होकर आत्म तत्व को जानने लगता है, और अन्ततोगत्वा समाधि एवं कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर लेगा।

महर्षि पतंजलि ने समाधि अथवा कैवल्य की स्थिति को प्राप्त करने के लिए चित्त की वृत्तियो को रोकने के लिए अभ्यास वैराग्य की साधना बतायी है। अभ्यास के साधनो द्वारा व वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियो को रोका जा सकता है, तथा अभ्यास और वैराग्य के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सम्भव है।

6.8 शब्दावली –

- वृत्ति – गोल गोल घूमना, वर्ताव करना
- अभ्यास – किसी कार्य को बार – बार करना
- वैराग्य – बिना राग के
- अविनाशी – नाश ना होने वाला
- सुविज्ञ – अतिश्य, चतुर
- सुजान – चतुर निपुण
- जड़मति – मूर्ख
- दीर्घकाल – लम्बा समय
- निरन्तरता – लगातार
- निरोध – रोकना, नियन्त्रण करना
- प्रच्छर्दन – अन्दर स्थित वायु को नासारन्ध्रो से बाहर छोड़ने की क्रिया
- विधारण – छोड़ी गयी वायु को वही रोके रखने की प्रकिया
- आकांक्षाए – इच्छाए, अभिलाषाए
- जाग्रति – जागरण की अवस्था

6.9 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर –

1. क– ब. ख– स. ग– द. घ– ब.
ड़– ब. च– द. छ– ब.

6.10 – सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1 – विज्ञानानन्द सरस्वती (2003), योग विज्ञान। योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।

2 – कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।

3 – निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।

4 – पाण्ड़ेय राजकुमारी(2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली

5 – व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।

6 – योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।

7 – मिश्र जगदीशचन्द्र (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

6.11 निबन्धात्मक प्रश्न –

1– अभ्यास क्या है? अभ्यास में दृढ़ता के उपाय बताइये।

2– अभ्यास के साधनो का वर्णन करते हुए, अभ्यास तथा वैराग्य का उद्धेश्य बताइये।

3– वैराग्य क्या है? अभ्यास एवं वैराग्य की साधना में बाधा पहुचाने वाले तत्वो का वर्णन कीजिए।

इकाई 7. यमों का स्वरूप एव उपयोगिता

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 यम का स्वरूप
7.4 यम के प्रकार
7.4.1 अहिंसा
7.4.2 सत्य
7.4.3 अस्तेय
7.4.4 ब्रह्मचर्य
7.4.5 अपरिग्रह
7.5 यमों की उपयोगिता
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.10 सहायक पाठ्य सामग्री
7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

योग के आठ अंग अर्थात अष्टांग योग सम्पूर्ण जीवन के अन्तःकरण की शुद्धि के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से उनको आचरण में लाने से चित्त के मलों का अभाव हो जाता है तथा चित्त सर्वथा निर्मल हो जाता है, योग के इन अनुष्ठानों को करने से योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक हो जाता है, अर्थात उस योगी को आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखाई देता है। शारीरिक व मानसिक दोषों का निराकरण होकर चित्त निर्मल हो जाता है।

'**योगदर्षनकार** के कथनानुसार ये आठ अंग निम्न है – **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि।** इन आठ अंगों में प्रथम दो अंग यम तथा नियम मनुष्य के नैतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, यम मनुष्य में अन्तःकरण की शुद्धि में सहायक है, उससे सारी मलिनता दूर होकर प्रेम सौहार्द व सात्विक भाव उत्पन्न होता है, तथा आत्मिक शक्ति का विकास होता है।

प्रिय विद्यार्थियों प्रस्तुत इकाई में यम के स्वरूप व उपयोगिता का विस्तृत वर्णन की चर्चा की जा रही है –

7.2 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप –

- ❖ अष्टांग योग का पहला अंग यम का विश्लेषण कर सकेंगे।

- ❖ अहिंसा व सत्य का अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ अस्तेय व ब्रह्मचर्य का अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ अपरिग्रह का अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ यमों के फलों का अध्ययन करेंगे।
- ❖ यमों की उपयोगिता समझ सकेंगे।

7.3 यम का स्वरूप –

प्रिय विद्यार्थियों अष्टांग योग का प्रथम अंग यह है, यह यम ही योग की आधारशिला है, यह यम ही मनुष्य के व्यवहार की शुद्धि करते हैं तथा मनुष्य के अन्दर दिव्य गुणों का समावेश करते है, यम बर्हिमुखता से अन्तर्मुखता में प्रवेश है। यम से सामाजिक गुणों में वृद्धि होती है, यम के अभ्यास से जीवन पवित्र व सात्विक बन जाता है।

यम के विषय में विभिन्न ग्रंथों व उपनिषदों में इस प्रकार प्रकाश डाला गया है –

तेजबिंदू उपनिषद के अनुसार –

सर्व ब्रह्मेतिवै ज्ञानादिन्द्रियज्ञानसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुमुंहुः।। (तेजबिन्दू 1/17)

अर्थात सर्वब्रह्मा का ज्ञान हो जाने से होने वाला इन्द्रिय समूह का संयम ही यम कहलाता है।

त्रिषिखिब्राह्मणोपनिषद के अनुसार –

"**देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः।**" (त्रिषिखिब्राह्मणोपनिषद 2/28)

यम शरीर और इन्द्रियों में वैराग्य की स्थिति है, ऐसा बुद्धिमान लोग मानते है।

यम शब्द का अर्थ अष्टाध्यायी 3/3/63 में इस प्रकार से है – '**यम उपरमे**' अर्थात उपरम का साधन।

अर्थात जो निषिद्ध कार्यो से मुक्ति दिलाते है यम कहलाते हैं।

योग सुधा के अनुसार –

"**हिंसादिभ्यो निषिद्धकर्मभ्यो योगिनंयमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः।** (योग सुधा 2/30)

दूसरे शब्दों में यम शब्द का अर्थ नियमन करना भी है, अर्थात जिनसे चित्त पर नियंत्रण किया जा सके वही यम हैं।

प्रिय विद्यार्थियों यम की संख्या के विषय में प्राचीन आचार्यो के दो मत हैं।

एक मत के अनुसार यमों की संख्या 10 है। विभिन्न उपनिषदों में 10 यमों का वर्णन मिलता है जिनमें **शाण्डिल्योपनिषद, त्रिषिखिब्राह्मणोपनिषद, दर्षनोपनिषद तथा बराहोपनिषद आदि है –**

विभिन्न उपनिषदों में यमों का वर्णन इस प्रकार से है –

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दषा।।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, मिताहार और शौच ये 10 यम हैं।

दूसरे मत के अनुसार यमों की संख्या पाँच है – इनमें **महर्षि पतंजलि कृत पातंजल योगदर्षन में पाँच यमों** को स्वीकार किया गया है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः। (2/30)

अर्थात अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम है।

7.4 यम के प्रकार –

प्रिय विद्यार्थियों **महर्षि पतंजलि ने योगदर्षन** में पाँच यमों का वर्णन किया है– यम वस्तुतः हमारे व्यवहार को परिष्कृत करता है, यम के माध्यम से हम व्यवहार को परिष्कृत कर पाने में समर्थ होते है। हमारा व्यवहार जब शुद्ध, सरल होता है, तभी चित्त को एकाग्र करने में समर्थ हो सकते है। इसलिए **महर्षि पतंजलि** ने साधना में प्रवेश से पहले व्यवहार को परिष्कृत करने की शिक्षा दी है यम अष्टांग योग की प्रथम सीढ़ी है। जिसके द्वारा हम व्यवहार को शुद्ध कर साधना में प्रवृत्त हो सकते है।

प्रिय विद्यार्थियों यह यम निम्न प्रकार से है – पातंजल योग के अनुसार 2/30 में यम का वर्णन है –

7.4.1 अहिंसा –

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है – हिंसा का अभाव। अर्थात मन, वचन, कर्म से किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से दुःख नहीं देना, किसी भी प्राणी का अपमान न करना, उन्हें कष्ट ना देना, किसी से द्वेष भाव ना रखना।

महर्षि पतंजलि ने अहिंसा का वर्णन करते हुए लिखा है –

विर्तर्काहिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ क्रोधमोहपूर्वका
मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष– भावनम्।। (2/34)

अर्थात यम और नियम के विरोधी हिंसा आदि भाव विर्तक कहलाते है, इस प्रकार हिंसा तीन प्रकार की होती है।

- ❖ कृत – स्वयं की हुयी
- ❖ कारित – आज्ञा देकर करवायी हुयी
- ❖ अनुमोदित – अनुमोदन की हुई , अन्य के करने पर समर्थन करना।

इस प्रकार तीनों प्रकार की हिंसा का अभाव ही अहिंसा है।

इन तीनों प्रकार की हिंसा के कारण लोभ और मोह है। ये छोटे, मध्यम और अधिक मात्रा में भेद वाले है, ये दुःख और अज्ञान रूप है। क्योंकि इनका फल कई जन्मों तक भुगतना पड़ेगा। ये मनुष्य को दुःख देने वाले है, ऐसी प्रतिपक्ष की भावना करके इनसे दूर रहा जा सकता है।

प्रिय विद्यार्थियों विभिन्न वैदिक संहिताओं में अहिंसा को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

1. मानसिक अहिंसा 2. वाचिक अहिंसा 3. शारीरिक अहिंसा

1. **मानसिक अहिंसा –**_ मन वचन और कर्म से हिंसा का त्याग करना ही अहिंसा है। हिंसा आदि भाव का मुख्य केन्द्र बुद्धि ही है, बुद्धि ही भले व बुरे का निर्णय करती है। तथा वचन व कर्म में मन को प्रवृत्त करती है।

मन से किसी के प्रति द्वेष भाव, कुविचार, व किसी भी प्रकार घृणा भाव रखना भी एक प्रकार की हिंसा ही है। इस प्रकार कुविचार, द्वेष, हिंसा, ईर्ष्या आदि भावों को त्याग देना ही मानसिक अहिंसा है।

बुद्धि द्वारा किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट ना देना बौद्धिक या मानसिक अहिंसा है।

आत्मवत् सर्वभूतेषू का भाव ही पूर्ण रूप से अहिंसा है।

2. **वाचिक अहिंसा –** वाचिक हिंसा से तात्पर्य वाणी द्वारा की जाने वाली हिंसा, वाचिक हिंसा कई प्रकार से की जा सकती है। जैसे – वाणी द्वारा अपशब्द कहना, कटु वचनों से किसी का अपमान करना, किसी को मारने का निर्देश देना, किसी को अनिष्ट करने के लिए प्रोत्साहित करना आदि वाचिक हिंसा है। इन सभी कृत्यों का अभाव ही अहिंसा है। जैसा कि कहा गया है कि किसी शस्त्र से प्राप्त घाव भर जाते है, कटे हुए वन भी हरे – भरे हो जाते हैं। परन्तु कठोर वाणी से दिये गये घाव जीवन पर्यन्त नहीं भरते है।

अतः साधक को कटु वचनों का त्याग करना चाहिए, मधुर वचन बोलने चाहिए, यथा समयानुसार मौन साधना करनी चाहिए, जिससे वाचिक हिंसा पर नियन्त्रण किया जा सके।

3. **शारीरिक अहिंसा –** मानसिक हिंसा व वाचिक हिंसा के अभ्यास हो जाने पर शारीरिक हिंसा स्वयं ही रूक जाती है, शारीरिक हिंसा से तात्पर्य है, जीव हिंसा करना, अर्थ आदि की प्राप्ति के लिए हिंसा करना, स्वाद के वशीभूत होकर जीव हत्या कर भक्षण करना, आत्म रक्षा के लिए हत्या करना आदि,

जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है –
यो ऽहिंसकानि भूतानि हिनसयात्म सुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैवं न क्वचित्सुखमेधते।। (मनु 5 – 45)

अर्थात जो मनुष्य आत्मसुख के लिए हिंसा ना करने वाले जीवों का वध करता है। वह मनुष्य किसी भी जन्म में सुख नहीं पा सकता है। क्योंकि जब मनुष्य के पैर में सिर्फ काँटा चुभ जाता है तब उसे कितना कष्ट होता है। इसी प्रकार जब किसी जीव को मारा जाता है तो उस जीव को कितना कष्ट होता होगा यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

अतः प्रिय विद्यार्थियों उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सभी मानसिक, वाचिक, शारीरिक तीनों प्रकार की हिंसा का अभाव ही अहिंसा है।

❖ **अहिंसा का फल –** प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि के अनुसार जो साधक इन तीनों प्रकार की हिंसा का त्याग कर देता है, मन, वचन, कर्म से अहिंसा का पालन करता है उसे निम्न लाभ प्राप्त होता है –

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।" (पा0यो0सू0 2/35)

अर्थात 'अहिंसा' की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के समीप सभी प्राणी हिंसा का त्याग, वैर का त्याग कर देते हैं। अहिंसा का फल इस प्रकार प्राप्त होता है कि जो प्राणी इस अहिंसा व्रत का पालन करता है, उस मनुष्य से सभी प्राणी प्रेम करने लगते हैं। कितना भी हिंसक प्राणी हो वह वैर का त्याग कर देता है।

7.4.2 सत्य –

सत्य का अर्थ है मन, वचन, कर्म में एकरूपता। अर्थात मन और वाणी का व्यवहार अर्थ के अनुकूल होना। व्यवहारिक जगत में जो भी कोई विषय है उसे मन, बुद्धि, इन्द्रियों से जिस रूप से जाना या समझा जाए उसे ठीक वैसा ही दूसरों से प्रकट करना सत्य है।

जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है –

''**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न सत्यम् प्रियम्।**'

अर्थात सदा सत्य ही बोलना चाहिए। ऐसा वचन नहीं बोलने चाहिए जो सुनने में अप्रिय हो।

वषिष्ठ संहिता में कहा गया है –

'**सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न्याययर्थाभि भाषणम्।**

अर्थात प्राणी मात्र का हित करना और यर्थात सत्य वाणी का प्रयोग करना यही सत्य है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है –

अमेध्य वै पुरूषो यदनृतं वदन्ति

अर्थात असत्य भाषण करने वाला अपवित्र कहलाता है। वह कभी पवित्र नहीं बन सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है असत्य भाषण करने से मनुष्य का तेज नष्ट हो जाता है, उसको हमेशा भय रहता है। इच्छा शक्ति प्रबल नहीं रह पाती है।

क्योंकि जैसा कि कहा गया है – '**सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात्** अन्त में सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं।

प्रिय विद्यार्थियों जैसा कि वेदों में स्पष्ट है कि योग के साधक को सत्य का तीन प्रकार से पालन करना चाहिए – **मानसिक सत्य, वाचिक सत्य, कायिक सत्य।**

- **मानसिक सत्य –** राग – द्वेष, क्रोध, लोभ, काम आदि से रहित हुए मन से निश्चय करके उसे वाणी से व्यवहार में लाना मानसिक सत्य है। मानसिक सत्य का सबसे अधिक महत्व स्वीकार किया गया है।

  ऋग्वेद में मानसिक सत्य के महत्व का वर्णन करते हुए कहा है – जो साधक मन के अनुसार वाणी का व्यवहार करता है। व अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

  इस प्रकार सत्य के मार्ग पर चल कर योग मार्ग में प्रवृत्त होने वाले साधक की परमात्मा रक्षा करता है, उसके स्वभाव में प्रेरणा, धर्मयुक्त गुण एवं शारीरिक व आत्मिक बल प्रदान कर उसे मोक्ष प्राप्त कराता है।

  (ऋग्वेद – 6/15/11)

- **वाचिक सत्य –** अहंकार और क्रोध के वशीभूत बोले जाने वाले असत्य व कटु वचनों का त्याग तथा प्रिय एवं मधुर सत्य बोलना वाचिक सत्य है।

वेदों में वर्णन किया गया है कि वाणी से सत्य भाषण करने पर अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। तथा सत्य भाषण ही ब्रह्म प्राप्ति में सहायक है।

- **कायिक सत्य –** मन तथा वाणी के अनुरूप सत्य का आचरण करना कायिक सत्य कहा जाता है, अर्थात शरीर के द्वारा सत्य धर्मयुक्त कार्यो को करना, सत्य को जीवन में, स्वभाव में उतारना, यही कायिक सत्य है।
- **सत्य का फल –** प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि के अनुसार जो साधक इन तीनों प्रकार (मानसिक, वाचिक, कायिक) से सत्य का पालन करता है, अर्थात मन, वचन, कर्म से सत्य का पालन करता है, तो उसे निम्न लाभ प्राप्त होता है –

  '**सत्यं प्रतिष्ठायां क्रियाफलाऽऽश्रयत्वम्। (पा0यो0सू0 2/36)**

अर्थात सत्य की प्रतिष्ठा होने पर उस योगी में क्रिया फल के आश्रय का भाव आ जाता है,

अर्थात उस योगी की वाणी में ऐसी अमोघ शक्ति आ जाती है, वह जो कहता है वह हो जाता है।

महर्षि व्यास जी ने सत्य के फल का वर्णन इस प्रकार किया है –

''अमोघास्य वाग्भवति''

अर्थात सत्य प्रतिष्ठित व्यक्ति का वाक्य अमोघ होता है।

प्रिय विद्यार्थियों जैसा कि स्पष्ट है कि सत्य की महत्ता अनंत होती है, साधक सत्य के बल पर सब कुछ प्राप्त कर सकता है, वह जो कुछ भी कहता है, सत्य हो जाता है, वह किसी को श्राप या आर्शीवाद जो भी देता है, वह फलित हो जाता है।

7.4.3 अस्तेय –

यम का तीसरा अंग अस्तेय है। स्तेय का शाब्दिक अर्थ है – अनाधिकृत पदार्थ को अपना लेना, तथा इसका बुद्धि, वचन व कर्म से त्याग कर देना ' अस्तेय' है।

शाण्डिल्योपनिषद में कहा गया है –

'' अस्तेयं नाम मनोवाक् कायकर्मभिः परद्रव्येशु निस्पृहता।''

अर्थात मन, शरीर और वाणी से दूसरों के द्रव्य (वस्तु) की इच्छा न करना अस्तेय है ।

योग के साधक को बौद्धिक अस्तेय, वाचिक अस्तेय तथा शारीरिक अस्तेय का पालन करना चाहिए।

- ❖ **बौद्धिक अस्तेय –** बौद्धिक अस्तेय से तात्पर्य 'परद्रव्येषु अनभिध्यानम्' अर्थात दूसरों के किसी भी भौतिक सुख सम्पदा, पदार्थो की ओर ध्यान न देना, अथवा दूसरे के किसी भी द्रव्य (अन्न, वस्त्र, सम्पत्ति, विद्या आदि) किसी भी पदार्थ को प्राप्त करने की ईच्छा उत्पन्न ना होना। वह पदार्थ जो हम स्वयं पुरूषार्थ से प्राप्त ना किये हो अथवा वह पदार्थ हमें किसी ने उपहार या पुरस्कार स्वरूप ना दिया हो।

इस प्रकार जो साधक चोरी या पर द्रव्य हरण का विचार भी मन से हटा देता है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा, आदि के वशीभूत नहीं होता है। इस तरह का विचार उसके वचन और कर्म में नहीं आता है। यही बौद्धिक अस्तेय है।

- ❖ **वाचिक अस्तेय –** वचनों द्वारा किसी को चोरी व गलत कार्यो में प्रवृत्त न करना वाचिक अस्तेय है। स्वयं गलत कार्य ना करना, व दूसरों को किसी भी विषय या वस्तु के मोह में फँसाकर चोरी करा देना वाचिक स्तेय है।

किसी के प्रश्न पूछने पर, प्रश्न का अधूरा उत्तर देकर टाल देना, जैसा देखा, सुना उसे वैसा ना कह कर अन्य रूप में प्रकट करना वाणी का स्तेय है।

जैसा देखा, सुना, जाना व समझा उसे वैसा ही प्रकट कर देना वाणी का अस्तेय है।

प्रिय विद्यार्थियों वाचिक अस्तेय का पालन करने के लिए मौन व्रत अति सहायक होता है।

- ❖ **शारीरिक अस्तेय –** शरीर द्वारा किसी के पदार्थ की चोरी लूट आदि न करना तथा न दूसरे से न कराना यह शारीरिक अस्तेय है।

जैसा कि व्यास भाष्य में **महर्षि व्यास का** कथन है –

स्तेयमषस्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेध।

पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।। (यो0 व्यास भाष्य 2/30)

अर्थात शास्त्र निषिद्ध रीति से दूसरे के द्रव्यों का लेना स्तेय है तथा इसके विपरीत उन दूसरों की वस्तुओं में किसी प्रकार का राग ना होना, पर द्रव्य में राग का प्रतिशोध ही अस्तेय है।

- **अस्तेय का फल** – प्रिय विद्यार्थियों जो साधक तीनों प्रकार के अस्तेय का पालन करता है, उन्हे सभी प्रकार के रत्न प्राप्त होते है जैसा कि पातंजल योगसूत्र में वर्णन किया गया है –

'' अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्''।। (पा0यो0सू0 2/37)

अर्थात अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर सभी प्रकार के द्रव्य पदार्थ रत्न आदि प्राप्त हो जाते है। उस मनुष्य को किसी भी प्रकार के धन, रत्न का अभाव नहीं रहता है।

अर्थात अस्तेय की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर साधक को संसार के सभी ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

7.4.4 ब्रह्मचर्य – यम का चौथा अंग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात ब्रह्म में रमण करना, अर्थात ऐसा आचरण किया जाए जिससे ईश्वर की समीपता अधिक से अधिक प्राप्त हो सके।

शास्त्रों में कहा गया है –

'वीर्य धारणं ब्रह्मचर्यम् ।'

अर्थात शरीरस्थ वीर्य शक्ति की अविचल रूप में रक्षा करना ब्रह्मचर्य है।

भाष्कार महर्षि व्यास के अनुसार –

''ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम।''

अर्थात गुप्त इन्द्रिय (उपस्थेन्द्रिय) के संयम का ब्रह्मचर्य है।

याज्ञवल्क्य संहिता में ब्रह्मचर्य का वर्णन इस प्रकार से है –

'कर्मण मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते'।। (याज्ञवल्क्य संहिता)

अर्थात योगी को मन, वचन तथा कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि मन, वाणी तथा कर्म से मैथुन की इच्छा का परित्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

शास्त्रों में कहा गया है –

'न तपस्तप इत्याहुब्रह्मचर्य तपोन्यात्मम्।
ऊर्द्धरेता भवेद्रयस्तु सो देवो न तु मानुषः।।

ब्रह्मचर्य रूप तप से बढ़कर कोई तप नहीं है, वही सबसे श्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम तप है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य रूपी तप से उर्ध्वरेता बन जाते हैं वे मनुष्य होने पर भी देवता ही है।

ब्रह्मचर्य का फल – ब्रह्मचर्य के फल का वर्णन पातंजल योगसूत्र में इस प्रकार से है –

' ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (पा0यो0सूत्र 2 /38)

अर्थात ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को सामर्थ्य लाभ प्राप्त होता है, अर्थात साधक को तेज व ओज की प्राप्ति होती है। शरीर में अपरिमित शक्ति सामर्थ्य की प्राप्ति होती है।

7.4.5 अपरिग्रह– महर्षि पतंजलि ने अपरिग्रह को पंचम यम के रूप में लिया है।

प्रिय विद्यार्थियों संचय वृत्ति का त्याग अपरिग्रह है।

अपरिग्रह अर्थात आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह ना करना अर्थात जीविकोपार्जन के लिए ही संग्रह करना।

भाष्यकार व्यास ने वर्णन किया है –

विषयाणामर्जन रक्षणक्षय सड़गहिंसादोष –

दर्षनादस्वीकरणपरिग्रहः। (योग0सू0 2/30)

अर्थात ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के विषयों के उपार्जन व संग्रह करने में, तथा उनकी रक्षा करने में, उनको स्थिर रखने में हिंसा तथा उनकी क्षीणता में होने वाले बौद्धिक कष्टों को देखकर उन पर विचार करके इन्हें बुद्धि, वचन, कर्म से स्वीकार ना करना अपरिग्रह है।

प्रिय विद्यार्थियों अपरिग्रह को भी तीनों प्रकार से समझा जा सकता है –

1. **बौद्धिक अपरिग्रह –** जब मनुष्य की बुद्धि गुण – दोष का निर्णय कर इन विषयों के ग्रहण, रक्षण आदि में अकल्याण तथा हिंसा आदि पाप का निश्चय करती है, तथा उन्हें सर्वथा ग्रहण नहीं करती है तथा लोभ – मोह, काम – क्रोध व भय ग्रस्त होकर किसी भी देश, काल दिशा अवस्था में भी विषयों को अस्वीकार कर देती है। यह बौद्धिक अपरिग्रह कहा जाता है, तथा विषयों का सेवन या उपभोग बौद्धिक परिग्रह है।
2. **वाचिक अपरिग्रह –** वाणी पर संयम ही वाचिक अपरिग्रह है। जैसे असत्य भाषण, छलकपट कर कठोर वचनों को ना बोलना, किसी की निन्दा न करना, काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर आचरण करना, अधिक बोलना, सभी देश, काल जाति में वाणी का दुरूपयोग ना करना, **'वाचिक अपरिग्रह' है।** वाणी के द्वारा दूसरों को विषयों में प्रवृत्त करना, अनावश्यक याचना, किसी का उपहास करना आदि सभी वाणी का परिग्रह है। इसके विपरीत वाणी का अपरिग्रह मौन है।
3. **शारीरिक अपरिग्रह –**_ अपनी यर्थाथ आवश्यकता से अधिक धन, भूमि, वस्त्र आदि का उपार्जन तथा संग्रह ना करना शारीरिक अपरिग्रह कहलाता है।

जैसा कि कहा गया है कि चारों आश्रम में अपरिग्रह का पूर्ण रूप से पालन किया जाए तथा अपनी निजी आवश्यकता को मनुष्य कम करें, उतनी ही सामग्री ग्रहण करे जितनी आवश्यक हो तो मनुष्य सुख से रह सकेगा। इसके लिए मनुष्य को लोभ – मोह तथा तृष्णा के वशीभूत होकर पदार्थो का संग्रह नहीं करे तथा दूसरे मनुष्यों के ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या ना करें। तथा किसी भी विशेष देश, काल, परिस्थिति में लोभ – मोह से ग्रसित होकर अधिक धन का संग्रह न करना ही शारीरिक अपरिग्रह है।

अपरिग्रह का फल – महर्षि पतंजलि अपरिग्रह का फल बताते हुए स्पष्ट करते है कि –

''अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथन्तासंबोध'' (पा0यो0सू02/39)

अर्थात अपरिग्रह के दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को पूर्व जन्म में क्या थे ? की स्मृति हो जाती है, पूर्ण परिग्रह प्राप्त हो जाने पर जन्म वृतात का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अर्थात पूर्व जन्म का तथा अगले जन्म में क्या होने वाला है ? इसका ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि परिग्रह को जब त्याग दिया जाता है तब मन शुद्ध हो जाता है, और इससे पूर्व जन्म व अगले जन्म का ज्ञान हो जाता है। अर्थात तीनों कालों में आत्मस्वरूप की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

7.5 यमों की उपयोगिता –

पातंजल योगदर्शन में पाँच यम बताए गये हैं। जिनका वर्णन इस प्रकार से किया गया है

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योग दर्शन 2/30)

अर्थात अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम होते है।

ये पाँचों यम सभी के लिए उपयोगी है। यमों का पालन करने से व्यवहार शुद्ध होता है। यम अवांछनीय कार्यो से मुक्ति दिलाते है –

इन पाँचों यमों का पालन करने से मनुष्य जीवन उच्च स्तर का बन जाता है। यह मानव स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है। इसलिए महर्षि पतंजलि ने इन्हें महाव्रत की संज्ञा दी है – इसका वर्णन इस प्रकार से है –

'' **जाति देश कालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्''। (योग दर्शन 2/31)**

अर्थात जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर ये यम, महाव्रत हो जाते हैं।

अर्थात इन सभी यमों का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात सबके साथ सब जगह और सभी समय समान भाव से किया जाता है। तब ये महाव्रत हो जाते है।

जैसे यदि कोई व्यक्ति ने नियम लिया कि मैं मछली के सिवा किसी अन्य जीव की हिंसा नहीं करूँगा, तो इस प्रकार का नियम जाति – अविच्छन्न अहिंसा है।

इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति ऐसा नियम लेता है कि मैं तीर्थ क्षेत्र में हिंसा नहीं करूँगा, तो यह **देश अवच्छिन्न** अहिंसा है।

इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति एकादशी, चतुर्दशी या कोई अन्य तिथि में हिंसा का परित्याग का नियम लेता है तो यह काल अवच्छिन्न अहिंसा है।

इसी प्रकार समय विच्छिन्न अहिंसा है।

इस प्रकार सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन जाति – देश, काल व समय के प्रतिबंधित होने के कारण ये व्रत यम कहलाते हैं।

इन व्रतों में जब जाति देश काल का प्रतिबंध नहीं होता है, जब समस्त प्राणियों तथा सभी देशों में सदा इनका पालन किया जाता हो तो ये महाव्रत कहलाते हैं।

इन महाव्रतों का हमारे शरीर पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यही बात महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में इनके फल के रूप में हमें समझाई है कि इनकी क्या उपयोगिता है – इनकी शास्त्रों के अनुसार उपयोगिता निम्न है –

- ❖ **शास्त्रों के अनुसार यमों की उपयोगिता –** अहिंसा को सभी धर्मो ने एकमत से इसके महत्व को स्वीकार किया है। अहिंसा के द्वारा प्रत्येक प्राणी को अभयता प्राप्त होती है। भारतीय प्राचीन शास्त्रों में विशेषतः उपनिषदों में भी अहिंसा की चर्चा की गयी है।

अहिंसा की उपयोगिता बताते हुये **महर्षि पतंजलि** ने कहा है –

''अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अर्थात अहिंसा की स्थिति दृढ़ हो जाने पर उस योगी के निकट सभी हिंसक प्राणी वैर त्याग कर देते हैं।

अहिंसा का पालन करने वाले व्यक्ति के ह्रदय में सत्य गुणों का उदय होता है, जिस कारण उसके स्वभाव में मृदुता, सरलता, नम्रता अदि गुणों का समावेश हो जाता है।

अहिंसा का पालन करने से मानसिक विकार दूर हो जाते है। उसका चित्त सदैव प्रसन्न रहता है। अतः क्रोध आदि भावों से दूर हो साधक का चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है, तथा परस्पर प्रेम और सौहार्द बढ़ता है।

❖ सत्य का पालन करने से साधक की वाणी पर सदा नियंत्रण रहता है। साधक की वाणी में अमोघ शक्ति आ जाती है। जैसा कि **महर्षि पतंजलि** ने कहा है –

सत्यंप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।। (पा0 यो0 सू0 2/36)

अर्थात सत्य की प्रतिष्ठा (दृढ़ स्थिति) हो जाने पर योगी में क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है। जब योगी असत्य का सर्वथा त्याग कर देता है, तब उस साधक की वाणी में अमोघ शक्ति आ जाती है। उसकी वाणी व्यर्थ न होने वाली हो जाती है। वह जो कुछ कहता है वह सफल हो जाता है। उसका प्रत्येक वचन बोलने रूप क्रिया का आश्रय बन जाता है। वह योगी यदि किसी अधार्मिक व्यक्ति को धर्माचरण का मार्ग दिखाता है, तो अधार्मिक व्यक्ति पर उसकी वाणी का ऐसा प्रभाव होता है कि वह धर्माचरण करने लगता है। ऐसे इतिहास में अनेकों उदाहरण देखने को मिलते है – जैसे – **महात्मा बुद्ध की वाणी** के प्रभाव से अंगुलीमाल नामक डाकू का जीवन परिवर्तित हो गया। इस तरह वाणी के प्रभाव से जीवन परिवर्तन के अनेकों उदाहरण देखने को मिलते हैं।

योगाभ्यासी को सदैव सत्य का आचरण करना चाहिए क्योंकि विद्वानों ने सत्य को वाणी का आभूषण कहा है। वाणी में जब सत्य की प्रतिष्ठा रहती है व्यक्ति को किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। सत्य की ऐसी शक्ति होती है कि मिथ्याभाषी उसके आगे टिक नहीं सकता है। झूठ बोलने वाला सदा अपमानित ही होता है तथा समाज में उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं रहती है। सत्याचरण से साधक के वाणी की शुद्धि, मन की शुद्धि होती है। वह मानसिक दृष्टि से सबल होता है। सत्यभाषी को आन्तरिक बल प्राप्त होता है। लोभ, मोह, क्रोध, भय आदि आन्तरिक शत्रुओं पर वह विजय प्राप्त कर लेता है। अतः सत्याचरण परम्हितकारी समस्त प्राणियों के लिए कल्याणकारी तथा आत्म श्रेयस्करी होता है।

❖ अस्तेय का सामान्य अर्थ है। चोरी ना करना, इसके विपरीत स्तेय का अर्थ है चोरी करना। यह एक ऐसी क्रिया है कि जिसका संबंध मन से तथा शरीर से है, क्योंकि मनुष्य का मन जब स्वार्थ से भरा होता है, तथा लोभ का भाव होता है, तभी मन अन्य दूसरों की वस्तु को प्राप्त करने को प्रेरित करता हे। इस मन की प्रेरणा से ही व्यक्ति परद्रव्य हरण आदि कर्मो में प्रवृत्त होता है। यह निदंनीय चोर कर्म स्तेय है, और इनका मन, वचन, कर्म से बचना ही अस्तेय कहलाता है।

जब साधक अस्तेय में दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाता है। इन सभी निन्दनीय कर्मो से रहित हो जाता है, तब उसे दूरश्रवण और दूरदर्शन जैसी सिद्धियाँ प्रकट होने लगती है। उस साधक को सभी रत्नों की प्राप्ति हो जाती है।

अस्तेय की प्रतिष्ठा का फल **महर्षि पतंजलि** ने इस प्रकार बताया है –

''**अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'' (पा0यो0सू0 2/37)**

अर्थात अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाने पर उस योगी को सभी रत्नों की प्राप्ति हो जाती है।

अर्थात साधक को संसार की सभी उत्तमोत्तम वस्तुएं उपलब्ध हो जाती है। क्योंकि सत्य और ईमानदारी का जीवन जीने वाले मनुष्यों को ईश्वरीय सहायता मिलती रहती है। वह कभी भी अभाव व संकट में नहीं रहता है। उसे सभी – रत्न (दैवीय – गुण) प्राप्त हो जाते है। जिसे अलौकिक सम्पदा कह सकते है।

महर्षि व्यास के अनुसार – अस्तेय की प्रतिष्ठा होने से सर्वरत्न उपस्थित हो जाते है।

स्वामी हरिहरानन्द – अस्तेय की प्रतिष्ठा द्वारा साधक का ऐसा निःस्पृहभाव मुखादि से विकीर्ण होता है कि उसको देखने से ही प्राणी उसे अतिमात्र विश्वास योग्य मानते हैं।

आचार्य श्रीराम शर्मा – पृथ्वी पर कहीं भी गुप्त स्थल में स्थित सभी तरह के वांछित रत्न वस्तु पदार्थ आदि उसके लिए प्रकट हो जाते है।

- ❖ यमों में चौथा अंग ब्रह्मचर्य है, ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्म + चर्या से बना है। इसका सामान्य अर्थ है, ब्रह्म में रमण करना, अर्थात मन को ब्रह्म में या ईश्वर में लगाये रखना ही ब्रह्मचर्य है। आत्मसत्ता उस परमसत्ता का ही एक अंश है। अतः उस आत्मसत्ता में रमण करना ब्रह्मचर्य कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करना एक प्रकार का तप है क्योंकि इस ब्रह्मचर्य नामक तप से अशुद्धियों का क्षय होता है। इन्द्रियां संयमित होती है। तथा साधक की आत्मिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा दृढ़ होने पर महर्षि पतंजलि ने इसका लाभ बताते हुए कहा है –

''ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'' (पा0यो0सू0 2/38)

अर्थात ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को सामर्थ्य लाभ प्राप्त होता है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – ब्रह्मचर्य द्वारा सारहानि शुद्ध हो जाने के कारण वीर्यलाभ होता है। जबकि अब्रह्मचर्य से शरीर तथा स्नायु आदि सबके सारहानि होती है।

आचार्य श्री राम शर्मा जी के अनुसार – ब्रह्मचर्य के बल द्वारा ही साधक अपने अनुकूल मार्ग को बिना किसी अवरोध के प्राप्त कर लेता है। मन, वचन तथा कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन करने से, आध्यात्मिक उन्नति होती है, तथा साधक को सभी उपलब्धियां प्राप्त हो जाती है। उसकी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक कार्यक्षमता में वृद्धि होने लगती है। आत्मबल में वृद्धि होने लगती है, तथा वह असामान्य कार्य करने में समर्थ हो जाता है, तथा उसे दीर्घायु लाभ मिलता है। इसलिए योग की सिद्धि में ब्रह्मचर्य का पालन अति आवश्यक है।

- ❖ पाँचवां अंग है **अपरिग्रह –** परिग्रह का अर्थ है **संचय करना, जमा करना** तथा अपरिग्रह का अर्थ है, संचय वृत्ति का त्याग। मन, वचन, कर्म से आवश्यकता से अधिक धन, वस्त्र अनावश्यक विचार आदि। संचय वृत्ति का त्याग ही अपरिग्रह हैं किसी भी वस्तु से लेकर विचार तक के परिग्रह को समाप्त अथवा उपेक्षित करना ही अपरिग्रह हे।

आत्म कल्याण की दृष्टि से अपरिग्रह का पालन अवश्य करना चाहिए। अपरिग्रह से तात्पर्य अनीतिपूर्वक कमाये गये धन से मानना चाहिए। अर्थात मनुष्य का जीवन सादा हो, जिसमें वह दैनिक आवश्यकताओं, भोजन, वस्त्र एवं निवास संबंधी आवश्यकता को पूर्ण कर सके, अनावश्यक धन व वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए। क्योंकि परिग्रह जितना कम

होगा, उतनी ही उनकी देखभाल व चिंता उसे कम होगी, वह चिन्ता से मुक्त होगा, तथा उसे किसी भी प्रकार का अहंकार तथा भय नहीं होगा। अतः वह किसी भी प्रकार से लोभ से ग्रसित नहीं होगा। नीति और न्याय के मार्ग पर चलते हुए लोभ रहित परिग्रह उसके जीवन निर्वाह एवं लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होगा, क्योंकि आवश्यकता से अधिक परिग्रह हमेशा दुःखदायी होता है। क्योंकि परिग्रह के कारण ही मनुष्य अनेक अनैतिक कार्यो हिंसा आदि में प्रवृत्त होता है। धन संचय से लोभ बढ़ता है और लोभ से दुःखों में वृद्धि होती है। इस प्रकार परिग्रह अनेकों दुःखों का मूल है तथा इसके विपरीत अपरिग्रह का पालन करने वाला अपने चारों पुरूषार्थो को पूर्ण करता है।

महर्षि पतंजलि ने अपरिग्रह के फल का वर्णन करते हुए लिखा है –

'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः' (पा0यो0सू0 2/39)

अर्थात अपरिग्रह की स्थिति दृढ़ हो जाने पर पूर्व जन्म में कैसे हुए थे इसका ज्ञान हो जाता है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – ''शरीर के भोग्य विषय में परिग्रह द्वारा तुच्छता का ज्ञान होने से शरीर भी परिग्रह स्वरूप है, ऐसा जान पड़ता है।''

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – इस परिग्रह को त्याग देने पर मन शुद्ध हो जाता है, और इससे जो फल प्राप्त होते है, उनमें पूर्व जन्म की स्मृति का उदित होना प्रथम है।

इस प्रकार अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयों की आसक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है। तब मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? और मुझको क्या करना चाहिए ? तथा कौन से कर्म करने से उसका कल्याण होगा : आदि शुभ गुणों का विचार उस साधक के मन में आने लगते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपरिग्रह से भूत, भविष्य व वर्तमान का ज्ञान योगी को हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न –

1. सत्य / असत्य बताइये –

क) अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है, अहिंसा का अभाव।

ख) मन वचन कर्म में एकरूपता ही सत्य है।

ग) अस्तेय की प्रतिष्ठा से सभी रत्नों की प्राप्ति होती है।

घ) अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर सभी प्राणी वैर त्याग करते है।

ड़) सत्य की प्रतिष्ठा से वाणी में क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है।

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

क) महर्षि पतंजलि के अनुसार यमों की संख्या ....है।

ख) यम और नियम के विरोधी हिंसा आदि का भाव ....कहलाते हैं।

ग) साधक को कटु वचनों का ....करना चाहिए।

घ) बह्मचर्य अर्थात ....रमण करना।

ड़) जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर ये यम .... कहलाते हैं।

7.6 सारांश –

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियों अष्टांग योग में वर्णित यम मानव जीवन को सामाजिक एवं धार्मिक रूप से उत्कृष्ट करते है, यम पांच बताए गये है। **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य,**

अपरिग्रह। ये मानव के व्यवहार को परिष्कृत करते है। मनुष्य को अवांछनीय तत्वों से मुक्त करते है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पांचों जब किसी भी देश, काल, जाति और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम हो जाते है, तब ये महाव्रत कहलाते है। यम का पालन करने के रूप में **महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन** में उन कर्तव्य कर्मो की शिक्षा दी है। जिनके बिना समाज का अस्तित्व तथा स्थिरता कायम नहीं रह सकती है, तथा इनके पालन से सामाजिक अस्तित्व व उत्कृष्ट जीवन तथा आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है। व्यवहार को परिष्कृत करके ही हम अष्टांग योग की दूसरी सीढ़ी नियम में प्रवेश पा सकते है। जब तक व्यवहार शुद्ध नहीं होगा मनुष्य अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता।

अतः **व्यवहार को परिष्कृत** कर अपने लक्ष्य को पाया जा सकता है।

7.7 शब्दावली –

- ❖ उपरम – निवृत्ति
- ❖ अनाधिकृत – अवैधानिक
- ❖ अस्तित्व – विद्यमानता
- ❖ उत्कृष्ट – श्रेष्ठ
- ❖ तुच्छता – नीचता, अल्पता
- ❖ अवच्छिन्न – पृथक किया हुआ।

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क. असत्य ख. सत्य ग. सत्य घ. सत्य ड़ सत्य
2. क. पाँच ख. विर्तक ग. त्याग घ. ब्रह्म में ड़ महाव्रत

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. शास्त्री राजवीर, (2005) **पातंजल–योगदर्शन–भाष्यम्**। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली।
2. पाड्या प्रणव, (2011) **अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञानविज्ञान (भाग2)**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
3. दशौरा नन्द लाल, (2006) **योगदर्शन**।
4. शर्मा श्री राम, (1982) **सांख्य दर्शन एवं योगदर्शन–भाष्यम्**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार।
5. जैन राजकुमार, (2011) योग और आयुर्वेद। चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली।
6. सरस्वती दिव्यानन्द, (1999) **वेदों में योग विद्या।** यौगिक शोध – संस्थान, योगधाम ज्वालापुर हरिद्वार ।

7.10 सहायक पाठ्य सामग्री –

1. करंबेलकर, पु0वि0, (1989) **पातंजल योगसूत्र**। कैवल्यधाम।
2. पन्त पूर्णचन्द्र, (2002) **योग विज्ञान**। पूर्णचन्द्र पंत्र शास्त्री नाहन हिमाचल प्रदेश।

7.11 निबंधात्मक प्रश्न –

प्रश्न 1. यमों का फल सहित विस्तृत वर्णन कीजिए।
प्रश्न 2. यमों की उपयोगिता पर निबन्ध लिखिए।

इकाई – 8 नियम का स्वरूप व उपयोगिता

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 नियम का स्वरूप
8.4 नियम के प्रकार
8.4.1 शौच
8.4.2 सन्तोष
8.4.3 तप
8.4.4 स्वाध्याय
8.4.5 ईश्वर प्रणिधान
8.5 नियम की उपयोगिता
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.10 सहायक पाठ्य सामग्री
8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना –

प्रिय विद्यार्थियो इससे पूर्व की इकाई में आपने यम का स्वरूप व उसकी उपयोगिता का अध्ययन किया, अष्टांग योग का पहला अंग यम मनुष्य के आचरण को, व्यवहार का शुद्ध करता है, मनुष्य का चरित्र शुद्ध होने पर ही वह साधना में प्रवृत्त हो सकता है। साथ ही जब यम का पालन पूरी तरह कर लिया जाए तो अच्छे संस्कारों का उदय होता है। यम के बाद दूसरा स्थान **नियम** का है। यम वह नियम एक पक्षी के दो पंखों के समान है।

जिस प्रकार यम से व्यवहार शुद्ध होता है , ठीक उसी प्रकार नियम आन्तरिक अनुशासन है। नियम पाँच है : **शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान।** ये नियम हमारे जीवन की कार्य पद्धति में बदलाव लाते हैं तथा अनुशासन में रहना सिखाते है। शौच के द्वारा शारीरिक व मानसिक शुचिता प्राप्त होती है। अन्तःकरण शुद्ध होकर मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है। सन्तोष से उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। तप से अशुद्धियों का क्षय होता है और इन्द्रिया वश वर्तिनी होती है। स्वाध्याय के अभ्यास से अन्तप्रज्ञा जाग्रत होती है और नियम का अन्तिम अंग ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। इस प्रकार नियम के द्वारा मनुष्य का जीवन पूर्णतः शुद्ध व सात्विक बन जाता है।

8.2 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप –

- ❖ अष्टांग योग का दूसरा अंग नियम का विश्लेषण कर सकेंगे।
- ❖ शौच, व सन्तोष का अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ तप, स्वाध्याय को समझ सकेंगे।
- ❖ ईश्वर प्रणिधान का विस्तृत अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ नियम के फल सहित अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ नियम की उपयोगिता समझ सकेंगे।

8.3 नियम का स्वरूप –

यमों के साथ नियमों का पालन भी आवश्यक है। यमों में मानसिक भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। यह मनुष्य की सामाजिक एवं वाह्य क्रियाओं को सामजस्यपूर्ण बनाते है, तो नियम से मनुष्य जीवन का नियमन होता है। यम और नियम साधक के लिए क्रमशः सामाजिक और व्यैक्तिक उपलब्धि है।

वेदों में यम और नियम को एक पक्षी के दो पंखों के समान कहा है। जिस प्रकार पक्षी अपने दोनों पंखों के फड़फड़ाने पर ही आकाश में विचरण करते है, उसी प्रकार योगी को भी यम, नियम का समान भाव से पालन करना अनिवार्य है। तथा इसके पालन से ही वह योग साधना के पथ पर अग्रसर होता है। योग के आठ अंगों में यम के बाद नियम का वर्णन किया गया है। महर्षि पतंजलि ने नियम पाँच बताये है। परन्तु विभिन्न ग्रन्थों में उपनिषदों में नियमों की व्याख्या व परिभाषाएं व संख्या भिन्न प्रकार से मिलती है। **याज्ञवलक्य संहिता में** नियमों की संख्या 10 बताई गयी है। जिसका वर्णन इस प्रकार से है–

"तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीष्वर पूजनम्।
सिद्धान्तवाक्य श्रवणं ह्रीमती च जपो हुतम्।
नियमादष प्रोक्ता योग शास्त्र विषारदैः।।" (याज्ञवल्क्य संहिता)

अर्थात तप, सन्तोष, ईश्वर तथा वेद पर विश्वास, दान, सिद्धान्त वाक्यों को सुनना, जप, ध्यान, लज्जा, मति तथा अग्निहोत्र ये दस नियम कहलाते है।

भागवत् स्कंद में नियम 10 बताये गये हैं –

" शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतित्यं चार्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्।।"

(भागवत् स्कन्द 11 अ0 20 श्लोक 34)

अर्थात शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि सत्कार, ईशभक्ति, तीर्थ भ्रमण, परहित की भावना, सन्तोष तथा गुरू या आचार्य की सेवा, ये 11 (ग्यारह) नियम है।

विभिन्न उपनिषदों में नियम की व्याख्या की गयी है –

शाण्डिल्य उपनिषद में तथा दर्षनोपनिषद में भी नियम का वर्णन मिलता है।

बराहोपनिषद तथा त्रिषिखीब्रह्मणोपनिषद व दर्षनोपनिषद में भी दस नियमों का प्रतिपादन किया गया है।

वैदिक मतानुसार पाँच प्रकार के नियमों का उल्लेख संहिताओं में मिलता है। जिनका उल्लेख महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इस प्रकार किया है –

8.4 नियम के प्रकार –

शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। (पा0यो0सू0 2/32)

अर्थात शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम है।

8.4.1 शौच –

शौच शब्द की निष्पत्ति शुचि शब्द में अण् प्रत्यय लगाकर होती है। जिसका अर्थ है, पवित्रता, परिशुद्धि, सफाई। शौच से तात्पर्य शारीरिक, मानसिक व वाचिक शुद्धि से है। जिसमें निन्दतों का संग ना करना आदि है। शौच या शुद्धि को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है –

अ) **वाह्य शुद्धि –___ 1. शारीरिक शुद्धि 2. वाचिक शुद्धि**

ब) आन्तरिक शुद्धि – मानसिक शुद्धि

अ) वाह्य शुद्धि – वाह्य शुद्धि वह है जिसके अन्तर्गत शारीरिक शुद्धि तथा वाचिक शुद्धि आते है।

''आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तुः।'' (यर्जुवेद 4/2)

शारीरिक शुद्धि के अन्तर्गत सत्याचरण से मानव व्यवहार की शुद्धि, विद्या व तप से पंचमहाभूतों की शुद्धि ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि आदि होती है। शारीरिक शुद्धि पवित्र जल से स्नान आदि द्वारा होती है। शारीरिक शुद्धि के लिए जल अत्यन्त उपयोगी, रोगनाशक व पुष्टिकारक व ब्रह्मचर्य में सहायक प्राणों को धारण करने वाला माता – पिता के समान पालन करने वाला है।

वचिक शुद्धि के अन्तर्गत सत्याचरण, स्पष्ट व्यवहार व वाणी को पवित्र करने के लिए मन्त्रोचारण एवं शुद्ध शब्दोचारण आदि आता है। मधुर भाषा द्वारा ही वाणी की शुद्धि सम्भव है। अतः योग साधना में तत्पर साधकों के लिए वाणी का शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

ब) आन्तरिक शुद्धि – अन्तःकरण में उठने वाले भावों की शुद्धि आन्तरिक शुद्धि कहलाती है। दूषित भावनाओं को समाप्त करने के लिए तथा पवित्र मानसिक भावनाओं को जाग्रत करने के लिए सत्संग, साधना, प्राणायाम, ध्यान आदि साधना करना ही आन्तरिक शुद्धि है। धर्म में कमाया धन, कर्मो तथा सात्विक खान – पान से मानसिक भावों का परिष्कार होता है।

मानसिक शुद्धि ईर्ष्या, अभिमान, घृणा आदि मन के मलों को योगसूत्र में बताये गये उपाय (मैत्री, करूणा, मुदिता, उपेक्षा – 1/31) द्वारा दूर करना, तथा मन में आने वाले बुरे

विचारों को अच्छे विचारों से दूर करना तथा शुद्ध व्यवहार द्वारा दुर्व्यवहार को हटाना ही मानसिक (शौच) शुद्धि है। योगसूत्र में शौच के फल के विषय में कहा गया है –

शौचत्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (पा0यो0सू0 2/40)

अर्थात शौच (पवित्रता) के पालन से अपने अंगों में वैराग्य (घृणा) और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा होती है। **महर्षि पतंजलि** ने अगले सूत्र में वर्णन किया है –

सत्वषुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्म दर्षन योग्यत्वानि च। (पा0यो0सू0 2/41)

अर्थात इसके सिवाय शौच से **'अन्तःकरण'** की शुद्धि होती है, तथा चित्त एकाग्र होता है, मन में प्रसन्नता, इन्द्रिया वश में होती है तथा आत्म दर्शन की योग्यता आती है।

8.4.2 सन्तोष –

सन्तोष शब्द तुष शब्द एवं तुष प्रीतौ धातु से निर्मित हुआ है। सन्तोष का अर्थ है – समयक् प्रकार से तुष्टि एवं प्रीति। अर्थात शरीर द्वारा पूर्ण पुरूषार्थ कर उससे प्राप्त धन से अधिक का लालच ना करना तथा न्यूनाधिक (कम – ज्यादा) की प्राप्ति पर शोक और हर्ष ना करना।

सन्तोष का पालन, मन, वचन तथा कर्म से करना अनिवार्य है,व साधक के लिए हितकारी है। सामान्य अर्थ में अन्तःकरण में सुतुष्टि का भाव जाग्रत होना ही सन्तोष है। अपने कर्तव्य कर्मो को करते हुए हमें प्रारब्ध कर्मो के कारण जो भी अर्थ लाभ हो उसी में संतुष्ट बने रहना सन्तोष है। हर परिस्थिति में सुख में, दुःख में, सदा सम बने रहना अपना धैर्य ना खोना तथा प्रसन्नचित्त बने रहना सन्तोष है। इसके विपरीत असन्तोष या तृष्णा ही दुःख का मूल है। सन्तोष का पालन मन, वचन एवं कर्म तीन प्रकार से पालनीय है –

1. **मानसिक सन्तोष –** मानसिक सन्तोष वह है। धन, सम्पत्ति व भोग सामाग्री की न्यूनता होने पर भी संतुष्ट रहना, समाज या ईश्वर या प्रारब्ध पर क्रोध, रोष या अधैर्य न करना, मानसिक सन्तोष है। वेदों में सन्तोष के पालन का आदेश इस प्रकार दिया गया है –

   'तेन व्यक्तेन भुज्जीथा मा गृधः कस्थस्विद्धनम्। (यजुर्वेद 40/1)

अर्थात 'सन्तोष बुद्धि उत्पन्न करने के लिए त्यागपूर्वक भोग करो किसी के धन की लालसा मत करो'। वेद का यह आदेश पालनीय है।

2. **वाचिक सन्तोष –** अत्यधिक बोलने का त्याग कर परिमित बोलना ही वाचिक सन्तोष है। किसी के कठोर वचन सुनकर या अपमानित होन पर भी आवेग में ना आना, विवाद ना करना, गुरूजनों व श्रेष्ठजनों के द्वारा प्रताड़ित होने पर प्रत्युत्तर ना देना तथा मौन धारण करना वाचिक सन्तोष के अन्तर्गत आता है। वेदों में वाचिक सन्तोष का वर्णन इस प्रकार किया है –

   ' वाचं वदतु शन्विाम्।
   वचं वदत भद्रया।। (अर्थववेद 3/30/2 – 3)

   अर्थात मधुर वाणी व भद्र वाणी तथा शान्तिमय वचन बोलने चाहिए, यही वाचिक सन्तोष है।

3. **शारीरिक सन्तोष –** ब्रह्मचर्य का पालन करना, सत्कर्मो का अनुष्ठान करना, दीन दुःखियों की सेवा करते हुए, काम , क्रोध आदि दोषों से प्रभावित न होना, हिंसा, चोरी आदि गलत कृत्य ना करना ही शारीरिक सन्तोष है।

इस प्रकार धन तथा भोग विलास को अनित्य जानकर सभी सांसारिक सुखों को गौण मानकर साधक का लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति का होना ही सन्तोष है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि सन्तोष का अर्थ जहाँ जो कुछ मिले उसी में संतुष्ट रहना है तो इसका अर्थ यह नहीं कि आलसी व भाग्य के भरोसे बैठे रहना सन्तोष है। शास्त्रों व वेदों में ऐसे आलसी व प्रमादी व परिश्रम ना करने वालों का विरोध किया गया है। योग सूत्र में सन्तोष का फल बताते हुए कहा गया है –

' संतोषादनुत्तमसुख लाभः।' (पा0यो0सू0 2/42)

चित्त में सन्तोष भाव प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को उत्तम सुख आनन्द की प्राप्ति होती है।

8.4.3 तप –

तप का तात्पर्य है। उचित रीति द्वारा उचित अभ्यास से शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन को वश मे करना। जिससे योग साधना काल में सर्दी – गर्मी, भूख – प्यास, हर्ष – शोक, मान– अपमान आदि द्वन्दों को सहन करते हुए साधना में डटा रहा जा सके, यही तप है।

योग मार्ग में अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो भी शारीरिक, मानसिक अधिक से अधिक कष्ट प्राप्त हो उसे सहर्ष सहन करना, इसका नाम तप है। परन्तु योग मार्ग में शरीर को कष्ट देकर, पीड़ा देकर इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होने या चित्त में अप्रसन्नता हो तो ऐसे तप को तामसी तप कहा गया है, और उसका निषेध किया गया है। वैदिक संहिताओं के अनुसार तप को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है – मानसिक तप, वाचिक तप तथा शारीरिक तप।

1. **मानसिक तप –** मानसिक तप वह है जब काम, क्रोध, मोह , ईर्ष्या आदि आन्तरिक अन्तर्द्वन्द से प्रभावित होने पर उनसे उत्पन्न दुर्भावों को दैवीय गुणों से युक्त भावों या सुविचारों से नष्ट करते रहना ही मानसिक तप है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कुविचार (आसुरी प्रवृत्तियों) को सुविचारों द्वारा नष्ट कर देना ही मानसिक तप है।
2. **वाचिक तप –** सत्य बोलना, प्रिय बोलना, शास्त्रों के अनुसार शुद्ध विचारों से युक्त वाणी, व्याकरण युक्त शुद्ध भाषा का प्रयोग करना तथा हास्यास्पद या छलयुक्त वचन का प्रयोग ना करना वाणी के तप कहलाते है। श्रीमद्भगवद् गीता में वाणी के तप या वाचिक तप के विषय में इस प्रकार कहा गया है –

   ''अनुद्वेगेकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्।
   स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तपउच्यते।।'' (गीता 17/15)

   अर्थात उद्वेग व आक्रोश ना करने वाला वाक्य तथा जो प्रिय एवं हितकारी हो सत्य हो और स्वाध्याय का अभ्यास ये सभी वाणी के तप है। इस प्रकार वाणी के तप द्वारा साधक को अमोध शक्ति प्राप्त होती है।
3. **शारीरिक तप –** शारीरिक द्वन्दो को सहन करना शरीर से शीत तथा उष्ण, भूख – प्यास सहन करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा योगानुष्ठान आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि करना शारीरिक तप है। शारीरिक तप से मानसिक पापों का क्षय होता है। अतः शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक तीनों तपों का साधक के जीवन में

अत्यधिक महत्व है। तीनों पालनीय है। श्रीमद्भगवद्गीता में शारीरिक तप का वर्णन करते हुए कहा गया है –

''देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तपउ च्यते।।'' **(गीता 17/14)**

अर्थात देव तुल्य आत्मदर्शियो, द्विजातियो, गुरूजनों तथा प्रज्ञाविवेक वाले साधकों का सत्कार करना व पवित्र आचरण सरलता का व्यवहार तथा अहिंसा का पालन करना आदि शारीरिक तप कहे जाते है। महर्षि पतंजलि ने वर्णन किया है कि तप के सिद्ध हो जाने पर या तप प्रतिष्ठित हो जाने पर शरीर में अशुद्धियों का नाश हो जाता है।

'कायेन्द्रियसिद्धिरषुद्धिक्षयात्तपसः।।' (पा0यो0सू0 2/43)

अर्थात तप से अशुद्धि का नाश हो जाने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। तप के द्वारा क्लेशों तथा पापों का क्षय होने पर शरीर में अणिमा , महिमा, आदि सिद्धियां आ जाती है और इन्द्रियों में दूर दर्शन, दूर श्रवण, दिव्य गन्ध, दिव्य रस आदि सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने की शक्ति आ जाती है।

8.4.4 स्वाध्याय –

स्वाध्याय का तात्पर्य वेद, उपनिषद, दर्शन आदि मोक्ष शास्त्रों का गुरूजनों, विद्वान तथा आचार्य से अध्ययन करना। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है। **'स्वस्थ अध्ययनं स्वाध्यायः'** अर्थात यह भी स्वाध्याय है। आत्म चिन्तन भी स्वाध्याय है। योग भाष्यकार व्यास जी ने लिखा है –

'स्वाध्यायः प्रणव श्रीरूद्रपुरूषसुक्तादि मन्त्राणां जप' मोक्षषास्त्राध्यय च।

'अर्थात प्रणव अर्थात ओंकार मन्त्र का विधिपूर्वक जप करना, रूद्रसूक्त तथा पुरूषसूक्त आदि मन्त्रों का अनुष्ठान पूर्वक जप करना, दर्शन उपनिषद एवं पुराण आदि आध्यात्मिक मोक्ष शास्त्रों का गुरू वाणी से श्रवण करना अर्थात अध्ययन करना स्वाध्याय है।

पं0 श्री राम शर्मा जी के अनुसार – 'अच्छी पुस्तकें जीवन्त देव प्रतिमायें है। जिनकी आराधना से तत्काल प्रकाश और उल्लास मिलता है।'

अतः स्वाध्याय का अभिप्राय केवल मात्र पुस्तकों, ग्रन्थों का अध्ययन मात्र नहीं है। साधक को चाहिए कि उनको समझ कर सार भाव को ग्रहण करना चाहिए तथा योग साधना में प्रयासरत रहे। क्योंकि स्वाध्याय से ही योग मार्ग का ज्ञान होता है तथा मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है। स्वाध्याय से ही उच्च विचारों का समावेश जीवन में होता है। स्वाध्याय का फल बताते हुए महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार लिखा है –

'स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः ।' (पा0यो0सू0 2/44)

अर्थात स्वाध्याय या प्रणव आदि मन्त्रों के उच्चारण से व साधना व जप करने से इच्छित देवता या ईष्ट देवता का दर्शन हो जाता है।

8.4.5 ईश्वर प्रणिधान –

नियम का अन्तिम अंग है ईश्वर प्रणिधान। ईश्वर की उपासना विशेष भक्ति भाव को ईश्वर प्रणिधान कहते है। महर्षि पतंजलि ने सामान्य श्रेणि (कोटि) के साधकों के लिए अष्टांग योग का वर्णन किया है। यम और नियम प्रथम व दूसरे अंगों के रूप में है। नियम का अन्तिम अंग है, ईश्वर प्रणिधान। इससे यह भाव परिलक्षित होता है कि जब सामान्य कोटि का साधक **यम, नियम** का पूर्ण रूप से पालन करता है, तभी ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित हो पाता है तब उसे ईश्वरीय कृपा प्राप्त होती है। ईश्वर प्रणिधान को व्यास भाष्य में इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

'ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन्यरमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। (व्यास भाष्य 2/32)

अर्थात उस परम गुरू परमेश्वर को सभी कर्मो को अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है। अतः **मन, वचन, कर्म, व बुद्धि से** ईश्वर के प्रति समर्पण ही ईश्वर प्रणिधान है। अथर्ववेद में वर्णन है – **हे वरणीय परमेश्वर हम जिस शुभ संकल्प इच्छा के साथ आपकी उपासन में लगे हुए है, आप उसमें पूर्णता प्रदान करें। सिद्धि दे और हमारे समस्त कर्म तथा कर्म फल आपके निमित्त अर्पित है। इसी का नाम ईश्वर प्रणिधान है।** महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान के फल बताते हुए कहा है –

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।' (पा0यो0सू0 1/23)

अर्थात ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है। सूत्र 2 / 45 में भी महर्षि पतंजलि ने यही बात कही है – **'समाधि सिद्धिश्वर प्रणिधानात्।'**

अर्थात ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है। अर्थात समाधि की सिद्धि प्राप्त हो जाने पर ईश्वरीय कृपा हो जाती है। साधक के मार्ग सभी विघ्न बाधा दूर हो जाती है। सभी कष्ट दूर हो जाते है, तत्पश्चात् योगसिद्धि बिना किसी विलम्ब के प्राप्त हो जाती है।

ईश्वर शरणागति एक ऐसा अकेला साधन है, जिसमें साधक अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार सहित पूर्ण रूपेण ईश्वर को समर्पित कर देता है। साधक का निजत्व समाप्त होकर वह ईश्वर की इच्छा के अनुकूल कार्य करने लगता है। साधक स्वयं को बॉस की पोगंरी की तरह खाली कर देता है और उसमें स्वर ईश्वर का होता है। वह अपने को पूर्ण रूपेण समर्पण कर देता है। जिससे ईश्वर उसका हाथ थाम लेता है। यही बात श्रीमद्भगवद् गीता में भी स्वयं श्री कृष्ण द्वारा कही गयी है –

**''अनन्यश्रिचन्तयन्तो मां ये जनाः र्प्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।''** **(गीता 9/22)**

अर्थात जो अनन्य प्रेमी भक्त जन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते है। उस नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरूषों का योगक्षेम मैं स्वयं करता हूँ। अर्थात् उसकी रक्षा के साथ – साथ भगवद् प्राप्ति के निमित्त साधन की रक्षा स्वयं करता हूँ।

8.5 नियम की उपयोगिता –

प्रिय विद्यार्थियों नियम स्वयं के व्यवहार में शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। अर्थात मनुष्य द्वारा स्वयं के व्यवहार को परिष्कृत करने के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया है, अर्थात मनुष्य द्वारा स्वयं के व्यवहार को परिष्कृत करने के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया नियम कहलाती है। नियम आत्मअनुशासन है।

नियम अष्टांग योग में दूसरे स्थान पर हैं तथा नियमों का उद्देश्य कुछ नियमित अनुष्ठानों द्वारा चित्त को अनुशासित कर मन के बिखराव को रोकना है।

नियमों का संबंध व्यक्तिगत जीवन से होता है। इसका उद्देश्य पवित्रता, सात्विकता एवं शान्ति को प्राप्त कर चित्त को एकाग्र करना है, पांचों नियम साधक की आन्तरिक शुद्धि करते हैं।

नियमों की शास्त्रीय उपयोगिता – प्रिय विद्यार्थियों नियमों के फल के रूप में महर्षि पतंजलि ने इनकी उपयोगिता का वर्णन योगसूत्र में किया है।

नियमों में पहला अंग है शौच। **शौच** का सामान्य अर्थ शुद्धि। यह शौच (शुद्धि) भी दो प्रकार की है। वाह्य और आभ्यान्तरिक शौच। वाह्य शुद्धि से तात्पर्य शारीरिक शुद्धि से है तथा आन्तरिक शुद्धि का तात्पर्य मानसिक शुद्धि से है। वाह्य शुद्धि से तात्पर्य स्नान आदि के द्वारा शारीरिक मलों का निष्कासन करना तथा उसे स्वच्छ रखना है तथा आन्तरिक शुद्धि से तात्पर्य मानसिक दोषों और विकारों का उपशमन करना अर्थात जितने भी काम **क्रोध, लोभ, मोह, बैर, द्वेष** आदि मनोविकार भावों का निष्कासन करना आन्तरिक शुद्धि है।

महर्षि पतंजलि ने ध्यान व समाधि के अभ्यास के लिए ये नियम निश्चित अनुशासन बताए है। शौच का पालन करने से निम्न लाभ की प्राप्ति होती है। जिसका वर्णन पतंजलिकृत योगसूत्र में निम्न है –

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।। (पा0 यो0 सू0 2/40)

अर्थात शौच का पालन करने से देह के प्रति उदासीनता तथा दूसरों के प्रति असंलग्नता का भाव जागता है।

अर्थात शौच का पालन करने से साधक उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जहाँ उसे अपने शरीर के प्रति भी द्वेष भाव उत्पन्न होने लगता है तथा शरीर व संसार के प्रति भी वैराग्य भाव उत्पन्न होने लगता है।

यह परिणाम **महर्षि पतंजलि ने वाह्य शौच का बताया है।**

महर्षि व्यास के अनुसार – अपने शरीर में जुगुत्सा या घृणा होने से शौचाचरणशील योगी कायदोषदर्शी और शरीर में प्रीति शून्य होते हैं।

स्वामी विवेकानन्द – जब यर्थाथ वाहय और और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के शौच सिद्ध हो जाते है तब शरीर के प्रति उदासीनता आ जाती है।

अर्थात जब योगी वाह्य शौच का पालन करते है तो योगी को अपने निज के शरीर में अशुद्धि बुद्धि होने से वैराग्य भाव आ जाता है। अर्थात वे देहभाव से ऊँचे उठ कर आत्मभाव में जीने लगते हैं।

आभ्यन्तर शौच का फल बताते हुए महर्षि पतंजलि कहते है –

"सत्वषुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्षनयोग्यत्वानि च ।। (पा0 यो0 सू0 2/41)

अर्थात चित्त की शुद्धि सत्व बुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता इन्द्रियों का वश में होना और आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है।

महर्षि व्यास के अनुसार – ये सब शौच स्थैर्य से प्राप्त होते हैं।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – शरीर भाव के द्वारा अकलुशित यह अवस्था ही आभ्यन्तर शौच है।

स्वामी विवेकानन्द – इस शौच के अभ्यास द्वारा सत्व पदार्थ का प्राबल्य होता है तथा मन एकाग्र और प्रफुल्लित हो जाता है।

प्रिय विद्यार्थियों आभ्यन्तर शौच से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, मन में प्रसन्नता, चित्त में एकाग्रता तथा इन्द्रियाँ वंश में हो जाती है। इन्द्रियों के वंश में होने से उन्हें ईश्वरोन्मुख किया जा सकता है, इसके पालन से आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है।

इस प्रकार शौच द्वारा बुद्धि की स्थूलता, मन की मलिनता चित्त की चचंलता और शरीर की अस्वस्थता दूर हो जाती है। मनुष्य को तमोगुण से मुक्ति मिलती है। मन के विकारों का उपशमन होता है तथा सत्वगुणों का उत्कर्ष हो जाता है।

- नियम का दूसरा अंग संतोष। साधक के जीवन में सन्तोष का सर्वाधिक महत्व है। साधारण अर्थो में यदि कहें तो अन्तःकरण में संतुष्टि का भाव जाग्रत होना ही सन्तोष है। जैसा कि '**दर्षनोपनिषद**' में कहा गया है कि पदार्थ मात्र में अनासक्त रहते हुए प्राप्त पदार्थ को स्वीकार करना और उससे अधिक की अभिलाषा ना रखना ही सन्तोष है। जब साधक अपनी इच्छाओं को नियंत्रित कर लेता है तब उसके जीवन में भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त करने की भावना नहीं रहती है। तब वह परम सुख का अनुभव करने लगता है।

  ''**जब आवै संतोष धन, सब धन धूलि समान**'' वास्तव में सन्तोषी साधक ही योग साधना में प्रवृत्त हो सकता है। **महर्षि पतंजलि** ने संतोष की साधना सिद्ध होने पर होने वाले लाभों का वर्णन इस प्रकार से किया है –

  ''सतोषादनुत्तम् सुखलाभः''।। (पा0यो0सू0 2/42)

  अर्थात सन्तोष से उत्तमोत्म सुख की प्राप्ति होती है। अर्थात सन्तोष से उत्तम सुख प्राप्त होता है, क्योंकि जहाँ **चाह, लालसा, ईच्छा** नहीं होती, वही व्यक्ति सुख से रहता है।

  प्रिय विद्यार्थियों जहाँ सन्तोष होता है वहाँ राग – द्वेष, छल – कपट आदि का अभाव होता है तथा सन्तोषी व्यक्ति हमेशा हर एक परिस्थिति में सुखी व सन्तोष का अनुभव करता है, किसी भी विपरीत परिस्थिति में वह धैर्य से काम लेता है, व सभी परिस्थितियों का समाना मुस्कुरा कर कर लेता है। सन्तोष के कारण की ही परिग्रह को बल नहीं मिलता है, और ना ही सन्तोषी व्यक्ति में कोई मनोविकार ही होता है। सन्तोषी व्यक्ति शारीरिक व मानसिक विकार रहित होता है तथा इसी स्थिति में वह परम् आत्मिक शान्ति का अनुभव करता है।

- नियम के **तीसरे अंग के रूप में तप** को लिया गया है। तप का तात्पर्य है उचित रीति से और उचित अभ्यास से शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और मन को वश में करना। जिससे कि योग साधना में सभी द्वन्दों को सहन करते हुए रहा जा सके।

  जैसा कि कहा गया है, –

  'तपो द्वन्द सहनम्''

  तप सभी प्रकार के (शरीरिक व मानसिक) द्वन्दों को सहन करना है।

वैदिक संहिताओं में तप को तीन भागों में भी विभक्त किया गया है। शरीरिक, मानसिक व वाचिक तप।

इन तीनों प्रकार के तप में कुविचार को सुविचारों से हटाकर साधना में प्रवृत्त होना मानसिक तप है।

अशुद्ध भाषा का प्रयोग ना करना, सत्य व मितभाषी व मधुर वाणी का प्रयोग करना वाचिक तप है।

साधना के मार्ग में सभी प्रकार के द्वन्दों (भूख – प्यास) मानसिक व वाचिक तीनों प्रकार के तप का साधक के जीवन में अत्यन्त महत्व है।

महर्षि पतंजलि ने तप के फल का वर्णन इस प्रकार से किया है –

''कायेन्द्रियसिद्धिरषुद्धिक्षयात्तपसः।।'' (पा0यो0सू0 2/43)

अर्थात तप द्वारा शरीर और मन की अशुद्धियों का क्षय हो जाता है, तथा शरीर और इन्द्रियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इन्द्रिया वश वर्तिनी हो जाती है।

अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना तथा उसके पालन करने में जो भी शारीरिक व मानसिक कष्ट हो उन्हें सहर्ष सहन करना तप कहलाता है।

जिस प्रकार सोने को अग्नि पर तपाये जाने पर शुद्ध स्वर्ण प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चरण भी मनुष्य के शरीर और मन को निर्मल कर देता है।

योगी के लिए तप की साधना नितान्त आवश्यक है क्योंकि तप के द्वारा ही चित्त के विकार दूर होते है, तथा मन की चंचलता समाप्त होती है। चित्त में कुविचारों से मुक्ति मिलती है, और इन्द्रियों की अशुद्धि दूर होकर इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती है।

प्रिय विद्यार्थियों तप का योग साधना में विशेष महत्व है। क्योंकि तप से अशुद्धियों का नाश हो जाता है। अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। उन इन्द्रियों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का नाश हो जाता है तथा सभी इन्द्रियाँ योगी के अधीन हो जाती है। वह उन्हें साधना में लगाकर और अधिक उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

प्रिय विद्यार्थियों नियमों में चौथा अंग स्वाध्याय है। स्वाध्याय आत्मज्ञान प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन है।

स्वाध्याय का तात्पर्य वेद, पुराण, उपनिषद दर्शन आदि मोक्ष शास्त्रों का गुरूजनों, विद्वान तथा आचार्य से अध्ययन करना है।

स्वाध्याय का दूसरा अर्थ स्वयं का अध्ययन करना है। स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य को ज्ञान लाभ होता है, तथा मानसिक विकार दूर हो जाते हैं तथा आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। स्वाध्याय अज्ञान व अन्धकार का विनाश करने वाला तथा ज्ञान ज्योति का प्रसार करने वाला है, तथा निरन्तर स्वाध्याय से चित्त की वृत्तियों को स्थिर किया जा सकता है। जैसा कि कहा गया है, निरन्तर स्वाध्याय का अभ्यास करने से जड़मति व्यक्ति भी ज्ञानवान बन जाता है। उसे गलत और सही की समझ आ जाती है, उसकी अच्छे कार्यो में प्रवृत्ति होने लगती है, तथा बुरे कर्मो से निवृत्ति हो जाती है। स्वाध्याय के द्वारा जब योगी का विवेक जाग्रत होता है तो वह परम आत्म संतुष्टि का अनुभव करता है।

स्वाध्याय के फल के विषय में **महर्षि पतंजलि** का कथन है –

''स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।'' (पा0 यो0 दर्षन 2/44)

अर्थात स्वाध्याय से अपने ईष्ट देवता का साक्षात्कार होता है। अर्थात स्वाध्याय से या मंत्र जप और जीवन के अध्ययन रूप स्वाध्याय करने से उसे अपने ईष्ट देवता का साक्षात्कार हो जाता है। ये देवता ही साधक की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

प्रिय विद्यार्थियों निरन्तर स्वाध्याय करने से उत्साह तथा पुरूषार्थ में वृद्धि होती है, **धारणा, ध्यान एवं समाधि** की सिद्धि में स्वाध्याय सहायक है तथा साधक की अन्तप्रज्ञा जाग्रत होती है, तथा उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

- नियमों का अन्तिम अंग सबसे महत्वपूर्ण है– वह है **ईश्वर प्रणिधान,** योगदर्शन के अनुसार ईश्वर की शरणागति ही ईश्वरप्रणिधान है।

  प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि ने **निम्नकोटी के साधकों के लिए अष्टांग योग का** वर्णन किया है। अष्टांग योग का पहला अंग है **यम तथा दूसरा है नियम,** और

नियम का अन्तिम अंग है **ईश्वर प्रणिधान।** इससे स्पष्ट होता है कि निम्न कोटी का साधक जब यम – नियम का पूर्ण रूप से पालन करता है तभी वह ईश्वर के प्रति पूर्णतः समर्पित हो पाता है, तथा ईश्वर की कृपा का अधिकारी बनता है।

ईश्वर प्रणिधान ईश्वर के शरणागति हो जाना है। ईश्वर के नाम, गुण, रूप, लीला और प्रभाव अदि का श्रवण, कीर्तन और मनन करना तथा अपने सभी कर्मो को ईश्वर को समर्पित कर देना, और ईश्वर की आज्ञानुसार ही आचरण करना, ईश्वर में अनन्य प्रेम, श्रद्धा भक्ति रखना ये सब ईश्वर प्रणिधान ही है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

''समाधिसिद्धिरीष्वरप्रणिधानात्।।'' (पा0यो0सू0 2/45)

अर्थात जब उपासक अपने समस्त भाव व कर्मो को ईश्वर को अर्पण कर देता है तो उसे समाधि की सिद्धि सुगमता से हो जाती है।

प्रिय विद्यार्थियों ईश्वर को पूर्ण रूप से समर्पित साधक के समस्त अभिमान, लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि दोषों का नाश हो जाता है तथा योगी को कर्मो की सफलता – असफलता से प्राप्त हर्ष और शोक नहीं सताते है। वह उनसे बच जाता है। इससे योगी की चित्त वृत्ति निरोध की अवस्था प्राप्त होती है। तथा चित्त वृत्ति निरोध की अवस्था ही योग है। क्योंकि जब योगी अपने सभी कर्मो को ईश्वर को अर्पण कर देता है, तब वह सभी बाधाओं से रहित हो जाता है। योगी का चित्त पूर्णतः एकाग्र हो जाता है। योगी की यह एकाग्र अवस्था ही समाधि की सिद्धि में सहायक होती है। इस प्रकार नियमों के सभी अंग योग साधक के लिए उपयोगी है, तथा साधक अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँच सकता है।

अभ्यास प्रश्न –

1. सत्य / असत्य बताइये

क. नियम अष्टांग योग का तीसरा अंग है।
ख. सन्तोष की प्रतिष्ठा होने पर योगी को उत्तमोत्तम सुख मिलता है।
ग. तप की प्रतिष्ठा होने पर अशुद्धियों का क्षय नहीं होता है।
घ. सामधि की सिद्धि ईश्वर प्रणिधान से होती है।
ड. .नियमों का वर्णन समाधिपाद में किया गया है।

2. रिक्त स्थान भरें –

क. अत्यधिक बोलने का ....कर ....बोलना वाचिक सन्तोष है।
ख. तप द्वारा ....और ....की अशुद्धियों का क्षय हो जाता है।
ग. याज्ञवल्क्य संहिता में नियमों की संख्या ....है।
घ. निरन्तर स्वाध्याय करने से ....तथा ....में वृद्धि होती है।
ड़. नियम का अन्तिम अंग ....है।

8.6 सारांश –

प्रिय विद्यार्थियों अष्टांग योग का दूसरा अंग नियम मनुष्य के व्यवहार को शुद्ध करने की एक प्रक्रिया है। नियम पांच है, इन पाँचों का योग साधना में विशेष महत्व है। इन पाँचों नियमों के अनुशासन को अपनाकर मनुष्य अष्टांग योग के अगले अंग आसन के लिए स्वयं को तैयार करता है, यदि व्यक्ति चंचल चित्त है, स्थिर नहीं है तो वह आसनों में

स्थिर नहीं रह सकता है। नियमों के अन्तर्गत शौच के द्वारा वाह्य और आभ्यन्तर शुचिता का भाव जाग्रत होता है, तथा साधक के शारीरिक व मानसिक विकारों से भी मुक्ति मिलती है। सन्तोष का पालन करने से उत्तम सुख की प्राप्ति होती है, क्योंकि सन्तोषी व्यक्ति ही शांत रह सकता है। जैसा कि कहा गया है अशान्तस्य कुतः सुखः अशान्त व्यक्ति को सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार तप के अभ्यास से साधक के मलों का क्षय होकर स्वाध्याय का मार्ग प्रशस्त होता है। जिससे ज्ञान की प्राप्ति होती है, तथा मन्त्र जाप आदि से ईश्वर का साक्षात्कार तक हो जाता है। जिससे ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव जाग्रत होता है, जब समर्पण पूर्णरूपेण हो जाता है तो साधक को अपना लक्ष्य अर्थात समाधि की सिद्धि हो जाती है।

8.7 शब्दावली –

शौच	**शुद्धता**
स्वाध्याय–	**स्वयं का अध्ययन, अच्छी पुस्तकों का अध्ययन**
सात्विकता	**पवित्रता**
परिष्कृत –	**शुद्ध**
आत्मअनुशासन	**स्वयं पर शासन**
निष्कासन	**निकाल देना, बाहर कर देना**
उपशमनकरना	**नाश करना**
कायदोश दर्शी	**शरीर के दोष देखने वाले**
अनासक्त	**आसक्ति रहित**

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. क. असत्य ख. सत्य ग. असत्य घ. सत्य
   ड0. असत्य
2. क. त्याग, परिमित ख. शरीर, मन ग. दस घ. उत्साह, पुरूषार्थ
   ड0. ईश्वर प्रणिधान

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1 . शास्त्री राजवीर, (2005) **पातंजल–योगदर्शन–भाष्यम्**। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली।
2 पाड्या प्रणव, (2011) **अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञानविज्ञान (भाग2)**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
3 दशौरा नन्द लाल, (2006) **योगदर्शन**।
4 शर्मा श्री राम, (1982) **सांख्य दर्शन एवं योगदर्शन–भाष्यम्**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
5 सरस्वती दिव्यानन्द, (1999) **वेदों में योग विद्या।** यौगिक शोध – संस्थान, योगधाम ज्वालापुर हरिद्वार ।

8.10 सहायक पाठ्य सामग्री –

1 करंबेलकर, पु0वि0, (1989) **पातंजल योगसूत्र**। कैवल्यधाम।
2 पन्त पूर्णचन्द्र, (2002) **योग विज्ञान**। पूर्णचन्द्र पंत्र शास्त्री नाहन हिमाचल प्रदेश।

8.11 निबंधात्मक प्रश्न –

प्रश्न 1. अष्टांग योग के द्वितीय अंग नियमों की व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 2. नियमों के फलों का वर्णन योगसूत्र के अनुसार कीजिए।
प्रश्न 3. योगसाधना में नियमों की क्या उपयोगिता है ? स्पष्ट कीजिए।

इकाई – 9 आसनों का स्वरूप व उपयोगिता

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 आसन का स्वरूप
- **9.3.1** आसन का अर्थ
- **9.3.2** आसन की परिभाषा
- **9.3.3** आसन के प्रकार

9.4 आसन की उपयोगिता
9.5 आसन की सावधानियाँ
9.6 सारांश
9.7 शब्दावली
9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.10 सहायक पाठ्य सामग्री
9.11 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना –

प्रिय विद्यार्थियों पूर्वोक्त इकाई में आपने यम, नियम व उसकी उपयोगिता का अध्ययन किया। यम, नियम का अभ्यास साधक द्वारा सभी स्थितियों में किया जा सकता है। परन्तु प्राणायाम से लेकर समाधि तक के योगागों का अनुष्ठान स्थिर रहकर किया जाना आवश्यक है। इन योगांगों के अनुष्ठान के लिए साधक को स्थिरता से सुखपूर्वक बैठने की आवश्यकता होती है। स्थिरता व सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके वही आसन है। यही अष्टांग योग का तीसरा एवं महत्वपूर्ण अंग है। आसन के द्वारा ही साधक योगांगों का अगला अंग प्राणायाम में प्रवृत हो सकता है। आसन का सतत् अभ्यास ही साधक को स्थिरता प्रदान करता है। प्रस्तुत इकाई में आप आसन का अर्थ परिभाषा व उपयोगिता का अध्ययन विभिन्न विद्वानों के मतानुसार करेंगे।

9.2 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप –

- आसन के अर्थ को समझ सकेंगे।
- आसन की परिभाषाओं का अध्ययन कर सकेंगे।
- आसनों के विभिन्न प्रकारों को समझ सकेंगे।
- आसन से होने वाले लाभों का अध्ययन कर सकेंगे।
- आसन की योग साधना में उपयोगिता समझ सकेंगे।

9.3 आसन का स्वरूप –

प्रिय विद्यार्थियों जैसा कि कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। स्वस्थ मुनष्य ही चारों पुरूषार्थो में तीन की पूर्ति कर मोक्ष की कामना कर सकता है। और **धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष** इन चारों पुरूषार्थो के मूल में आरोग्य है। ऐसा आयुर्वेद का कथन है। आरोग्य के द्वारा ही मनुष्य अपने लौकिक कर्मो का सम्पादन करता है तथा स्वस्थ शरीर के द्वारा ही ईश्वर की आराधना में प्रवृत्त हो सकता है। इस शरीर को स्वस्थ रख कर ईश्वर के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करने के लिए महर्षि पतंजलि ने योगांगों के अन्तर्गत आसन का वर्णन किया है। पहले यम नियम द्वारा व्यवहार की शुद्धि, तत्पश्चात आसनों द्वारा स्थैर्य प्राप्त कर परम्ब्रह्म से साक्षात्कार किया जा सके।
प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि ने आसन को अष्टांग योग के अन्तर्गत लिया है। अष्टांग योग का तीसरा अंग आसन है। किन्तु हठयोग के ग्रन्थों में आसन को प्रथम स्थान दिया गया है। प्रथम अंग के रूप में लेना इसके महत्व का परिचायक है।

हठयोग प्रदीपिका में इसका वर्णन इस प्रकार से है –
"हठस्य प्रथमाड़गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यातदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाड़गलाघवम्।।"

अर्थात हठयोग का प्रथम अंग होने से आसन को प्रथम कहते है। आसन शरीर तथा मन में स्थिरता व शरीर के विभिन्न अंगों में लाघव उत्पन्न करते हैं, तथा आरोग्य की प्राप्ति होती है।

गोरक्षषतक में वर्णन है –

''आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ध्यान समाधिरेतानि योगांगानि भवन्ति षट्।।''   (गोरक्ष शतक)

गोरक्षशतक में योग के छह अंग ही स्वीकार किए गये है। गोरक्षशतक में भी आसन को प्रथम अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

योगशास्त्रों में आसन का स्थान महत्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति में योगाशास्त्रों की तरह ही योगासनों का विशेष महत्व है। विश्व के प्राचीनतम व अपौरूषेय ग्रन्थ वेद है। वेद आध्यात्मिक ज्ञान के अक्षय भण्डार है। वेदों में योगासनों का विशेष उल्लेख मिलता है। इस प्रकार योगासनों का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है जितना वेदों का है। उपनिषदों में भी योगासन का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में मण्डलब्राह्मणोउपनिषद 1/1/5 में तथा श्वेताश्वतर उपनिषद में भी आसनों का वर्णन किया गया है। तेजोबिन्दु उपनिषद तथा अमृतनाद उपनिषद में भी योगासनों का वर्णन किया गया है, तथा आसन की उपयोगिता का वर्णन करते हुए कहा गया है – आसनों का अभ्यास किए बिना योग में सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती है। आसन के द्वारा ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है।

9.3.1 आसन का अर्थ –

आसन का सामान्य अर्थ है बैठना। लोक व्यवहार में जिस वस्त्र खण्ड या कम्बल का प्रयोग हम बैठने के लिए करते हैं। उसे आसन कहते हैं। इसके अतिरिक्त लकड़ी, कुश या अन्य वस्त्र खण्ड का प्रयोग बैठने के लिए किया जाता है। उसे भी आसन कहा जाता है। इस प्रकार सामान्य व्यवहार में बैठने के लिए प्रयोग किए जाने वाले उपयोगी साधन को आसन कहते हैं।

आसन शब्द संस्कृत के **'अस'** धातु से बना हैं जिसके दो अर्थ है – पहला है बैठने का स्थान तथा दूसरा है – शारीरिक अवस्था। बैठने के स्थान (Seat) का अर्थ है कि जिस पर बैठा जाता है वह आसन है जैसे – **मृगछाल, कुष, कम्बल, वस्त्रखण्ड, चटाई, दरी आदि।**

आसन के दूसरे अर्थ शारीरिक अवस्था (Body Position) से तात्पर्य है। शरीर, मन तथा आत्मा की संयुक्त अवस्था। अर्थात शरीर, मन तथा आत्मा जब एक साथ व स्थिर हो जाती है, और उस स्थिति से जो सुख की अनुभूति होती है ,वही स्थिति आसन है।

प्रिय विद्यार्थियों, महर्षि पतंजलि ने आसन को परिभाषित करते हुए आसन का अर्थ इस प्रकार बताया है।

''स्थिर सुखम् आसनम्'' (पा0 यो0 सू0) अर्थात स्थिर और सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके वह आसन है।

प्रिय विद्यार्थियों, आसन शब्द भी स्वयं में अपना अर्थ समाहित किए है। आसन शब्द का प्रत्येक अक्षर **आ, स, न** का अपना स्वतंत्र अर्थ समझा जा सकता है, जो इस प्रकार है।

'आ' का अर्थ है **आत्म, अर्थात आत्म अनुशासन अष्टांग योग** का तीसरा अंग आसन योगाभ्यास में सहायक है। वृत्तियों के सकारात्मक प्रवाह व नकारात्मक वृत्तियों के निष्कासन के लिए मन का स्थिर होना आवश्यक है, तथा आसन द्वारा स्थिरता की प्राप्ति होती है। स्थिर शरीर तथा एकाग्र मन द्वारा ही साधक आत्म अनुशासन में बध कर

आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर प्रवेश पाते है। अर्थात आत्मा से साक्षात्कार होकर अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

'स' का अर्थ है **सर्व,** अथवा सभी अर्थात इस रूप में आसनों द्वारा व्यक्ति के सभी द्वन्द समाप्त हो जाते है। वह जय में पराजय में, शीत में उष्ण में, भूख में प्यास में सभी स्थितियों में सम हो जाता है। समत्व का भाव जाग्रत होता है।

'न' का अर्थ है **नभ,** अनन्त आकाश अर्थात ब्रह्म से साक्षात्कार आसनों के द्वारा साधक अपने आत्म स्वरूप को अनन्त में लगा देता है। जिससे आसन सिद्ध होकर साधक को लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियों आसन शब्द अपने आप में एक विशाल अर्थ लिए है। आसन थोड़े ही समय में सीमित शक्ति व साधनों का उपयोग करते हुए व्यक्ति के सर्वांगिण विकास कर उसके लक्ष्य तक अवश्य पहुँचाते है।

9.3.2 आसन की परिभाषा – प्रिय विद्यार्थियों योग साधना में स्थिरता पूर्वक बैठना अनिवार्य है। तथा स्थिरता पूर्वक व सुखपूर्वक बैठकर ही साधना की जा सकती है।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग में तीसरे अंग के रूप में आसन का वर्णन किया है। किन्तु किसी विशेष आसन का वर्णन नहीं किया है।

महर्षि पतंजलि ने आसन की केवल एक ही परिभाषा दी है जो निम्न प्रकार से है –

'स्थिरसुखमासनम्' (पा0यो0सू0 2/46)

अर्थात स्थिरतापूर्वक और सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके वहीं आसन है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार ये वे आसन हैं जैसे **पद्मासन, स्वस्तिक आसन, भद्रासन आदि** आसन स्थिरता व सुख देने वाले हैं। अर्थात ऐसे ध्यान के आसन जिसमें साधक को उपासना में सुख की प्राप्ति हो, उसी का अभ्यास करना चाहिए। योग के अभ्यासी को किसी ऐसे आसन का अभ्यास करना चाहिए, जिसमें वह घंटों सुखपूर्वक बैठ सके। क्योंकि चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए तप, उपासना, साधना के लिए आसन का स्थिर होना आवश्यक है।

महर्षि पतंजलि ने इस परिभाषा में दो बातें विशेष रूप से कही है। स्थिरता व सुख। स्थिरता से अभिप्राय है कि उपासना के समय शरीर की निश्चल अवस्था, अर्थात उस समय शरीर का कोई भी अंग चंचल ना हो। ऐसी स्थिरता कि किसी भी कीट, पतंग आदि के शरीर पर बैठने पर भी स्थिरता भंग ना हो। अन्यथा शरीर के चंचल होते ही चित्त भी चंचल हो जाएगा। दूसरा शब्द है सुख, सुख से अभिप्राय है कि, साधक को आसन का पूर्ण अभ्यास हो। तभी उसे सुख की प्राप्ति हो सकती है। पूर्ण अभ्यास ना होने से घुटने, पैरों आदि भागों में पीड़ा होने लगती है।

अतः साधक जिस आसन में बैठा है उसमें किसी प्रकार का कष्ट ना होना। इस प्रकार जिसमें सुख पूर्वक, शरीर और आत्मा स्थिर हो उसे ही आसन समझना चाहिए।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार – आसन को इस प्रकार परिभाषित किया गया है।

'जितनी भी जीव की जातियां है, उनके बैठने के जो आकार विशेष हैं। वे सब आसन कहलाते हैं। ''

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – आसन के स्थिर होने का तात्पर्य है – **शरीर के अस्तित्व का बिल्कुल भान तक ना होना।**

तेजबिन्दु उपनिषद के अनुसार –

"सुखनैव भवेत् यस्मिन् जस्त्रं ब्रह्मचिन्तनम्।"

जिस स्थिति में बैठकर सुखपूर्वक निरन्तर परमब्रह्म का चिंतन किया जा सके, उसे ही आसन समझना चाहिए।

अष्टांग योग में चरणदास जी ने लिखा है –

चौरासी लाख आसन जानों, योनिन की बैठक पहचानो।

अर्थात विभिन्न योनियों के जीव – जन्तु जिस अवस्था में बैठते हैं उसी स्वरूप को आसन कहते हैं।

आचार्य श्रीराम शर्मा जी कहते है – आसनों का गुप्त आध्यात्मिक महत्व है, इन क्रियाओं से सूर्य चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत् चक्र, आदि सूक्ष्म ग्रन्थियों का जागरण होता है। और कई मानसिक शक्तियों का असाधारण रूप से विकास होने लगता है।

इस प्रकार की आसन की विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन आपने किया। **महर्षि पतंजलि ने आसन के स्वरूप** को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है –

" प्रयत्न शैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम" (पा0यो0सू0 2/47)

अर्थात प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने से आसन सिद्ध होता है। प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में मन न लगाने से योग के साधक को जप–उपासना आदि में भी बांधाए आ जाती है। यदि साधक के शरीर में कम्पन या अकड़ाहट होगी तो योग साधना में बाधा उत्पन्न होती है। जिससे साधक बहुत देर तक योगसाधना में नहीं बैठ सकता है। अतः शरीर में मृदुता बनाये रखने के लिए प्रयत्न की शिथिलता आवश्यक है। शरीर की स्वाभाविक चेष्टाओं का नाम ही प्रयत्न है। तथा अनन्त में मन लगा देना अर्थात अनन्त समापत्ति से अभिप्राय परमेश्वर से तादात्म्य करना अर्थात ईश्वर के गुण, चिन्तन तथा उनके अनुरूप भावना करने में मन को लगाना। इस प्रकार आसन की सिद्धि के लिए ईश्वरीय शक्ति पर मन को लगा देना अर्थात अपनी ओर से प्रयत्न करना तथा मन को ईश्वर को सौप देना। जब इस तरह से आसन किये जाए तो उस ईश्वरीय शक्ति से वह आसन सिद्ध हो जाते है।

महर्षि व्यास के अनुसार – प्रयत्नोपरम् से आसन सिद्धि होती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – अनंत के चिंतन द्वारा आसन स्थिर हो सकता है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – आसन सिद्धि अर्थात शरीर की सम्यक् स्थिरता तथा सुखपूर्वक प्रयत्नशैथिल्य और अनन्त समापत्ति द्वारा होती है।

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियों आसन तभी सिद्ध होता है, जब अस्थिरता व प्रयत्न की शिथिलता का अभाव होगा, क्योंकि प्रयत्न करते रहने पर स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती है। और उसे ना ही स्थिरता का भाव प्राप्त होता है। जैसे – जैसे शरीर स्थिरता को प्राप्त होता है वैसे ही शरीर की चेष्टाएं समाप्त हो जाती है। और साधक शरीर भाव से ऊपर उठ जाता है। मन अनन्त में समाहित हो जाता है। यही आसन सिद्धि है।

9.3.3 आसन के प्रकार –प्रिय विद्यार्थियों यद्यपि **महर्षि पतंजलि** ने आसन के कोई प्रकार नहीं बताए है। परन्तु वर्तमान में विभिन्न योग के ग्रन्थों, शास्त्रों में अनेक आसनों का वर्णन किया गया है। प्राचीन काल में योगियों ने पशु – पक्षियों के बैठने के ढंग तथा उनकी विशेषताओं का सूक्ष्मता से अध्ययन किया, उन्होंने देखा कि पशु – पक्षियों के बैठने के ढंग अलग प्रकार से है। उन्होंने उनका अनुशरण किया तथा आसन के रूप में उन्हें अपनाकर उनसे उन्हें स्वास्थ्य लाभ मिला। इस प्रकार उन पशु – पक्षियों के बैठने के ढंग को आसन

के रूप में अपनाकर उस प्रकार विशेष का नामकरण उसी पशु – पक्षी विशेष के नाम के साथ जोड़ दिया। जैसे – **मकरासन, मत्स्यासन, मयूरासन, सिंहासन आदि।** इसी के साथ – साथ योगियों ने कुछ आसन स्थावर द्रव्यों की स्थितियों के अनुकरण के आधार पर की। जैसे – पर्वत, वृक्ष, धनुष, चक्र, त्रिकोण आदि। इन्हें अपनाकर उनकी लाभ – हानि की विवेचना की तथा जिन स्थितियों से उन्हें लाभ मिला उन स्थितियों को अपनाकर उस स्थिति के आधार पर आसन का नामकरण किया। इस प्रकार आसनों की संख्या अनन्त हो गयी। तथा अनेक प्रकार के आसन हो गए।

परन्तु वर्तमान में विभिन्न योग के ग्रन्थों, हठयोग के ग्रन्थों में जो सर्वसम्मत आसन है, वह चौरासी आसन है। परन्तु हठ योग के ग्रन्थों जैसे – **घेरण्ड संहिता** में **32 आसनों** का वर्णन है। तथा **हठप्रदीपिका में 15 आसनों** का वर्णन है। आसनों की संख्या और प्रकार के विषय में शास्त्रों तथा विद्वानों में अनेक मत हैं। उपनिषदों में भी आसनों के विषय में अनेक मत है **अमृतनादो उपनिषद में तीन आसनों – पद्मासन, भद्रासन तथा स्वस्तिकआसन** का उल्लेख है।

योग चूड़माण्युपनिषद में दो आसन – कमलासन व सिद्धासन बताए गये हैं।

ध्यानबिन्दु उपनिषद में – पदमासन, भद्रासन, सिंहासन तथा सिद्धासन को मुख्य आसन के रूप में वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार **दर्शनोपनिषद के तृतीय खण्ड में नौ आसनों** का वर्णन मिलता है। **स्वस्तिकआसन, पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, गोमुखआसन, सिंहासन, मुक्तासन, सुखासन, मयूरासन।**

त्रिषिखिब्रह्मणो उपनिषद में (2/34 – 52) में सत्रह आसनों का वर्णन किया गया हे। जिनमें से ग्यारह आसनों के अतिरिक्त **योगासन, बद्धपद्मासन, मयूरासन, उत्तान कूर्मासन, धनुरासन और पश्चिमोतानासन** इन छह आसनों का उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार उपनिषदों में आसन की संख्या भिन्न है तथा उनके प्रकार भी अनेकों हैं। साधारणतया आसनों को तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। जिसका वर्णन इस प्रकार है –

1. **शरीर संवर्द्धनात्मक आसन**
2. **ध्यानात्मक आसन**
3. **विश्रान्तिकारक आसन**

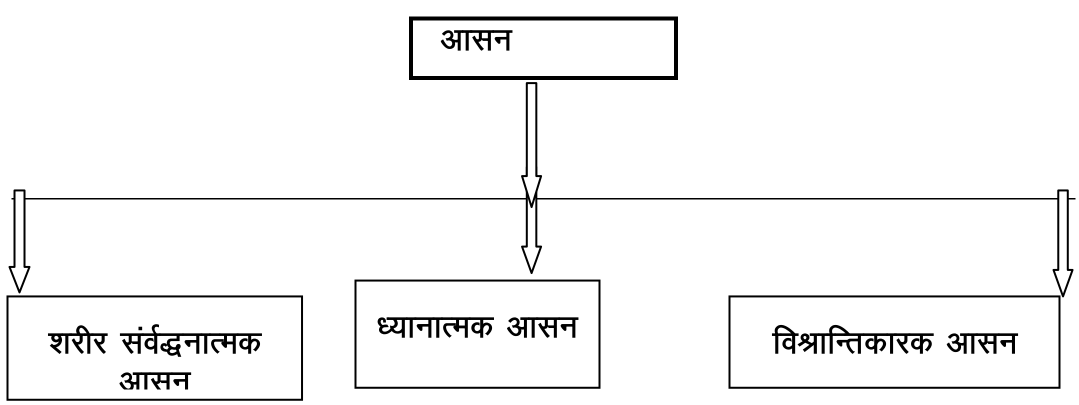

1. शीर्षासन	1. सुखासन	1. शवासन
2. सर्वांगासन	2. पद्मासन	2. मकरासन
3. हलासन	3. सिद्धासन	3. बालासन
4. भुजंगासन	4. स्वस्तिकासन	4. दण्डासन
5. सुप्त वज्रासन		

1. **शरीर संवर्द्धनात्मक आसन –** शरीर संवर्द्धनात्मक आसन वे होते है जिनसे हमारा शरीर का संवर्द्धन होता है। इनमें निम्न आसन आते है, जैसे – हलासन, शीर्षासन आदि
2. **ध्यानात्मक आसन –** ध्यानात्मक आसन वे होते हैं, जिन आसनों में बैठकर ब्रह्म चिन्तन किया जा सके, इनमें निम्न आसन है – पद्मासन, सिद्धासन आदि।
3. **विश्रान्तिकारक आसन –** विश्रान्तिकारक आसन वे आसन हैं, जिनमें आसनों के बाद विश्राम किया जा सके, जैसे – बालासन, शवासन आदि

आसन अनेकों प्रकार के हैं, परन्तु अष्टांग योग के अन्तर्गत महर्षि पतंजलि ने अंतरंग योग में प्रवेश हेतु उस आसन की बात कही है कि जिसमें सुख पूर्वक बैठा जा सके अर्थात ध्यानात्मक आसन जिसमें बैठकर ब्रह्म चिन्तन किया जा सके। आसन के द्वारा धारणा का अभ्यास किया जा सके, ध्यान किया जा सके तथा अपने लक्ष्य समाधि की स्थिति में पहुँचा जा सके। तथा आसन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि ने 2/47 में वर्णन किया है कि –

"प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।। (2/47)

अर्थात प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त (परमेश्वर) में मन लगा देने से वह आसन सिद्ध हो जाता है। अर्थात वह आसन दृढ़ अवस्था वाला कैसे हो यह बताने का प्रयास 2/47 में किया गया है।

9.4 आसन की उपयोगिता –

प्रिय विद्यार्थियों आसन योग के अनुष्ठान के लिए बहुत ही उपयोगी है। योगी की साधना के लिए आसन का अभ्यास आवश्यक है। क्योंकि योग साधना में प्रवृत्त होने के लिए महर्षि पतंजलि ने भी वर्णन किया है कि जिसमें स्थिरतापूर्वक सुखपूर्वक बैठा जा सके वह आसन है। अतः स्पष्ट है कि यम – नियम के अनुष्ठान के बाद स्थिरतापूर्वक आसन में प्रवृत्त होना आवश्यक है। जब साधक आसन द्वारा स्थिरता को प्राप्त होगा तभी प्राणायाम का अभ्यास पूर्ण होगा। आसन के सिद्ध होने पर ही प्राणायाम का अभ्यास बताया गया है। आसनों का निरन्तर अभ्यास करने से उसका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर, मन तथा आत्मा पर पड़ता है।

आसनों की शास्त्रीय उपयोगिता – महर्षि पतंजलि ने आसन की सिद्धि के फल का वर्णन इस प्रकार किया है –

"ततो द्वन्दानभिघातः" (पा0 यो0 सू0 2/48)

अर्थात आसन की सिद्धि से सर्दी – गर्मी, भूख – प्यास, हर्ष– विषाद आदि द्वन्दों का आघात नहीं लगता। अर्थात आसन के सिद्ध होने पर स्थिरता का भाव आ जाता है। तब साधक को किसी भी प्रकार के द्वन्द नहीं सताते है।

स्वामी हरिहरानंद के अनुसार – आसन स्थैर्य के कारण शरीर में शून्यता आ जाती है।

महर्षि व्यास के अनुसार – आसन जय के कारण शीत – उष्ण आदि द्वन्दों द्वारा साधक अभिभूत नहीं होता।

इस प्रकार जब साधक आसन सिद्ध कर लेता है तब उसे शुभ –अशुभ, सुख–दुख, गर्मी–सर्दी आदि के भाव नहीं सतायेंगे। वह हर परिस्थिति में शांत व सुखी रहता है।

आसनों के अभ्यास से ध्यान में सहायता मिलती है। ध्यान तभी किया जा सकता है जब आसन सिद्ध हो जाए। उच्च स्तरीय साधना में प्रवेश हेतु आसन बहुत उपयोगी है। षट्चक्रों के जागरण में आसन की भूमिका महत्वपूर्ण है। आसनों का शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक रूप से उपयोगिता निम्न प्रकार से है –

शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगिता – आसन शारीरिक व मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी महत्वपूर्ण एवं लाभदायक है, क्योंकि आसनों का निरन्तर अभ्यास करने से उसका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर तो पड़ता ही है साथ ही साथ मन तथा आत्मा पर भी पड़ता है। आसन शरीर के वाह्य तथा आभ्यन्तरिक अवयवों को प्रभावित करते है। जिससे शरीर के सभी अवयव क्रियाशील हो जाते है, तथा सुचारू रूप से अपना कार्य करना आरम्भ कर देते है। आसनों के प्रभाव से सभी अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ अपना कार्य सुचारू रूप से करने लगती है। फलस्वरूप उनके स्राव नियमित व नियंत्रित हो जाते है और सभी ग्रन्थियाँ नियमित व नियंत्रित रूप से कार्य करने लगती है। जिससे शारीरिक विकास सुचारू रूप से होता है।

आसनों के नियमित अभ्यास से श्वासोच्छवास की नियंन्त्रित गति व दीर्घ श्वास–प्रश्वास से फेफड़े स्वस्थ एवं क्रियाशील हो जाते है। जिससे शरीर का रक्त शुद्ध होता है तथा रक्त प्रवाह यथोचित रूप से होता है। शुद्ध रक्त जब सभी अंगों में प्रवाहित होता है, तब सभी अंग सुचारू रूप से अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देते है।

शुद्ध रक्त से हृदय को बल मिलता है तथा रक्त से संबधित रोग नहीं होते व रक्त संचार भी ठीक रहता है तथा रक्तचाप भी नियंत्रित रहता है।

रक्त के द्वारा सभी अंगों को शुद्ध रक्त तथा पोषण प्राप्त होता रहता है। जिससे सभी संस्थान जैसे – **पाचन संस्थान, रक्त संवहन संस्थान** आदि प्राकृत रूप से अपना कार्य करने लगते हैं और शरीर पूर्ण स्वस्थ बना रहता है। जिससे शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है तथा शरीर रोगों से दूर रहता है।

इस प्रकार आसनों के अभ्यास से शरीर के वाह्य और आन्तरिक दोनों संस्थानों जैसे मांसपेशिय संस्थान, अन्तःस्रावी ग्रन्थियां, सन्धियाँ, स्नायुमण्डल, पाचन संस्थान आदि सभी संस्थानों पर प्रभाव पड़ता है। तथा ये अंग सुचारू रूप से अपना कार्य करते है।

मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगिता – प्रिय विद्यार्थियों आसनों का उपयोग सिर्फ शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ही नहीं वरन् मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति में भी है। आसनों का जितना प्रभाव शारीरिक स्वास्थ्य व सौन्दर्य पर पड़ता है। उतना ही प्रभाव मानसिक स्वास्थ्य पर भी पडता है। आसनों के अभ्यास से मन स्थिर होकर एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है। मन की चंचलता समाप्त हो जाती है। आसनों के दीर्घकाल तक अभ्यास करने से

मानसिक विकार दूर होते हैं, तथा इनका प्रत्यक्ष प्रभाव स्नायुमण्डल पर पड़ता है। जिससे तनाव कम होता है। मन में उपजने वाले द्वन्दों का शयन होता है, आसनों से दुख – दर्द सहन करने की शक्ति उत्पन्न होती है तथा दृढ़ता व एकाग्रता की शक्ति व मस्तिष्क शक्तिशाली बनता है। अनेक प्रकार की समस्याओं, चिन्ताओं और कुण्ठा से मुक्ति मिलती है।

आसनों के अभ्यास से अशुद्धियों का क्षय होता है, तथा सुप्त शक्तियाँ जाग्रत होती है। व्यवहार की शुद्धि होती है। स्मरण शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार मानसिक स्वास्थय के लिए आसनों का अभ्यास निश्चय ही उपयोगी है।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगिता –आसन के कुछ अभ्यास राजयोग की साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसे ध्यानात्मक आसन जिनका कार्य समाधि की ओर अग्रसर करना है। स्थिरतापूर्वक जिनका अभ्यास किया जाये वह आसन है। इन आसनों के द्वारा प्रत्याहार, धारणा व ध्यान का अभ्यास किया जाता है, में उच्च यौगिक अभ्यास साधक की साधना के महत्वपूर्ण बिंदु हैं उच्च यौगिक अभ्यासों से ही कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत की जा सकती है। आध्यात्मिक उन्नति में आसनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। आसनों से सुप्त चेतना की जाग्रति की जा सकती है। जब शरीर स्थिर व मजबूत हो जाता है, तभी प्राण को नियंत्रित कर मूलाधार में स्थित शक्ति को उर्ध्वगामी बनाया जा सकता है। आसनों द्वारा व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास हो जाता है। आसनों द्वारा मानवीय गुणों में वृद्धि होती है, ऐसे गुणों का धारण कर उसकी वाणी में मृदुता, व्यवहार में सादगी, आचरण में पवित्रता, स्नेह आदि भाव जाग्रत होते है, जो आध्यात्मिक उन्नति का संकेत चेहरे पर तेज व क्रान्ति उत्पन्न होकर एक अप्रतिम व्यक्तित्व का निर्माण होता है। ये सभी गुण ध्यान में सहायक होते है तथा साधक ध्यान का अभ्यास कर समाधि तथा साक्षात्कार की अवस्था तक पहुँच कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में आसनों की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

इस प्रकार शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक दृष्टि से आसनों की उपयोगिता निर्विवाद है।

प्रिय विद्यार्थियों, यद्यपि आसन अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं दुष्प्रभाव रहित अभ्यास है। जिसका मनुष्य के **शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक व सामाजिक स्वास्थ्य** पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। आसनों का नियमित अभ्यास करने से शरीर में विकार एवं रोगों की सम्भावनाएं कम हो जाती है। नियमित आसनों का अभ्यास करने से मनुष्य का शरीर एवं मन पर नियंत्रण बना रहता है, किन्तु यहाँ पर यह भी ध्यान देना चाहिए कि इन लाभकारी आसनों को सदैव अनुशासित रूप से करना चाहिए। आसनों को अनुशासित रूप से करने का क्या तात्पर्य है , यह जानने के लिए आपके मन में जिज्ञासा अवश्य बढ़ गयी होगी। अतः अब आसनों के संदर्भ में ध्यान रखने वाले कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं अर्थात सावधानियों पर विचार करते हैं –

9.5 आसनों की सावधानियाँ –

आसनों का अभ्यास करते समय साधक को निम्न सावधानियों का पालन अवश्य करना चाहिए –

1. आसनों का अभ्यास सदैव खाली पेट करना चाहिए। इस विषय में एकमात्र आसन **वज्रासन** है जिसका अभ्यास भोजन करने के उपरान्त करना चाहिए।

2. सदैव साफ स्वच्छ वातावरण में आसन करने चाहिए। गन्दगी, शंकायुक्त एवं प्रदूषित वातावरण में आसन नहीं करने चाहिए।
3. आसन करते समय ढीले एवं सूती वस्त्रों को ही धारण करना चाहिए। कभी भी टाइट वस्त्र जैसे **जीन्स, बैल्ट, घड़ी, अंगूठी आदि** पहन कर आसन नहीं करने चाहिए।
4. आसन करते समय आगे की ओर झुकते समय श्वास बाहर तथा पीछे की ओर जाते समय श्वास अन्दर की ओर लेनी चाहिए।
5. आसनों का अभ्यास पहले सरल आसनों से अथवा धीरे – धीरे कठिन आसनों को करना चाहिए।
6. आसन के लाभकारी प्रभाव का मनन व चिन्तन करना चाहिए।
7. कमर दर्द रोगी, सर्वाइकल रोगी को आगे को झुकने वाले आसन नहीं करने चाहिए।
8. आसन करते समय शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। धीरे – धीरे आसन का लंबे समय तक अभ्यास करना चाहिए। नियमित रूप से लम्बे समय तक आसनों का अभ्यास करने से धीरे – धीरे आसन सिद्ध होने लगते है।
9. योगासन का प्रारम्भ योग्य गुरू के निर्देश में ही करना चाहिए।
10. आपरेशन आदि की स्थिति में आसन नहीं करना चाहिए।
11. आसन करते समय प्रयत्न की शिथिलता तथा अनन्त में मन लगा देना चाहिए, ऐसा करने से आसन सिद्ध होते है।

अभ्यास प्रश्न –

1. <u>सत्य /असत्य बताइये –</u>

क. आसन हठयोग का भी अंग है।
ख. घेरण्ड संहिता में 15 आसनों का वर्णन है।
ग. भुजंगासन ध्यानात्मक आसन है।
घ. स्थिरतापूर्वक तथा सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके वही आसन है।
ड़0. आसनों से शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

9.6 सारांश –

प्रिय विद्यार्थियों अष्टांग योग का तीसरा अंग व हठयोग के कुछ ग्रन्थों का प्रथम अंग आसन है। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग में पहले यम, नियम द्वारा व्यवहार को परिष्कृत करने की बात कही है, क्योंकि यम, नियम साधना की नींव है जब तक नींव मजबूत नहीं होगी उस पर भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता क्योंकि कमजोर नींव वाले भवन कभी भी गिर सकते है। अतः पहले यम, नियम फिर तीसरा अंग आसन बताया है। मजबूत नींव पर ही स्थिरतापूर्वक व सुखपूर्वक बैठने की बात महर्षि पतंजलि ने की है। महर्षि पतंजलि ने आसनों में सिद्धि का उपाय बताया है कि प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में मन लगा देना चाहिए। जिससे आसन सिद्ध हो जाते है। तथा आसनों के सिद्ध होने पर ही सभी प्रकार के द्वन्द समाप्त हो जाते हैं। साधक को शारीरिक व मानसिक किसी भी प्रकार के द्वन्द नहीं सताते हैं। तथा आसनों से मजबूत शरीर व शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है।

आसन उच्च यौगिक अभ्यासों के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते है। इसके द्वारा साधक **शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक लाभ** लेते हुए अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँच सकता है।

9.7 शब्दावली –

अनुशासन	–	मानसिक या नैतिक संयम
द्वन्द	–	संशय, दुविधा
समत्व	–	समता का भाव
मृदुता	–	कोमलता
विश्रान्तिकारक	–	शिथिलीकरण
सुप्तचेतना	–	सोई हुयी चेता।
अप्रतिम	–	अनुपम, अद्वितीय।
शिथिलता	–	ढीलापन, धीमा, थका हुआ, मंद

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. **क. सत्यख. असत्य ग. असत्य घ. सत्यङ़ सत्य**

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शास्त्री राजवीर, (2005) **पातंजल–योगदर्शन–भाष्यम्**। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली।
2. पाड्या प्रणव, (2011) **अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञानविज्ञान (भाग2)**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
3. दशौरा नन्द लाल, (2006) **योगदर्शन**।
4. शर्मा श्री राम, (1982) **सांख्य दर्शन एवं योगदर्शन–भाष्यम्**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
5. सरस्वती दिव्यानन्द, (1999) **वेदों में योग विद्या।** यौगिक शोध – संस्थान, योगधाम ज्वालापुर हरिद्वार ।

9.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. करंबेलकर, पु0वि0, (1989) **पातंजल योगसूत्र**। कैवल्यधाम।
2. पन्त पूर्णचन्द्र, (2002) **योग विज्ञान**। पूर्णचन्द्र पंत्र शास्त्री नाहन हिमाचल प्रदेश।

9.11 निबंधात्मक प्रश्न –

प्रश्न 1. आसन का अर्थ एवं विभिन्न परिभाषाओं का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. आसनों का वर्गीकरण करते हुए महर्षि पतंजलि के अनुसार लाभ बताइये।

प्रश्न 3. आसनों की उपयोगिता पर निबन्ध लिखिए।

इकाई – 10 – प्राणायाम का स्वरूप, प्रकार एवं उपयोगिता

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 प्राणायाम का स्वरूप
 10.3.1 प्राणायाम का अर्थ
 10.3.2 प्राणायाम की परिभाषायें
10.4 प्राणायाम के प्रकार
 10.4.1 बाह्य वृत्ति प्राणायाम
 10.4.2 आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम
 10.4.3 स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम
 10.4.4 बाह्य आभ्यान्तर विषयाक्षेपी
10.5 प्राणायाम की उपयोगिता
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.10 सहायक पाठ्य सामग्री
10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना –

प्रिय विद्यार्थियों इससे पूर्व की इकाई में आपने अष्टांग योग के तीसरे अंग आसन का अध्ययन किया होगा, अष्टांग योग के बहिरंग योग में आसन के सिद्ध होने पर ही प्राणायाम का अभ्यास बताया गया है। जैसा कि योगदर्शन में वर्णन है कि आसन के सिद्ध होने पर श्वास – प्रश्वास की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग के चौथे अंग के रूप में प्राणायाम को स्थान दिया है। हमारे ऋषि मुनियों ने प्राणायाम के महत्व को जानते हुये बहुत ही सहज व सरल रूप में प्राणायाम का वर्णन किया है। प्राणायाम जीवन जीने की एक विधि, एक कला है। प्राणायाम स्वयं को उस विचार के साथ एकीकृत करने की कला है। **प्राणायाम, प्राण वायु** के शुद्ध सात्विक रूप को पूरे शरीर में विस्तारित करने की कला है। प्राणायाम क्या है? महर्षि पतंजलि के अनुसार इसके कितने प्रकार हैं? इसकी मनुष्य जीवन में क्या उपयोगिता है। प्रस्तुत इकाई में उपरोक्त तथ्यों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है –

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- ❖ प्राणायाम का स्वरूप समझ सकेंगे।
- ❖ प्राणायाम का अर्थ, परिभाषा को समझ सकेंगे।
- ❖ प्राणायाम के प्रकारों का विश्लेषण कर सकेंगे।

❖ प्राणायाम की जीवन में क्या उपयोगिता है? इसे समझ सकेंगे।

10.3 प्राणायाम का स्वरूप –

प्रिय पाठकों, प्राणायाम के स्वरूप को जानने से पूर्व प्राण के विषय में जानना आवश्यक है कि प्राण क्या है? प्राण का स्वरूप क्या है? प्राण शब्द का अभिप्राय उसके अर्थ से है। **प्राण** शब्द का अर्थ **जीवनी शक्ति** के रूप में लिया गया है। प्राण शब्द का अर्थ **चेतना शक्ति** माना गया है। उपनिषदों में प्राण की महिमा का वर्णन करते हुये कहा गया है –

प्रश्नोपनिषद के अनुसार –

''प्राण की व्याख्या संकल्प के रूप में की गई है।''

प्राण सम्पूर्ण सृष्टि का मूल संरक्षक है। **वेदों** में प्राण का वर्णन करते हुये कहा गया है–

''प्राण प्रज्ञा अनुवस्ते पितापुत्रमिव प्रियम।
प्राणो हसर्वस्चयेश्रवरो।।'' **(अथर्ववेद 11/4/10)**

प्राण पिता है और उसके लिये सारे प्राणी पुत्र की तरह हैं, प्राण सम्पूर्ण सृष्टि के ईश्वर हैं।

इस प्रकार प्राण एक ऐसी दिव्य शक्ति है, जिसके कारण इस ब्रह्माण्ड के जड़ व चेतन अपने स्वरूप में दिखाई देती है। प्राण वह ऊर्जा है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यह एक ऐसी ऊर्जा है जो जीवन, संरक्षण व विनाश भी करती है।

10.3.1 प्राणायाम का अर्थ –

प्राणायाम शब्द संस्कृत व्याकरण के दो शब्दों से मिलकर बना है, **प्राण + आयाम।** प्राण शब्द की व्युत्पत्ति **'प्र' उपसर्ग** पूर्वक **अन् धातु** से मानी गयी है। प्राण अर्थात जीवनी शक्ति, **आयाम** से तात्पर्य – **विस्तार, नियमन या नियंत्रण।** अर्थात प्राणायाम वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा प्राण पर नियंत्रण कर उसका विस्तार किया जा सकता है।

इस प्रकार प्राणायाम का अर्थ हुआ **जीवनी शक्ति का नियमन** जीवनी शक्ति वह है जिसके कारण मनुष्य शरीर में **इन्द्रिय, मन** को कार्य करने की प्रेरणा मिलती रहती है। **श्वसन, रक्त संचरण** इसी प्राण शक्ति के कारण चलते हैं।

10.3.2 प्राणायाम की परिभाषायें –

प्रिय विद्यार्थियों, **महर्षि पतंजलि** ने **अष्टांग योग** का चौथा अंग **प्राणायाम** बताया है, **योगसूत्र के साधनपाद में प्राणायाम** को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

''तस्मिन्सति श्वास प्रश्वास योर्गति विच्छेदः प्राणायामः''

(पा0यो0सू02/49)

अर्थात उस आसन के सिद्ध होने के पश्चात श्वास और प्रश्वास की गति का स्थिर हो जाना, विच्छेद हो जाना ही प्राणायाम है।

गोरक्षेनाथ के अनुसार –

प्राणः स्वदेहजीवायुः आयाम तन्तिरोनमिति।

अर्थात अपनी देह के जीवन की अवस्था का नाम प्राण है, और उस अवस्था के अवरोध को आयाम कहते हैं।

अर्थात जीवन की अवस्था के अवरोध का नाम प्राणायाम है।

बोध सागर में कहा गया है –

''हठीनधिक स्त्वेकः प्राणायाम परिश्रमः।''

अर्थात हठयोगियों का मुख्य श्रम साध्य प्राणायाम है।

स्वामी हरिहरानंद के अनुसार –

''श्वासगति तथा प्रश्वासगति का रोध करना ही प्राणाया

सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के अनुसार –

''प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता।''

अर्थात ''प्राण की स्थिरता को प्राणायाम कहते हैं।''

प्रिय विद्यार्थियों **महर्षि पतंजलि** के साथ – साथ विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभााषाओं का अध्ययन किया, अब आप महर्षि पतंजलि द्वारा प्राणायाम के प्रकारों का अध्ययन करेंगे।

10.4 प्राणायाम के प्रकार–

प्रिय विद्यार्थियों **महर्षि पतंजलि** ने प्राणायाम को स्पष्ट करते हुये इसके भेदों का वर्णन किया है – जो निम्न प्रकार से है–

''बाह्यभ्यान्तरस्तंभवृत्तिर्देषकालसंख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः'' **(पा0यो0सू0 2/50)**

बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति वाले (तीन प्रकार के) होते है, तथा वह देश, काल और संख्या द्वारा भली – भॉति देखा हुआ दीर्घ व सूक्ष्म (होता जाता) है।

अर्थात प्राणायाम के तीनों भेदों वाह्य आभ्यान्तर व स्तम्भवृत्ति की अवधि व आवृत्ति देश, काल और संख्या के अनुसार ज्यादा लम्बी व सूक्ष्म होती है।

महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में प्राणायाम प्रक्रिया के भेदों, विधि व प्रभाव का स्पष्ट वर्णन किया है।

10.4.1 बाह्य वृत्ति प्राणायाम –

श्वास को बाहर नियंत्रित रूप से निकाल कर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना वाहयवृत्ति प्राणायाम है, इसे रेचक भी कहते है।

अर्थात प्राणवायु को शरीर से बाहर निकाल कर रोकना ही वाह्य वृत्ति है। प्राणवायु को बाहर सुखपूर्वक रोकना होता है। साथ ही साथ यह आकलन करें कि प्राण बाहर कहाँ ठहरा है, कितने समय के लिये ठहरा है, और उतने समय में प्राण की गति की स्वाभाविक संख्या क्या है? इसे ही वाह्यवृत्ति प्राणायाम कहते हैं।

अभ्यास लगातार करते रहने पर यह दीर्घ अर्थात देर तक अथवा काफी समय तक रूके रहने वाला सूक्ष्म (हल्का) हो जाता है। अर्थात अनायास साध्य हो जाता है।

10.4.2 आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम–

श्वास अन्दर खींच कर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना **आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम** है, इसे **पूरक** भी कहा जाता है।

आभ्यन्तर वृत्ति के अन्तर्गत प्राणवायु को भीतर ले जाकर भीतर ही जितने काल तक सुखपूर्वक प्राणवायु को रोक सके रोके रहना होता है, प्राणवायु को रोकने के साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना कि आभ्यन्तर देश में प्राण कहाँ ठहरा है, वहाँ कितनी देर तक सुखपूर्वक ठहरा और उतनी देर में प्राण की गति की स्वाभाविक संख्या का अनुमान लगाना है, इसे ही आभ्यन्तर के साथ ही पूरक प्राणायाम भी कहते हैं।

इसका अभ्यास यदि निरन्तर करते रहे तो यह धीरे – धीरे दीर्घ व सूक्ष्म होता जाता है।

10.4.3 स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम–

श्वास प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को जहाँ है वहीं रोक देना **स्तम्भवृत्ति** कहलाता है। इसे कुम्भक प्राणायाम भी कहते हैं।

स्तम्भवृत्ति प्राणायाम के अन्तर्गत प्राणगति को रोकने का अभ्यास किया जाता है। इस प्राणायाम में प्राणवायु अपने स्वाभाविक क्रम से बाहर निकली हो अथवा भीतर गयी हो, जहाँ भी हो उसे वहीं रोक देना, उसकी गति को स्तम्भित कर देना है। तथा इस बात का आकलन करना कि प्राण कहाँ रूके हैं, कितने समय तक रूके हैं, कितने समय तक सुखपूर्वक रूके हैं, इस समय प्राण की स्वाभाविक गति की संख्या कितनी होती है, यही **स्तम्भवृत्ति प्राणायाम** है। इसे ही **कुम्भक प्राणायाम** भी कहते है, लम्बे समय तक अभ्यास बनाये रखने पर यह **दीर्घ व सूक्ष्म** हो जाता है।

प्राणायाम की तीन विधियों के द्वारा प्राण ऊर्जा का विस्तार, प्राण का परिशोधन, प्राण का परिमार्जन होता जाता है। परन्तु प्राणायाम की इस साधना में निरन्तरता, नियमिता तथा धैर्य के साथ–साथ आहार – विहार का कठोर अनुशासन होना आवश्यक है। निरन्तर अभ्यास से साधक की योग्यता का आधार विकसित होता है, तथा चतुर्थ विधि के लिये साधक योग्य हो जाता है।

10.4.4 बाह्य आभ्यन्तर विषयाक्षेपी –

प्राणायाम के साधक जिन्होंने प्राणायाम की प्रक्रिया के तीनों प्राणायाम का सम्यक् अभ्यास किया है, उन साधकों के लिये चौथे प्राणायाम की स्वत् ही अनुभूति होने लगती है, क्योंकि यह प्राणायाम उन लोगों के लिये है जो सूक्ष्म चेतना का संस्पर्श पाकर परा प्रकृति की झलक पा चुके हों।

प्राणायाम के इस भेद को **महर्षि पतंजलि** ने अगले सूत्र में वर्णित किया है–

''बाह्यभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः।'' **(पा0यो0सू0 2/51)**

अर्थात बाहर और भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने आप होने वाला चौथा प्राणायाम है।

बाहर व भीतर के विषयों का चिंतन का परित्याग कर देने से अर्थात इस विषय पर ध्यान न देकर कि इस समय प्राण बाहर निकल रहे है, या भीतर जा रहे हैं, अथवा चल रहे है, कि ठहरे हुये हैं, तथा मन को ईष्ट चिंतन में लगा देने से संख्या और काल के ज्ञान के बिना ही आने आप जो प्राणों की गति जिस किसी देश में रूक जाती है, वह चौथा प्राणायाम है।

स्वामी हरिहरानंद –

चिरकाल तक अभ्यस्त होकर जब बाह्य और अभ्यान्तर वृत्तियाँ अति सूक्ष्म होती हैं, तब उसका आक्षेप या अतिक्रमपूर्वक जो स्तंभवृत्ति होती है, वही चतुर्थ स्तम्भ वृत्ति है।

प्रिय विद्यार्थियों, **महर्षि पतंजलि** ने आसन के सिद्ध होने पर श्वास प्रश्वास की गति में विच्छेद ही प्राणायाम बताया है, तथा प्राणायाम के चार प्रकार बताये हैं।

प्राचीन एवं आधुनिक योग विषय ग्रन्थों में प्राणायाम के अलग – अलग प्रकार बताये गये हैं , जो निम्नलिखित है –

हठप्रदीपिका के अनुसार –

''सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी षीतली तथा,
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः।।'' **(2/44)**

अर्थात **सूर्य भेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा प्लाविनी** ये आठ प्रकार के **कुम्भक हैं।** यहाँ प्राणायाम को कुम्भक कहा गया है।

घेरण्ड संहिता के अनुसार –

'' सहितः सूर्यभेदष्च उज्जायी षीतली तथा,
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः।।''

अर्थात सहित, सूर्य भेदन, उज्जायी शीतली , भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली ये आठ प्रकार के प्राणायाम हैं।

इस प्रकार **हठप्रदीपिका एवं घेरण्ड संहिता में** आठ – आठ प्रकार के प्राणायामों का वर्णन किया गया है।

10.5 प्राणायाम की उपयोगिता –

प्रिय विद्यार्थियों, आपने प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया, अब यह जानना चाहेंगे कि प्राणायाम की उपयोगिता क्या है, क्यों **योगशास्त्र** में प्राणायाम की इतनी महत्ता बतायी गयी है।

योग शाास्त्रों में प्राण संचय पर अधिक बल दिया जाता है, तथा आध्यात्म शास्त्र में प्राणायाम की अधिक महत्ता कही गयी है,

महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम की उपयोगिता बताते हुये कहा है –

''ततः क्षीयते प्रकाषावरणम्।।'' (पा0यो0सू0 2/52

अर्थात प्राणायाम के द्वारा हमारे ज्ञान के ऊपर जो अज्ञान का आवरण है वह क्षीण हो जाता है।

अर्थात जिस प्रकार प्रातः काल उदय हुआ सूर्य अंधकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार प्राणायाम अशुद्धता को हटाता हुआ साधक को शुद्ध कर देता है।

महर्षि पतंजलि ने शरीर शुद्धि के साथ ही धारणा की योग्यता प्राणायाम द्वारा प्राप्त होती है, इस पर बल दिया है –

धारणासु च योग्यता मनसः ।। (पा0यो0सू0 2/53)

अर्थात प्राणायाम के अभ्यास से धारणा की योग्यता आ जाती है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है कि प्राणायाम से चित्त निर्मल होता है, जिसका वर्णन इस प्रकार है किया है –

''प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।'' (1/34)

अथवा प्राणवायु को बार – बार बाहर निकालने तथा बाहर ही रोकने (कुम्भक) के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है। अर्थात प्राणायाम से चित्त स्थिर होता है।

महर्षि व्यास के अनुसार – प्राणायाम के अभ्यास से ही योग्यता होती है अथवा प्राण के प्रच्छर्दनद विधारण के द्वारा स्थिति साधित होता है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार –'' आध्यात्मिक देश में चित्त का बंधन धारणा कहलाती है। प्राणायाम में निरन्तर आध्यात्मिक देश की भावना करनी पड़ती है।''

हठप्रदीपिका के अनुसार –

"चले वाते चलेचितं निश्चलं भवेत्।
योगी स्थणुत्वामाप्नोति ततोवायुं निरोधयेत्।।" 2/2

वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चलायमान होता है। तथा वायु के निश्चल हो जाने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है, तब योगी को स्थिरता प्राप्त होती है।

हठ प्रदीपिका में कहा गया है –

" प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।"
(हठप्रदीपिका 2/16)

अर्थात उचित रीति से प्राणायाम करने से सभी रोगों का नाश होता है।

हठप्रदीपिका में ही **प्राणायाम** की उपयोगिता बताते हुये कहा गया है –

" ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।
अभूवन्नतकभयात् तस्मात् पवनमभ्यसेत्।।" (हठप्रदीपिका 2/39)

अर्थात ब्रह्म आदि देवता भी काल के भय से प्राणायाम के अभ्यास में लगे रहते है। इसलिये प्राणायाम का अभ्यास सभी को करना चाहिये।

स्वास्थ्य की दृष्टि से प्राणायाम की उपयोगिता –

प्राणायाम का अभ्यास नियमित करने से शरीर एवं मन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्राणायाम से हमारा जीवन उत्कृष्ट बन जाता है। प्राणायाम का **शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक जीवन** पर प्रभाव पड़ता है। प्राणायाम का शारीरिक स्वास्थय पर निम्न प्रभाव पड़ता है।

शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्राणायाम की उपयोगिता –

प्राणायाम स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु अति उत्तम अभ्यास माना गया है, जैसा कि **अर्थववेद** के प्राणसूक्त में प्राणायाम द्वारा शारीरिक रोग विनाश हेतु प्राणायाम की उपयोगिता का वर्णन किया गया है। वेदों के मन्त्रों में प्राण के लिये **"औषध"** व **"भेषजम"** शब्द का प्रयोग किया गया है।

"अभिवृष्टा ओंषधयः प्राणेन समवादिरन्" (अथ0 11/4/6)
"अथो यद् भेषजं तवतस्य नो धेहि जीवसे" (अथ0 11/4/9)

प्राणायाम द्वारा शारीरिक स्वास्थय प्राप्त होता है। स्वस्थ रहने के लिये रक्त की शुद्धि आवश्यक है। अतः शुद्ध रक्त प्राणायाम से ही प्राप्त होता है। प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों में प्रवाहित हाने वाले रक्त को अधिक मात्रा में ऑक्सीजन मिलती है। प्राणायाम के द्वारा जितनी अधिक मात्रा में ऑक्सीजन मिलती है, उतनी अन्य किसी अभ्यास के द्वारा नहीं मिल पाती है। प्राणायाम शरीर को शुद्ध व स्वस्थ कर उपासना योग्य बना देता है। आयुर्वेद के अनुसार अनेक शारीरिक रोग जैसे **मधुमेह, प्रमेह, कैंसर तथा रक्तविकार** के रोगों में प्राणायाम विशेष रूप से लाभकारी है।

मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्राणायाम की उपयोगिता –

प्राणायाम विकृत मनःस्थिति को सुधारता है। प्राणायाम के द्वारा मन शरीर के बंधन से मुक्त होता है। प्राणायाम शरीर के साथ –साथ मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव डालता है। प्राणायाम से मस्तिष्क की विभिन्न क्रियाए व्यवस्थित हो जाती है। जिससे मस्तिष्क की कार्यक्षमता व स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। मानसिक तनाव दूर होता है। मानसिक रोगों

ओर मनोरोगों में प्राणायाम प्रभावशाली है। इन रोगों से मनुष्य मुक्त हो कर स्मरण शक्ति व बौद्धिक क्षमता में वृद्धि कर सकता है।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्राणायाम की उपयोगिता –

प्राणायाम का आध्यात्मिक स्वास्थ्य पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। वेदों में प्राणायाम की उपयोगिता का वर्णन किया गया है जैसा कि **सामवेद** में कहा गया है –

''धातुर्धुतानात्सवितुश्चविष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः।।'' (साम0 599)

अर्थात प्राण संयमी योगी शरीर रथ द्वारा भव सागर तैरने का ज्ञान प्राप्त करता है।

''न्वे सोम परिस्त्रव स्वादिष्ठो अंङ्गिरोभ्य। वारिवोविद् घृतं पयः।।''(साम0 981)

अर्थात प्राणायाम अभ्यासियों के लिये परमात्मा आनन्दरस रूप में अत्यन्त स्वाद है। प्रतिफल में ऐसे उपासकों को परमात्मा आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ प्रदान करता है।

प्राणायाम से प्रभु प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। आध्यात्मिक लाभ हेतु वेदों में **ऋग्वेद ऋचाओं में** वर्णन किया गया है,–

जो परमात्म परायण पुरूष, गुणों में श्रेष्ठ एवं सर्वप्रिय है, व अपनी बुद्धि से आध्यात्मिक यज्ञ में ज्ञान की आहुति प्रदान करें, जैसे कर्म रूपी यज्ञ वक्ता – पुरूष वाणी रूपी कर्म को करता है। वैसे ही साधक सर्वरक्षक परमात्मयज्ञ कुण्ड में दश प्राणों को डालते है। **(ऋ0 9/91/1)**

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में प्राणायाम का आध्यात्मिक लाभ विशेष रूप से वर्णित है। प्राणविद्या ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में विशेष रूप से वर्णित है।

प्राणायाम से राजयोग की प्राप्ति सम्भव है, मनुस्मृति में कहा गया है –

''देहयन्तेध्याय मासांनां धातुना हि यथा मलाः।
त्योन्द्रिप्राणा दहन्ते दोषाः प्राणस्थ निग्रहात्।।''

अर्थात जैसे अग्नि से तपाये स्वर्ण, रजत आदि धातुओं के भय जल जाते है, वैसे ही प्राणायाम के अनुष्ठान से इन्द्रियों में आ गये दोष विकार नष्ट हो जाते है, केवल इन्द्रियों के दोष ही दूर नहीं होते ,प्रयुक्त देह, मन प्राण के विकार दूर होकर इन पर विशित्व प्राप्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के लाभ का वर्णन करते हुये कहा है –

''ततः क्षीयते प्रकाषावरणम्'' (योग सूत्र 2/52)

उस (प्राणायाम के अभ्यास) से, प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण हो जाता है।

महर्षि व्यास – प्राणायाम अभ्यासकारी योगी के विवेकज्ञान का आवरण भूत कर्म क्षीण होता है।

स्वामी विवेकानंद – ''चित्त में स्वभावतः समस्त ज्ञान भरा है। वह सत्य पदार्थ द्वारा निर्मित है, परन्तु रज और तम पदार्थो से ढका हुआ है। प्राणायाम के द्वारा चित्त का यह आवरण हट जाता है।

इसी प्रकार महर्षि पतंजलि प्राणायाम के अन्य फल बताते हैं–

''**धारणासु च योग्यता मनसः'' (योग सूत्र 2/53)**

अर्थात प्राणायाम से धारणा की योग्यता आ जाती है।

''प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य'' (योग सूत्र 1/34)

अर्थात प्राणवार्य को बार – बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है।

महर्षि व्यास – प्राणायाम अभ्यास से ही (योग्यता होती है) अथवा प्राण के प्रच्छर्दनविधारण द्वारा स्थिति साधित होती है।

स्वामी हरिहारनंद – '' आध्यात्मिक देश में चित्त का बंधन धारणा कहलाती है। प्राणायाम में निरंतर आध्यात्मिक देश की भावना करनी पड़ती है।''

प्राणायाम की व्यवहारिक जीवन में उपयोगिता –

प्राणायाम व्यवहारिक जीवन में प्रभाव डालता है, शरीर और मन की उत्तेजनाओं जो मनुष्य के व्यवहार को विकृत करती है, प्राणायाम उन्हें सुधार कर संतुलित करता है। प्राणायाम मानसिक अवगुण जैसे **चिंता, भय, अशान्ति, असंतोष, ईर्ष्या, उद्वेग** को दूर करता है, तथा मानसिक गुणों जैसे **धैर्य, साहस, उत्साह, निष्ठा, श्रद्धा, आत्म मनोबल** आदि गुणों का विकास करता है, तथा मनुष्य व्यवहार कुशल होने लगता है।

10.6 सारांश –

प्रिय विद्यार्थियों प्राणायाम का अर्थ प्राण शक्ति का नियमन है। प्राण अर्थात जीवनी शक्ति तथा आयाम का अर्थ है विस्तार करना, नियमन करना, विच्छेद करना, इस प्रकार प्राणायाम का अर्थ है प्राण शक्ति का नियमन करना, प्राण शक्ति का नियमन कर मनुष्य **शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक** लाभ प्राप्त कर सकता है। हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम के आठ प्रकार बताये गये है। किन्तु **महर्षि पतंजलि** ने प्राणायाम के चार प्रकार बताये हैं। **बाह्य वृत्ति प्राणायाम, आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम, स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम, बाह्यआभ्यन्तर विषयाक्षेपी** चौथा प्राणायाम है। प्राणायाम के लाभों का वर्णन करते हुये **महर्षि** ने कहा है, कि प्राणायाम से साधक के ज्ञान के ऊपर अज्ञान का जा आवरण है वह हट जाता है। अर्थात प्राणायाम से ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, तथा प्राणायाम से धारणा की योग्यता आ जाती है, प्राण वश में हो जाते है। धारणा से ध्यान की स्थिति प्राप्त होती है। साधक को धारणा की योग्यता आ जाती है व ध्यान की परिपक्व अवस्था समाधि की प्राप्ति भी बिना प्राण के नियमन से सम्भव नहीं है। अतः प्राणायाम द्वारा मन पर नियंत्रण कर उच्च साधनाओं के योग्य बनाया जा सकता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न–

1. **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(क) प्राणायाम शब्द मिलकर बना है।
(अ) प्राण + आयाम (ब) प्राण + वायु (स) प्राण + मन (द) इनमें से कोई नहीं

(ख) प्राणायाम का पहला प्रकार है –
(अ) स्तम्भवृत्ति (ब) वाह्यवृत्ति (स) आभ्यान्तरवृत्ति (द) विषयाक्षेपी

(ग) प्राणायाम से निम्न प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं।
(अ) शारीरिक (ब) मानसिक (स) आध्यात्मिक (द) उपरोक्त सभी

(घ) प्राणायाम के फल का वर्णन योगदर्शन के निम्न सूत्रों में है –
(अ) 1/52, 1/53 (ब) 2/52, 2/53 (स) 4/52, 4/53 (द) 3/52, 3/53

2. **(क**) प्राणायाम के लाभ है –
(अ) प्रभु प्रशस्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

(ब) विकृत मनःस्थिति को सुधारता है।
(स) स्मरण शक्ति व बौद्धिक क्षमता में वृद्धि करता है।
(द) उपरोक्त सभी

(ख) ''प्राणायाम इति प्राणस्थ स्थिरता'' यह कथन है –
(अ) सिद्ध सिद्धान्त पद्धति (ब) वशिष्ठ संहिता (स) शिव संहिता (द) इनमें से कोई नहीं

(ग) प्राण और अपान का उचित संयोग कहलाता है –
(अ) आसन (ब) प्राणायाम (स) मुद्रा (द) बंध

(घ) असत्य बताइये –
(अ) प्राण की स्थिरता को प्राणायाम कहते है।
(ब) प्राण की स्थिरता को आसन कहते है।
(स) रेचक पूरक कुम्भक से प्राणायाम बनता है।
(द) इनमें से कोई नहीं।

10.7 शब्दावली –

1. विकृत – बिगड़ा हुआ
2. मनःस्थिति – मन की स्थिति
3. अनुष्ठान – नियमपूर्वक किसी कार्य को करना/ शास्त्र विहित कार्य का आचरण
4. चलायमान– अस्थिर चंचल
5. बाह्यवृत्ति– प्रश्वास, रेचक
6. आभ्यन्तरवृत्ति– श्वास, पूरक
7. स्तम्भवृत्ति– प्राण को जहाँ का तहाँ रोक देना।

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. (क) अ (ख) ब (ग) द (घ) ब
2. (क) द (ख) अ (ग) ब (घ) ब

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. शास्त्री राजवीर, (2005) **पातंजल–योगदर्शन–भाष्यम्**। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली।
2. पाड्या प्रणव, (2011) **अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञानविज्ञान (भाग2)**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
3. दशौरा नन्द लाल, (2006) **योगदर्शन**।
4. शर्मा श्री राम, (1982) **सांख्य दषन एवं योगदर्शन–भाष्यम्**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
5. सरस्वती दिव्यानन्द, (1999) **वेदों में योग विद्या।** यौगिक शोध – संस्थान, योगधाम ज्वालापुर हरिद्वार ।

10.10 सहायक पाठ्य सामग्री –

1. करंबेलकर, पु0वि0, (1989) **पातंजल योगसूत्र**। कैवल्यधाम।
2. पन्त पूर्णचन्द्र, (2002) **योग विज्ञान**। पूर्णचन्द्र पंत्र शास्त्री नाहन हिमाचल प्रदेश।

10.11 निबंधात्मक प्रश्न –

1. प्राणायाम को परिभाषित कीजिए, व प्राणायाम के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. प्राणायाम का अर्थ बताते हुये प्राणायाम की उपयोगिता स्पष्ट कीजिये।

इकाई 11 – प्रत्याहार का स्वरूप एवं उपयोगिता

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 प्रत्याहार का स्वरूप
11.3.1 प्रत्याहार का अर्थ
11.3.2 प्रत्याहार की परिभाषा
11.3.3 प्रत्याहार के प्रकार
❖ **प्रत्याहार सिद्धि में सहायक साधन**
❖ **प्रत्याहार में बाधक तत्व**
11.4 प्रत्याहार की उपयोगिता
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.9 सहायक पाठ्य सामग्री
11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना –

प्रिय विद्यार्थियों इससे पूर्व की इकाई में आपने योग के चौथे अंग प्राणायाम का अध्ययन किया। योग दर्शन में वर्णित अष्टांग योग में पाँचवा अंग प्रत्याहार है। अष्टांग योग में पाँच **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार** ये बहिरंग साधन है। इन साधनों में सभी क्रियाए शरीर द्वारा की जाती है। इसके बाद शरीर द्वारा की जाने वाली क्रियाए समाप्त होकर साधक अक्रिया के मार्ग पर चला जाता है। जिसमें अंतरंग साधना **धारणा, ध्यान, समाधि** है। इस प्रकार **अष्टांग योग** के पाँचवे साधन **प्रत्याहार** इन्द्रियों के माध्यम से मन को नियंत्रित करने की प्रक्रिया है।

पूर्वोक्त साधन प्राणायाम जब सिद्ध हो जाता है तभी मन स्थिर होने लगता है। मन के स्थिर होने पर विषयों का चिन्तन छूट जाता है तथा मन धारणा के योग्य बन जाता है। जिससे इन्द्रियों की वाह्य वृत्तियाँ अपने आप छूट जाती है तथा चित्त में विलिन हो जाती है तथा इन वृत्तियों का विषयों की ओर भागना बंद हो जाता है। यही स्थिति प्रत्याहार है

11.2 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- प्रत्याहार के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- प्रत्याहार के अर्थ व परिभाषा महर्षि पंतजलि द्वारा व अन्य दर्शनों द्वारा, का अध्ययन कर सकेंगे।
- प्रत्याहार की उपयोगिता का विश्लेषण कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिये गये प्रश्नों के उत्तर दे पाने में सक्षम हो सकेंगे।

11.3 प्रत्याहार का स्वरूप –

महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग का पाँचवा अंग प्रत्याहार है। **महर्षि पतंजलि** द्वारा प्रत्याहार बर्हिरंग योग के अन्तर्गत माना गया है , जिसका वर्णन साधन पाद के अन्तर्गत इस प्रकार किया गया है।

''**स्वविंषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार**'' **(पा0यो0सू0 – 2/54)**

अर्थात इन्द्रियों का जब स्व विषयों से सम्बन्ध नहीं रहता है, तब उनका चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

प्रत्याहार का सम्बन्ध विशेष रूप से इन्द्रियों से है, तथा इन्द्रियों के विषयों से है। इन्द्रियों पर जितना अधिकार होता जाता है, **मन, बुद्धि** प्रभावित होती जाती है तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर साधक समाधि की प्राप्ति कर सकता है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ, व मन स्थूल व सूक्ष्म विषयों की ओर बिना प्रयोजन आकृष्ट नहीं होती है।

प्रत्याहार के बाद साधक को यह उपलब्धि प्राप्त होती है कि साधक का विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग हो जाता है। साधक में मानसिक परिवर्तन आने लगते हैं। प्रत्याहार सिद्ध होने पर मन अधिक शक्तिशाली हो जाता है तथा मन पर नियन्त्रण हो जाता है तथा इस शक्तिशाली मन को चित्त को प्रत्याहार के बाद किसी एक जगह ठहराने की बात महर्षि पतंजलि ने कही है। (3/1) इसके बाद **धारणा, ध्यान, समाधि के** साधनों, जो कि अंतरंग साधन में है प्रवेष कर अपने मन को चित्त में तथा चित्त को अपने कारण तत्व में विलिन कर **कैवल्य** प्राप्त किया जा सकता है।

11.3.1 प्रत्याहार का अर्थ –

प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है – प्रति अर्थात विपरीत तथा आहार अर्थात विषय। इस प्रकार प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ इन्दियों द्वारा अपने विषयों को ग्रहण ना करना तथा उन्हें लौटा देना।

अर्थात जब साधक इन्द्रियों के विषयों को त्यागकर चित्त को अपने ध्येय में लगा देता है, तब इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर आकृष्ट होकर चित्त में विलीन सी हो जाती है। इसे ही प्रत्याहार कहा गया है।

प्रत्याहार में यह स्थिति तब सम्भव है जब इन्द्रियाँ चित्त के अनुसार कार्य करने लगे, इसके लिए मन का निग्रह करना आवश्यक है।

व्यासभाष्य में उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है –

यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविषमानमनु निविषन्ते,
तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरूद्धानि, इत्येष प्रत्याहारः। (व्यास भाष्य – 2/54)

अर्थात जैसे मधु बनाने वाली रानी मक्खी के बैठने के साथ – साथ बैठती है, और रानी मक्खी के उड़ने पर अन्य मक्खियाँ उड़ जाती है। ऐसे ही इन्द्रियाँ भी चित्त निरोध हो जाने पर निरूद्ध हो जाती है। यह प्रत्याहार की सिद्धि का लक्षण है।

प्रिय विद्यार्थियों प्रत्याहार को दूसरे अर्थो में इस प्रकार समझा जा सकता है – चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होता है, तथा समाहित होने लगता है, तब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती है तथा उसी के अनुरूप आचरण करती है। यही प्रत्याहार है।

दूसरे शब्दों में प्रत्याहार वह स्थिति है जब विषयों के चिन्तन से मन को हटा दिया जाए तथा मन को संकल्पशून्य बना दिया जाए। अर्थात मन में या चित्त में जो भी विचार उठें उन विचारों को बलपूर्वक हटा देना जैसे जो भी नकारात्मक विचार या विषय इन्द्रियों को बर्हिमुखी बना रहे हैं तो उन्हें बलपूर्वक सकारात्मक विचारों से हटा दिया जाए।

प्रिय विद्यार्थियों यदि हम सकारात्मक विचारों को ग्रहण करें तो विवेक ज्ञान द्वारा हम इन्द्रियों को संयमित बना सकते हैं, इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। जैसे जो खाने लायक हो उसे ही खाया जाए ना कि जो कुछ भी देखा या मिला उसे ही खा लिया जाए, जो सुनने लायक हो उसे सुना जाए, इसी तरह जो देखने लायक हो उसे देखा जाए, इसी प्रकार इन्द्रियों के अन्य विषयों पर भी नियंन्त्रण किया जा सकता है। इस प्रकार हमारी इन्द्रियां सकारात्मक वृत्तियों के प्रवाह होते रहने से संयमित हो जाती है। तथा अपने आहार से विमुख हो इश्वरोन्मुख हो जाती है। अन्तर्मुखी हो जाती है।

श्रीमदभगवद्‌गीता के छठे अध्याय में श्रीकृष्ण ने भी उपदेश देते हुए कहा है –

"यतो यतो निष्चरति मनष्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्मैतदात्मन्येव वषं नयेत्।" (गीता 6/26)

अर्थात स्थिर न रहने वाला चचंल मन जिन – जिन विषयों में रमण करता है, उस–उस विषय से मन को हटाकर बार – बार परमात्मा के चिन्तन में ही लगाते रहना चाहिए।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने प्रत्याहार का वर्णन करते हुए कहा है –

"**यत्करोषि यदष्नासि यज्जुहोषि ददादि यत्।**
यत्तपष्यसि कौन्तेय ! तत्कुरूष्व मदर्पणम्।।" (गीता 9/27)

अर्थात हे अर्जुन ! तू जो भी कर्म करता है, जो भी कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और स्वधर्म के पालनरूप जो भी तप करता है, वह सब मुझ परमात्मा को अर्पण कर दे।

11.3.2 प्रत्याहार की परिभाषा –

प्रिय विद्यार्थियों अभी आपने प्रत्याहार का अर्थ का अध्ययन किया। प्रत्याहार इन्द्रियों को अपने आहार से विमुख करना है। परन्तु आपके मन में प्रश्न उठ रहे होंगे कि **महर्षि पतंजलि** ने प्रत्याहार की क्या परिभााषा दी है। अब आप महर्षि पतंजलि द्वारा दी गयी

परिभााषा का अध्ययन करेंगे। साथ ही विभिन्न योग ग्रन्थों में दी गयी प्रत्याहार की परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे।

योग दर्शन में प्रत्याहार का वर्णन करते हुए महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार लिखा है –

"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।।" (पा0यो0सू0 2/54)

अर्थात जब इन्द्रियों का स्व–विषयों से सम्बन्ध नहीं रहता तब उनका चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना **'प्रत्याहार'** है।

महर्षि व्यास – इन्द्रियगण भी चित्त निरोध होने पर निरूद्ध होते हैं। यही प्रत्याहार है।

स्वामी विवेकारनन्द – यदि तुम चित्त को विभिन्न आकृतियाँ धारण करने से रोक सको, तभी तुम्हारा मन शान्त होगा और इन्द्रियाँ भी मन के अनुरूप हो जाएंगी। इसी को प्रत्याहार कहते हैं।

विज्ञानभिक्षु – इन्द्रियों का निग्रह करना अर्थात उन्हें वश में करके अपनी इच्छानुसार उनसे कार्य लेना ही प्रत्याहार है।

विष्णु पुराण – योगविदों को चाहिए कि वह शब्दादि विषयों में आसक्त इन्द्रियों का निग्रह और अपने – अपने विषयों से निरूद्ध इन्द्रियों को चित्त का अनुकरण करने वाला बनायें। यही अभ्यास प्रत्याहार का रूप धारण कर लेता है।

घेरण्ड संहिता – यतो – यतोनिष्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वषं नयेत्।। (घे0सं0 4/2)

अर्थात जहाँ – जहाँ मन विचरण करे, इसे वही से लौटाने का प्रयत्न करते हुए आत्मा को वंश में करें।

11.3.4 प्रत्याहार के प्रकार –

प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि कृत योगदर्शन में प्रत्याहार का वर्णन किया गया है, परन्तु प्रत्याहार के प्रकार नहीं बताये गये हैं।

जबालदर्शनोपनिषद में प्रत्याहार के प्रकारों का वर्णन किया गया है – जिसका वर्णन निम्न प्रकार से है –

प्रथम प्रकार –

"इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः सउच्यते।।

अर्थात उन इन्द्रियों को जो स्वभाव से विषयों में विचरण करने वाली है, उन्हें बलपूर्वक वहाँ से लौटा लाने को प्रत्याहार कहा है।

पहले प्रकार का प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियों को बलात् सजातीय (सकारात्मक) वृत्तियों की ओर लौटा लाना एक प्रकार का प्रत्याहार है।

दूसरा प्रकार – दूसरे प्रकार के प्रत्याहार का वर्णन इस प्रकार से है –

"यत्यष्यति तु तर्त्सव ब्रह्म पष्यन् समाहितः।
प्रत्याहारो भवेदेषः ब्रह्मविदिभः पुरोहितः।।"

अर्थात हमें जो भी दिखाई दे रहा है, वह ब्रह्ममय है, ऐसी भावना करते हुए परंब्रह्म (परमात्मा) में मन को एकाग्र कर लेना दी ब्रह्मवादियों के अनुसार प्रत्याहार कहा गया है।

तीसरा प्रकार –

" यच्छुद्धमषुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम्।

तत्सर्व ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते।

अर्थात मनुष्य मृत्युपर्यन्त जो भी शुद्ध या अशुद्ध कर्मो को करता है, वह उन सभी कर्मा को ईश्वर को समर्पित कर दे, यह भी प्रत्याहार ही कहा जाता है।

इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियों जबालदर्शनोपनिषद में भगवान दत्तात्रेय जी द्वारा तीन प्रकार का प्रत्याहार का वर्णन किया गया हैं। जिसमें प्रथम प्रकार के प्रत्याहार में स्वभाववश विषयों में रमण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक उनके विषयों से अभिमुख कर लौटा लाना ही प्रत्याहार है।

इसी प्रकार दूसरे प्रकार का प्रत्याहार वेन्दान्तवादियों का प्रत्याहार कहा जा सकता है कि समस्त जगत को ब्रह्ममय देखो, तथा सभी जगह इसी परम् ब्रह्म परमेश्वर की सत्ता है। **''एकोब्रह्मद्वितीयोनास्ति''** इसी प्रकार इसी परम् ब्रह्म परमात्मा में दृष्टि एकाग्र कर लेना ब्रह्मवादियों का प्रत्याहार है।

तीसरे प्रकार का प्रत्याहार मनुष्य जो भी कर्म करें, उसे उसमें अपने कर्तव्य कर्मो का भान हो ,अपने कर्मो को करते हुए सभी कर्मो को परमेश्वर को समर्पित करे दे, यह तीसरे प्रकार का प्रत्याहार है।

श्रीमद्भगवतगीता में भी यही बात **योगेश्वर श्री कृष्ण ने** इस प्रकार कही है –

'' **यत्करोषि यदष्नासि यज्जुहोषि ददाति यत्।**
यत्त्पष्यसि कौन्तेय ! त्तकुरूष्य मदर्पणम्।।

अर्थात हे अर्जुन ! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, और स्वधर्म के पालन हेतु जो तप करता है, वह सब कुछ मुझ परमात्मा को अर्पित कर दे। सभी कर्मो को ईश्वर को समर्पित कर देना भी प्रत्याहार ही है। इस प्रकार प्रिय विद्यार्थियों यह प्रत्याहार अन्तर्जगत में प्रवेश का प्रमुख साधन है। प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर इन्द्रियजन्य की प्राप्ति होती है तथा साधक **धारणा, ध्यान, समाधि रूप** अंतरंग योग में प्रवेश पा सकता है।

प्रत्याहार सिद्धि में सहायक साधन –

प्रिय विद्यार्थियों प्रत्याहार की सिद्धि में कुछ साधन सहायक होते है। उन्हें साधक साधन कहा जा सकता है। जिनके द्वार प्रत्याहार सिद्धि में सहायता प्राप्त होती है। परन्तु कुछ साधन प्रत्याहार सिद्धि में बाधक होते हैं, उन्हें बाधक साधन कहा जा सकता है। इन साधनों का वर्णन निम्न है।

I. **इन्द्रिय दमन –** प्रत्याहार सिद्धि के लिए प्रथम साधन इन्द्रिय दमन कहा जा सकता है, क्योंकि मनुष्य प्राचीन काल से ही अपनी इच्छाओ को इन्द्रियों द्वारा ही पूर्ण तृप्त करता आया है। अतः इन इन्द्रियों का स्वभाव पूर्व से ही बर्हिगमन का होता है। जो अतिदृढ़ होता जाता है। इन इन्द्रियों के स्वभाव में शिथिलता दमन से ही सम्भव है।

II. **विवेक ज्ञान –** इन्द्रियाँ दमन के पश्चात और उच्छखल होकर इधर – उधर अपने विषयों की ओर जा सकती है। अतः उन्हें शान्त करने के लिए दूसरे साधन को अपनाना चाहिए। प्रत्याहार सिद्धि में दूसरा सहायक साधन विवेक है। मन तथा इन्द्रियों की स्वामी बुद्धि, द्वारा विषयों के दोषदर्शन करने पर विषयों के प्रति अनुराग का त्याग हो जाता है। तब मन, इन्द्रियों तथा चित्त पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। विषयों के दोषदर्शन का बार – बार अभ्यास करने

से बुद्धि बाह्य विषयों से विरक्त होकर अन्तःज्ञान की ओर उन्मुख होने लगती है।

इन्दियाँ सुपथगामी तभी हो सकती है, जब मन सुसंस्कृत हो, सुसंस्कृत मन तभी बन सकता है, जब बुद्धि – विवेक सम्पन्न हो, बुद्धि मन को तभी उत्कृष्ट तथा सुपथगामी बना सकती है, जब साधक का चित्त स्वयं आत्मा के अधीन होकर विवेक – वैराग्य से युक्त होगा।

प्रत्याहार के साधक तत्वों में **योगदर्शन में** आदेश दिया गया है –

'ते प्रतिप्रसवहेया : सूक्ष्माः।' (पा0यो0दर्षन – 2/10)

अर्थात पूर्व जन्म के संस्कार रूपी क्लेशों को क्रिया योग से सूक्ष्म किये जाने तथा चित्त को अपने कारणों में लौटा देने से ये नष्ट करने योग्य है।

अर्थात ये क्लेशों का नाश निर्बीज समाधी में ही सम्भव हो सकता है। सबीज समाधि में इन क्लेशों का बाह्य रूप क्षीर्ण हो जाता है किन्तु बीज रूप में ये चित्त में विराजमान रहते है। अतः साधक को चाहिए कि आरम्भ में ही इन्हें ध्यान योग अथवा क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म किया जा सकता है तथा सबीज समाधि में चित्त को भी विलीन कर देता है। तब निर्बीज समाधि प्राप्त होती है।

'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।' (पा0 यो0 सू0 – 2/11)

अर्थात उन क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा नष्ट करने योग्य है।

अर्थात क्लेशों की वृत्तियाँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार की होती है। जो कर्मो द्वारा आचरण में उतरती है। जैसे किसी से **राग, द्वेष रखना, हिंसा** आदि क्रिया करना। यह उनका स्थूल स्वरूप है। इसे सर्वप्रथम क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म किया जाना चाहिए। कुविचार आने पर भी उन्हें क्रियान्वित ना करना सदाचार का आचरण करना, इस प्रकार यह क्लेश निर्बल हो जाते है। इसके बाद भी इनका विचारों में बार – बार आना खत्म नहीं होता है। जो इनका सूक्ष्म रूप है। यह फिर सम्प्रज्ञात समाधि में नष्ट हो जाता है। इस प्रकार विचार आने भी बंद हो जाते हैं। इसके बाद ये बीज रूप में ये क्लेश विद्यमान रहते हैं।

पूर्वोक्त सूत्र 2/10 में क्रियायोग द्वारा ये स्थूल वृत्तियां सूक्ष्म हो जाती है। अतः क्रियायोग से सूक्ष्म होकर ये वृत्तियाँ ध्यान द्वारा नष्ट हो जाती है।

प्रत्याहार में बाधक तत्व

प्रिय विद्यार्थियों प्रत्याहार की सिद्धि में एक वस्तु बाधक बनती है। जिसे 'प्रारब्ध' कहते हैं। हमारे जन्म – जन्मान्तरों से एकत्र हुये वासना रूपी संस्कार चित्त में एकत्र रहते है। ये संस्कार किसी निमित्त को पाकर जागृत हो जाते है, तथा मन, बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को भी बलपूर्वक विषयों की ओर उन्मुख कर देते है, तब मनुष्य लाभ – हॉनि की अनदेखी कर इन कर्मो में प्रवृत्त रहता है।

जैसा कि कहा गया है –

'' देवेन केनापि हृदिस्थितेन यथा नियुक्ताऽस्मि तथा करोमि।''

अर्थात यह प्रारब्ध हमारे संस्कार रूपी देवता है, जो हमारे कर्म – विपाक (कर्मो के फल) के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को प्रेरित करता है। इस भोग लिप्सा के जाग्रत होने पर बड़े–बड़े ज्ञानी, ध्यानी का तप, ध्यान, ज्ञान, निष्फल होते देखा गया है। क्योंकि बिना प्रत्याहार के कोई भी साधक **धारणा, ध्यान, समाधी** रूप अन्तरंग योग में प्रवेश नहीं कर

सकता है। अतः साधक को प्रत्याहार द्वारा अपनी वृत्तियों को अर्न्तमुखी बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए , क्योंकि अन्तर्मुखता ही मनुष्य के कल्याण का साधन है।

11.4 प्रत्याहार की उपयोगिता –

प्रिय विद्यार्थियों, आपने प्रत्याहार के स्वरूप परिभाषा व प्रकारों का अध्ययन किया। अब आपके मन में यह प्रश्न उठ रहे होंगे कि प्रत्याहार की क्या उपयोगिता है। प्रत्याहार किस प्रकार हमारे **शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्वास्थ्य** को प्रभावित करता है तथा प्रत्याहार का फल हमें क्या प्राप्त होता है। **प्रत्याहार के फल का वर्णन योगदर्शन में इस प्रकार दिया गया है –**

''ततः परमावष्यतेन्द्रियाणाम्।'' (पा0यो0सू0 2/55)

अर्थात इस प्रत्याहार से इन्द्रियाँ पूर्ण वशवर्तिनी हो जाती है। अर्थात प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर इन्द्रिया पूर्ण नियन्त्रण में आ जाती है। जबकि प्रत्याहार के सिद्ध हाने से पूर्व इन्दियाँ अपने–अपने विषयों की ओर आकर्षित होती थी , उन पर कोई नियन्त्रण नहीं था, परन्तु प्रत्याहार के सिद्ध हाने पर इन्द्रियाँ वशवर्तिनी हो जाती है। अब इन वश में हुयी इन्द्रियों को साधक जहाँ चाहे वहाँ लगा सकता है।

प्रत्याहार साधक के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है। जिसका वर्णन इस प्रकार है –

स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्याहार की उपयोगिता – प्रत्याहार से तात्पर्य इन्द्रिय संयम से है। अर्थात इन्द्रिय संयम रखते हुए योग के साधनों का पालन करने से शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है।

शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्याहार की उपयोगिता – प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य अपने आहार तथा प्रत्याहार आदतों को संयमित तथा सकारात्मक दिशा प्रदान करता हैं क्योंकि असंयमित जीवनशैली ही समस्त रोगों के मूल में है। प्रत्याहार के द्वारा शुद्ध सात्विक आहार – विहार तथा सांसारिक विषय अपनाता है एवं नकारात्मक वस्तुओं से स्वयं दूर होता चला जाता है। इन सभी के परिणामस्वरूप मनुष्य का शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है।

मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्याहार की उपयोगिता – प्रत्याहार जो कि इन्द्रियजय की अवस्था है अर्थात प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती हैं। जिससे कि शुद्ध आहार निश्चित दिनचर्या एवं विषय भोगों के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है। जिससे मानसिक ऊर्जा में वृद्धि होती है। जैसा कि सर्व विदित ही है कि हमारे आहार के स्थूल भाग से शरीर को पोषण मिलता है तथा आहार के सूक्ष्म अंश से मन का निर्माण होता है। इन्द्रिय जय से साधक की शुद्ध सात्विक आहार ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है। जिससे स्वस्थ शरीर के साथ–साथ मन का निर्माण होता है। शुद्ध सात्विक मन ही उपासना, साधना योग्य होता है। जैसा कि **रामचरितमानस** में कहा गया है –

''**निर्मल मन जन सो मोहि पावा**
मेहि कपट छल छिद्र ना भावा।''

अर्थात निर्मल मन से ही ईश्वर को पाया जा सकता है। ईश्वर को छल, छिद्र कपट त्याग कर ही पाया जा सकता है।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्याहार की उपयोगिता–इन्द्रिय संयम कर जीवन जीने से साधक के शरीर व मन के साथ–साथ आत्मा की उन्नति होती है। विषयों के प्रति वैराग्य होने से मन एकाग्र हो जाता है। शान्त व अन्तर्मुखी होने लगता है। शान्त मन ही ईश्वरोन्मुख होता जाता है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियजय की स्थिति प्राप्त होती है। प्रत्याहार से इन्द्रियाँवश में होकर आध्यात्म का मार्ग प्रशस्त करती है। साधक उन्हें जहाँ चाहें वहा (उच्च साधना) में लगा सकता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1- **सत्य / असत्य**

(क) अष्टांग योग का चौथा अंग प्रत्याहार है।
(ख) प्रत्याहार बहिरंग साधन है।
(ग) इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना प्रत्याहार है।
(घ) प्रत्याहार सिद्धि में सहायक साधन इन्द्रिय दमन व विवेक ज्ञान हैं।
(ड़) प्रत्याहार से साधक अंतरंग योग में प्रवेश नहीं पा सकता है।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

(क) प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों को ग्रहण करना तथा उन्हें ....देना।
(ख) इन्द्रिया सुपथगामी तभी हो सकती है जब मन ....हो।
(ग) प्रत्याहार से इन्द्रियाँ पूर्ण ....हो जाती हैं।
(घ) प्रत्याहार ....में प्रवेश का प्रमुख साधन है।
(ड़) समस्त ....को ईश्वर को समर्पित कर देना भी प्रत्याहार ही है।

11.5 सारांश –

प्रिय विद्यार्थियों इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों को ग्रहण ना करना तथा उन्हें लौटा देना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार **अष्टांग योग** में बहिरंग योग का पाँचवा साधन है। प्रत्याहार की सिद्धि हो जाने पर साधक का विषयों के प्रति आसक्ति नहीं रहती हैं। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ पूर्णतया वशवर्तिनी हो जाती है। साधक उन इन्दियों का जहाँ चाहे अर्थात सकारात्मक वृत्तियों की ओर उन्मुख कर सकता है। प्रत्याहार द्वारा साधक की शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति होने लगती है। प्रत्याहार से चित्त को किसी एक स्थान में ठहराया जा सकता है। प्रत्याहार की सिद्धि में इन्द्रिय दमन व विवेकज्ञान सहायक साधन है, तथा प्रारब्ध कर्मो को बाधक साधन के रूप में देखा जा सकता है। तथा इन प्रारब्धरूपी कर्मो के संस्कारों, क्लेशों को क्रियायोग तथा ध्यान द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

11.6 शब्दावली –

स्व	–	**व्यक्ति का अपना**
विषय	–	**पदार्थ**
असंप्रयोग	–	**सम्पर्क में नहीं आना**
मधु	–	**शहद**
अनुरूप	–	**उसी के अनुसार**
सजातीय	–	**सकारात्मक**

तदाकार	–	तद्रूप, तन्मय या उसी आकार का
सकारात्मक	–	अच्छे, विधेयात्मक

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. क. असत्य, ख. सत्य, ग. सत्य, घ. सत्य, ड़. असत्य
2. क. नालौटा, ख. सुसंस्कृत ग. वषवर्तिनी घ. अन्तर्जगत ड़. कर्मो

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. परमहंस योगेश्वरानन्द (1997), बहिरंग योग। योग निकेतन ट्रस्ट नई दिल्ली।
2. शास्त्री राजवीर, (2005) **पातंजल–योगदर्शन–भाष्यम्**। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली।
3. पाड्या प्रणव, (2011) **अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञानविज्ञान (भाग2)**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
4. दशौरा नन्द लाल, (2006) **योगदर्शन रणभीर प्रकाशन,** हरिद्वार।
5. शर्मा श्री राम, (1982) **सांख्य दर्शन एवं योगदर्शन–भाष्यम्**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार।
6. सरस्वती दिव्यानन्द, (1999) **वेदों में योग विद्या।** यौगिक शोध – संस्थान, योगधाम ज्वालापुर हरिद्वार ।

11.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. करंबेलकर, पु0वि0, (1989) **पातंजल योगसूत्र**। कैवल्यधाम।
2. पन्त पूर्णचन्द्र, (2002) **योग विज्ञान**। पूर्णचन्द्र पंत्र शास्त्री नाहन हिमाचल प्रदेश।

11.10 निबंधात्मक प्रश्न –

प्रश्न 1– प्रत्याहार के अर्थ को स्पष्ट करते हुए साधना में इसकी उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2 – प्रत्याहार को परिभाषित कीजिए व प्रत्याहार सिद्धि में सहायक साधनों का वर्णन कीजिए।

इकाई 12 धारणा का स्वरुप

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्‌देश्य
12.3 धारणा का स्वरूप
12.3.1 धारणा की परिभाषा
12.3.2 धारणा के प्रकार
12.3.3 धारणा की उपयोगिता
12.4 ध्यान का स्वरूप
12.4.1 ध्यान की परिभाषा
12.4.2 ध्यान के प्रकार
12.4.3 ध्यान की उपयोगिता
12.5 सारांश
12.6 शब्दावली
12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.9 सहायक पाठ्य सामाग्री
12.10 निबन्धात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना –

प्रिय विधार्थियों, महर्षि पतंजलि ने साधन पाद, क्रियायोग, पंचक्लेश, हेय, हेतु, हान ओर हानोपाय रूप योग के चतुर्व्यूह का कथन तथा दृश्य और दृष्टा का स्वरूप बताया है। कैवल्य के स्वरूप का वर्णन किया है तथा कैवल्य को प्राप्त करने के लिए योगागों के बर्हिरंग योग का फल सहित वर्णन किया है। योग के बर्हिरंग अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार हैं। तृतीय पाद विभूति पाद में महर्षि ने धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन किया है। धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरंग योग के साधन है। बर्हिरंग साधनों से चित्त निर्मल तथा सूक्ष्म विषय को जानने की सामर्थ्य प्राप्त करता है। धारणा व ध्यान योग के प्रमुख साधन है। अष्टांग योग ऑठवा अंग समाधि इससे प्रथम अंगो का फल है जो अपने आप में एक विभूति है और इस विभूति की प्राप्ति में अन्तरंग साधन धारणा व ध्यान की महत्तवपूर्ण भूमिका है। धारणा किसी एक स्थान में चित्त को ठहराने की अवस्था है तथा ध्यान उस स्थान विशेष में वृत्ति का एक तार चलना ध्यान है।

12.2– उद्देश्य –

प्रस्तुत ईकाई के अध्ययन के बाद आप –

- धारणा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- धारणा की उपयोगिता समझ सकेंगे।
- ध्यान कर प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- ध्यान के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन कर सकेंगे।
- ध्यान कर उपयोगति को समझ सकेंगे।
- धारणा व ध्यान, समाधि की प्राप्ति में सहायक है, समझ सकेंगे।

12.3– धारणा का स्वरूप –

महर्षि पतंजलि ने तृतीय पाद विभूति पाद केवल उत्तम अधिकारियों के लिए बताया गया है। जब साधक पूर्व के अभ्यासो पर दक्षता प्राप्त कर लेता है तभी साधक धारणा का अभ्यास कर सकता है। धारणा, ध्यान व समाधि एक मानसिक प्रक्रिया है जो कि अष्टांग योग के अन्तरंग साधन के रूप में आते है। धारणा अन्तरंग योग के प्रथम अभ्यास के रूप में वर्णित है। अष्टांग योग का छठा अंग धारणा है। धारणा वह है कि जब मन की चंचलता समाप्त हो जाए तथा नाभि, हृदय, नासिका के अग्रभाग या जीभ के अग्रभाग आदि देश में चित्त को ठहरा दिया जाए।

महर्षि पतंजलि ने धारणा का वर्णन करते हुए इस प्रकार वर्णन किया है –

''देशबंधश्चित्तस्य धारणा।'' – पा0 यो0 सू0 3/1

अर्थात किसी एक देश में चित्त का ठहराना धारणा है। अर्थात चित्त की किसी एक देश (स्थान) में बाहर (सूर्य,चन्द्र कमल) अथवा शरीर के भीतर (हृदय कमल, भुकृटि, नाभि आदि) में ठहराना धारणा है।

इस सूत्र में धारणा की व्याख्या की गई है कि जब चित्त कर भटकाव समाप्त हो जाता है, तब वह पूर्णतया साधक के नियन्त्रण में आ जाता है। इसी चित्त शक्ति का उपयोग इस स्थिति से पहले संसार की उपलब्धियों तथा भोगो में हो रहा था। नियन्त्रित चित्त अब किसी एक स्थान पर अपनी इच्छानुसार केन्द्रित किया जा सकता है। वह स्थान शरीर के भीतर भुकृटि, नाभि, हृदय चक्र आदि हो सकते है, अथवा बाह्रय स्थान सूर्य,

गुरूमूर्ति, ध्रुव आदि हो सकते है। इन भिन्न–भिन्न स्थान पर चित्त को ठहरा देना ही धारणा है।

- **धारणा का अर्थ –** धारणा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द के 'धृ' से हुई है। जिसका अर्थ है–आधार या नींव। इस प्रकार धारणा का अर्थ वह वस्तु या प्रत्यय जिस पर मन दृढ़तापूर्वक आधारित होता है।

योग में धारणा का यह अर्थ लिया गया है – मन को किसी एक बिन्दु पर लगाये रखना या टिकाये रखना धारणा है।

12.3.1 – धारणा की परिभाषा –

प्रिय विद्यार्थियों **महर्षि पतंजलि** ने धारणा को इस प्रकार परिभाषित किया है –

''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''। (3/1)

अर्थात किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है।

महर्षि व्यास ने धारणा का वर्णन इस प्रकार किया है –

''नाभिचके ह्रदयपुडण्रीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु वाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।''

अर्थात नाभिचक्र, ह्रदय, पुण्डरीक, मूर्धाज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि देशों में (बन्ध होना) अथवा वाह्य षियो में वृत्तिमात्र के द्वारा चित्त का जो बन्ध है वही धारणा है।

कूर्म पुराण के अनुसार – ''ह्रदयकमल, नाभि मूर्धा, पर्वत के शिखर इत्यादि प्रदेशो में चित्त के बन्धन को धारणा कहते है।''

त्रिशिखिब्रहमणोपनिषद के अनुसार – ''चित्त का निश्चलीय भाव होना ही धारणा है और शरीरगत पंचमहाभूतो में मनोधारणा रूपधारण, भवसागर को पार कराने वाली होती है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार – ''जिस देश में ध्येय का चिन्तन किया जाता है, वहा चित्त को स्थिर करने को धारणा कहते है।''

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार –''जब मन शरीर के भीतर या उसके बाह्य किसी वस्तु के साथ संलग्न होता है और कुछ समय तक उसी तरह रहता है, तो उसे धारणा कहते है।''

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – ''जिस चित्त बन्ध में केवल उसी देश का (जिसमें चित्त बद्ध किया गया) ज्ञान होता रहता है, और तब प्रत्याहार इन्द्रिय समूह स्वविषय को ग्रहण नही करती है तब प्रत्याहार मूलक वैसी धारणा ही समाधि की अंगभूत धारणा होती है।''

12.3.2 – धारणा के प्रकार –

प्रिय विद्यार्थियों यद्यपि महर्षि पतंजलि ने धारणा के प्रकारों का वर्णन नही किया है। परन्तु उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर धारणा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(1) आन्तरिक धारणा

(2) बाह्य धारणा

(1) आन्तरिक धारणा – आन्तरिक धारणा जैसा कि नाम से स्पष्ट है। शरीर के भीतर किसी एक स्थान जैसे नाभिचक्र, भ्रकृटि, ह्रदयचक्र आदि पर चित्त को ठहरा देना आन्तरिक धारणा है। आन्तरिक धारणा का वर्णन यजुर्वेद में इस प्रकार है –कि ध्यान करने वाले विद्वान ! लोग यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते है जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हुए, ज्ञान एवं आनन्द को फैलाते हुए विद्वानों के मध्य प्रशंसा को पाकर परमानन्द के भागी होते है।

''सीरा युञ्जनित कवयो युगा वितन्वते पृथक।

धीरा देवेशु सुम्नया।'' – यजु 12/67

आन्तरिक धारणा के उद्धेश्य को मन्त्र में स्पष्ट किया गया है – कि पृथ्वी आदि पंचमहाभूत है इनकी उत्पत्ति पंचतन्मात्राओं में होती है, इन सभी में एक सूक्ष्म वायु इन सभी को धारण किये हुए है जो योगी सूक्ष्म वायु की धारणा करते है, या लक्ष्य बनाते है वे परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते है।

(2) बाह्य धारणा – बाह्य धारणा से तात्पर्य शरीर से बाहर किसी एक देश में चित्त को ठहरा देना है। शरीर से बाहर एक देश जैसे सूय, चन्द्र, बाह्रय ज्योतियॉ आदि। बाह्य धारणा का वर्णन अथर्ववेद में इस प्रकार है –

''अपां.....................................धारयामो।'' –(अथ0 1/35/3)

अर्थात जलों में, ज्योतियों में तथा वनस्पतियॉ धारणा करने का विधान है।

हठयोग के अनुसार – हठयोग के अनुसार धारणा पॉच प्रकार की बताई गई है। ये धारणाएं है – पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी धारणा, आकाशीय धारणा। महर्षि घेरण्ड के अनुसार इन पॉचो धारणाओं के सिद्ध होने पर कोई कार्य नहीं है जो सिद्ध ना हो सके। घेरण्ड संहिता के अनुसार धारणाए निम्न है –

(1) पार्थिवी धारणा – पृथ्वी पर वर्ण हरताल के समान है। बीज 'लॅ' चौकोन आकृति ब्रहम देवता है। योग बल से इसे उदय कर, दो घण्टे प्राण के निरोध पूरक, कुम्भक करें, इसे पार्थिवी मुद्रा कहते है।

फल – इस धारणा का फल यह है कि जो इस पार्थिवी धारणा को करता है। वह मृत्यु जीत कर सिद्ध होकर पृथ्वी पर विचरण करता है। (घे0 सं0 3/17–18)

(2) आम्भसी धारणा – जल का वर्ण शंख, चन्द्र कुन्द के समान शुभ्र है। विष्णु देवता है। वकार या 'वॅ' बीज मन्त्र है। योग बल से इसे उदय कर प्राण को, एकाग्र चित्त से पॉच घड़ी कुम्भक द्वारा धारण करें इसे आम्भसी धारणा कहते है।

फल – इस धारणा से मनुष्य के सभी ताप–दुःख नष्ट होते है। आम्भसी मुद्रा का अभ्यस्त योगी, भीषण गम्भीर जल में पड़कर भी नहीं मरता है। (घे0 सं0 3/19,20,21)

(3) आग्नेयी धारणा – नाभि में अग्नि का वास है। जिसे जठराग्नि भी कहते है। इसका रंग लाल है। आकृति त्रिकोण, देवता, रूद्र, मन्त्र 'रं' है। यह तत्व तेज पुज्जमय दीप्तिमय और सिद्धिप्रद है। इसे योग बल से उदय कर एकाग्र चित्त से पॉच घड़ी कुम्भक करके प्राण धारण करें। इसे आग्नेयी धारणा कहते है।

फल – इस धारणा के अभ्यास से यदि साधक अग्नि में भी गिर जाए तो भी जीवित रहेगा। (घे0 सं0 3/22,23)

(4) वायवी धारणा – वायु का रंग धुए के रंग के समान या अंजन के समान हल्का काला होता है। यह तत्व सत्व गुण वाला तथा इसका मन्त्र 'यं' है। योग बल से उदय होने पर एकाग्र चित्त से कुम्भक कर पॉच घड़ी तक प्राण को धारण करने से वायवीय धारणा होती है। इसके अभ्यास से वायु से मृत्यु नही होती है।

फल – यह धारणा जरा व मृत्यु से दूर रखती है। वायु से साधक की मृत्यु नही होती तथा आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त होती है। (घे0 सं0 3/24,25,26)

(5) आकाशीय धारणा – आकाश तत्व का वर्ण शुद्ध सागर के जल के सदृश नीला है। देवता सदाशिव व बीज मन्त्र हकार है। शान्त मन से प्राण वायु को रोके तथा पॉच घड़ी तक कुम्भक करना चाहिए, ऐसा करने से यह नभो धारणा (आकाश धारणा) सिद्ध होती है।

फल – जो योग वेन्ता आकाशी धारणा को जानता है, उसकी मृत्यु नहीं होती है। प्रलय होने पर भी उसे दु:ख नही होता है। (घे0 सं0 3/27,28)

उपरोक्त पंच धारणा की प्रशंसा योग ग्रन्थों में अनेको स्थानों में की गयी है। साधक इनकी सिद्धि कर अनेक फलो व सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है।

12.3.3 धारणा की उपयोगिता –

प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को संयमित करने की तथा अन्तर्मुखी करने की प्रक्रिया है। तथा मानसिक शक्तियों का जागरण भी प्रत्याहार द्वारा होता है। धारणा द्वारा उन जाग्रत मानसिक शक्तियो को सही दिशा देना है। धारणा सही दिशा व एकाग्र करने की प्रक्रिया है। धारणा द्वारा चित्त की एकाग्रता तथा स्थिरता में वृद्धि होती है। धारणा द्वारा साधक उच्चस्तरीय संवेदनाओं के ग्रहण योग्य बन जाता हैं। वेदो, पुराणो, उपनिषदों में धारणा की उपयोगिता का वर्णन इस प्रकार से है –

यजुर्वेद के अनुसार – ''सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा विन्वते पृथक्।

धीरा देवेशु सुम्नया।।'' यजु0 12/67

अर्थात यजुर्वेद में प्रतिपादित है–ध्यान करने वाले विद्वान ,लोग यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते है। जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हुए, ज्ञान एवम आनन्द को फैलाते हुए विद्वानों के मध्य प्रशंसा को पाकर परमानन्द के भागी होते है।

यजुर्वेदीय मन्त्रों में वर्णन मिलता है कि 'उत्साह पूर्वक, हृदय, मन, बुद्धि तथा प्राण व इन्द्रियों के द्वारा परमात्मा को धारण किया जाता है। अर्थात परमेश्वर की धारणा की जाती है, तथा धारणा शक्ति को बड़ा कर साधक प्राचीन ऋषियो के समान मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

इस प्रकार वेदो में धारणा का अनेको उपयोगिता बताई गई है कि इससे साधक उस परम पद को प्राप्त कर लेता है। परन्तु इसके अतिरिक्त धारणा के द्वारा मानसिक एकाग्रता, तथा ध्यान कर पृष्ठभूमि की तैयारी तथा कर्मो में कुशलता आदि प्राप्त किया जा सकता है, जिसके कुछ बिन्दुओं पर वर्णन इस प्रकार से है –

- **मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति में सहायक –** धारणा किसी एक देश में चित्त को ठहरा देना है। यदि देखा जाए तो यह एक मानसिक व्यायाम की प्रक्रिया है। धारणा से मन की एकाग्रता व स्थिरता में वृद्धि होती है, तथा व्यक्तित्व का विकास होता है। धारणा द्वारा मानसिक एकाग्रता में वृद्धि होकर ध्यान व समाधि के अभ्यास में सहायक बनाते है।
- **ध्यान के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना –** धारणा के द्वारा ध्यान में प्रवेश किया जाता है। धारणा के द्वारा मन एकाग्र हो जाता है। मन का भटकाव समाप्त हो जाता है। भटकाव समाप्त होने से स्थिरता प्राप्त होती है। यही स्थिरता पर एक वृत्ति का लगातार चलना ही ध्यान है अतः कहा जा सकता है कि धारणा ही, किसी एक देश में चित्त का ठहराव ध्यान की पृष्ठभूमि है।
- **कर्मो में कुशलता में सहायक धारणा –** धारणा के अभ्यास से सभी कर्म कुशलता पूर्वक किये जा सकते है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में, अध्ययन का क्षेत्र हो, चिन्तन, मनन या, लिखने–बोलने के क्षेत्र में सभी में धारणा की ही

भूमिका महत्वपूर्ण है। किसी भी कार्य में मन को केन्द्रित कर, उस कार्य में तनमय हो जाना तथा उस समय अन्य किसी विचारों का मन में ना चलने देना धारणा है। इसी धारणा के अभ्यास से कर्म कुशलता पूर्वक हो जाते है क्योकि इससे मन की चंचलता मिट कर एकाग्रता, एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती है। इसका अभ्यास करने से साधक की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है तथा वह कार्यो को कुशलता से करने लगता है।

12.4 ध्यान का स्वरूप –

''पवित्र विचारों में निरन्तर स्नान करना ही ध्यान है।''

योगांगों में सप्तम योगांग ध्यान उपासना के साधनों में विशेष महत्वपूर्ण है। ध्यान की अपनी उत्कृष्टता के कारण ही राजयोग को, जो कि आठ अंगो से युक्त है उसे ध्यान योग भी कहा जाता है। ध्यान योग द्वारा मनुष्य इस संसार चक्र के माया मोह का सर्वथा निवारण कर जब परमात्मा के प्रति प्रीति करता है। तभी योग की स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार योग की सिद्धि के लिए परमात्मा की प्राप्ति के लिए या मोक्ष की प्राप्ति के लिए यदि कोइ साधन है तो वह प्रमुख साधन ध्यान ही है।

ध्यान का अर्थ – ध्यान शब्द की उत्पत्ति 'धै' धातु के ल्युट प्रत्यय लगाने से हुई है। जिसका अर्थ है, चिन्तन करना। महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार से जब चित्त वृत्तियों को एकीकृत किया जाता है, एकीकृत चित्त वृत्तियों को धारणा का अभ्यास करते हुए किसी एक लक्ष्य पर निर्धारित किया जाता है। एकीकृत चित्त वृत्तियों के बीच कोई भी अन्य वृत्ति ना आए, चित्त में निरन्तर उसका ही मनन होता रहे, उसे ही ध्यान कहते है। अर्थात इसे इस तरह भी कह सकते है, ध्येय विषय पर निरन्तर मनन ही ध्यान है।

ध्यान चित्त की वह अवस्था है जिसमें चित्त एकाग्र हो जाता है। सतोगुण की प्रधानता हो जाती है, तथा रजोगुण व तमोगुण का प्रभाव समाप्त हो जाता है। ध्यान की अवस्था में चित्त की मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त अवस्थाऍ विलीन हो जाती है। महर्षि दयानन्द ने ध्यान के पारिभाषिक योगसूत्र का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है–कि धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त प्रेम और भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना ही है। जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ कर किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना उसी का नाम ध्यान है।

12.4.1 ध्यान की परिभाषा –

ध्यान वह अवस्था है, जब धारणा का अभ्यास हो जाए, तब ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है, जो कि स्वयं होने वाली प्रकिया है। जिसे **महर्षि पतंजलि** ने इस प्रकार परिभाषित किया है –

''तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'' – पा0 यो0 सू0 3/2।

अर्थात जहॉ पर चित्त को केन्द्रित किया जाए उसी में वृत्ति का एक तार चलना (एकाग्र होना) ही ध्यान है।

स्वामी ओमानन्द तीर्थ –''चित्त जब बाहर के विषयो की इन्द्रियों द्वारा वृत्तिमात्र से ग्रहण करता है तो ध्यानावस्था में जब प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियॉ अन्तर्मुखी हो जाती है, तब वह ध्येय

विषय को वृत्ति मात्र से ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येय के विषय के तदाकार होकर स्थिर रूप में भासने लगती है। अर्थात स्थिर रूप में उसके स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है।–(पा0 योग प्रदीप, पृ0 489)

महर्षि व्यास – उस देश में ध्येय विषयक प्रत्यय की जो एक तानता अर्थात अथ प्रत्यय के द्वारा अपरामृष्ट एक रूप प्रवाह है, वही ध्यान है।

विज्ञान भिक्षु – उस देश विशेष में अन्य वृत्तियों के व्यवधान से रहित ध्येयाकार वृत्ति के प्रवाह को ध्यान कहते है।

इन्होने हृदय कमल आदि में चतुर्भुज विष्णु आदि का चिन्तन अथवा बुद्धि की वृत्ति में उससे व्यतिरिक्त चैतन्य का चिन्तन तथा कारण रूप उपाधि में ईश्वर का चिन्तन ध्यान का विषय बताया है।

स्वामी शिवानन्द – ''ध्यान मोक्ष का द्वार खोलता है। धारा के सतत् प्रवाह के सदृश्य किसी एक ही विचार के प्रवाह को बनाये रखना ही ध्यान है।''

घेरण्ड संहिता के अनुसार – ''ध्यानात्प्रत्यक्षं आत्मनः।'' 1/11

ध्यान से अपनी आत्मा में जो चाहे प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान का प्राप्ति होती है।

ऋग्वेद के अनुसार – ''आ त्वा विशत्त्विन्दवः समुन्द्रमिव सिन्धवः।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते।। – (ऋग्वेद 8/92/22)

अर्थात अनेको नदिया जिस प्रकार समुन्द्र में समा जाते है वैसे ही परमेश्वर में ध्यान करने वाले अपनी इन्द्रियों को समेट कर परमात्मा के आनन्द में निमग्न हो जाते है। अर्थात उपासक को उस परमात्मा में मन आदि द्वारा निमग्न होकर ध्यान करना चाहिए।

श्रीमद्‌भगवद गीता के अनुसार – ''यथादीपो निवातस्थो नेर्गते सोपमा स्मृता।
योगिना यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः।। गीता 6/19

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक की लौ चलायमान नही होती, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गयी है।

12.4.2 – ध्यान के प्रकार –

प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि ने ध्यान के प्रकारो का वर्णन नहीं किया है। परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में ध्यान के विभिन्न प्रकार बताये गये है। जिनका वर्णन निम्न प्रकार से है– घेरण्ड संहिता के अनुसार –घेरण्ड संहिता में ध्यान के तीन प्रकार बताये गये है।

''स्थूलं ज्योतिस्तथासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं बिन्दुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा
सूक्ष्मं, बिन्दुमयं ब्रहम कुण्उली परदेवता।। – 6/1

स्थूल ध्यान, ज्योति ध्यान और सूक्ष्म ध्यान के भेद से ध्यान तीन प्रकार का होता है।

(1) स्थूल ध्यान – स्थूल ध्यान वह जिसमें मूर्तिमय ईष्टदेव का ध्यान किया जाता है।

(2) ज्योतिर्मय ध्यान – ज्योतिर्मय ध्यान वह है जिसमें तेजोमय ज्योतिस्वरूप ब्रहम का ध्यान किया जाता है।

(3) सूक्ष्म ध्यान – सूक्ष्म ध्यान वह है जिसमें बिन्दुमय कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान किया जाता है।

कुण्डलिनी शक्ति रीढ़ की हड्डी के सबसे नीचे भाग में साढ़े तीन लपेटे लिए हुए अपनी शान्त मुद्रा में सोई रहती है। यह बहुत सूक्ष्म है। योग द्वारा ही इस सोई हुए कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत किया जा सकता है।

शाण्डिल्योपनिषद के अनुसार–शाण्डिल्योपनिषद में ध्यान के दो प्रकारो का वर्णन किया गया है।

(1) सगुण ध्यान – सगुण ध्यान ईष्ट या मूर्ति का ध्यान है। इस ध्यान से मात्र सिद्धियॉ प्राप्त होती है।

(2) निर्गुण ध्यान – इस ध्यान में आत्मा में ध्यान किया जाता है। आत्मा में ध्यान के द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है।

वशिंष्ट संहिता में ध्यान – वशिंष्ट संहिता में ध्यान का वर्णन इस प्रकार से है –

"ध्यानमात्मस्वरूप वेदनं मनसा भवेद्।
तदेव द्विविधं प्रोक्तं सगुण निगुणं तथा।। – 4/19

अर्थात निज स्वरूप को मन से तत्वतः समझ लेना ही ध्यान है। वह दो प्रकार का होता है – सगुण व निगुण।

(1) सगुण ध्यान – सगुण साकार ईष्ट या मूर्ति का ध्यान है।

(2) निर्गुण ध्यान – निगुण ध्यान, निगुण निराकार ब्रहम का ध्यान है।

भक्तिसागर के अनुसार – भक्ति सागर के अनुसार ध्यान चार प्रकार का होता है। वर्णन इस प्रकार है –

(1) पदस्थ ध्यान – इसमें किसी भी अराध्य की मूर्ति या अपने ईष्ट देवता का नख से लेकर शिख तक ध्यान किया जाता है। इसके पश्चात ध्यान को अपने ईष्ट के चरणों में केन्द्रित करके कुम्भक लगाकर ओऽम् का उच्चारण व जप किया जाता है। ऐसा करने से मन निश्छल हो जाता है, तथा इसे त्रिताप तीनों प्रकार के दुःखों (दैहिक, दैविक, भौतिक) से मुक्ति मिलती है।

(2) पिड़स्थ ध्यान – साधक को इस ध्यान में चक्रों में ध्यान केन्द्रित करना होता है। सर्वप्रथम मूलाधार में जहॉ चार पक्तियों वाला कमल है, तथा इसका रंग लाल तथा इसके देवता गणेश है, पर ध्यान लगाना होता है। इसके पश्चात क्रमानुसार सभी चक्रो पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। जैसे सर्वप्रथम मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत चक्र, विशुद्धि चक्र एवं आज्ञा चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से साधक को अलौकिक ज्योति के दर्शन होते है। जिसमें उसे अपने पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात साधक हजार पत्तियों वाले शून्य (सहस्त्रार चक्र) में ध्यान लगाता है। सहस्त्रार चक्र में ध्यान के फलस्वरूप उसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। यह ध्यान की सर्वोत्तम विधि है।

(3) रूपस्थ ध्यान – इस विधि में साधक अपने ध्यान को भूमध्य में स्थिर रख कर विभिन्न प्रकार के दृश्यों के दर्शन करता है। सर्वप्रथम उसे अग्नि का गोला दिखाई देता है। उसके पश्चात साधक को दीपक व तारों के समूह के दर्शन होते हैं, तथा बिजली की चमक महसूस होती है। इसके पश्चात अनेको चन्द्रमा व सूर्य के दर्शन होने लगते है। तथा इनसे समस्त विश्व प्रकाशवान दिखाई देता है। इस प्रकार के ध्यान के पश्चात साधक को चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है।

(4) रूपाति ध्यान – यह ध्यान सभी प्रकार के ध्यान से सर्वश्रेष्ठ ध्यान है। रूपाति ध्यान में निराकार ब्रहम, जिसका कोई आकार नही है, ऐसे निराकार ब्रहम में अपना ध्यान साधक

लगाता है। जिससे साधक का चित्त एकाग्र हो कर ब्रहम में लीन हो जाता है। रूपातित ध्यान, ध्यान की अन्तिम अवस्था है, तथा यह ध्यान समाधि की प्रारम्भिक अवस्था है।

इस प्रकार ध्यान द्वारा अन्तर्मन को जाग्रत कर स्वयं को जाना जा सकता है। स्वयं को जान कर स्वयं को अनुशासित तथा नियन्त्रित किया जाता है।

प्रिय विद्यार्थियों अभी तक आपने ध्यान, ध्यान के विभिन्न प्रकारो का अध्ययन किया। अब आपके मन में प्रश्न उठ रहे होंगे कि ध्यान किसका किया जाए ? इन्ही प्रश्नों का उत्तर महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र के सूत्र 1/37 एवं 1/39 में किया है, जिसका वर्णन निम्न है–

- **ध्यान किसका किया जाए ?** – प्रिय विद्यार्थियों महर्षि पतंजलि ने चित्त को स्थिर रखने हेतु हमें किसका ध्यान करना चाहिए इसका वर्णन समाधिपाद में इस प्रकार किया है –

"वीतराग विषयं वा चित्तम्।" (1/37)

अर्थात रागद्वेष रहित महात्माओं के शुभ चरित्र का ध्यान करने से भी मन स्थिर होता है। महर्षि पतंजलि कहते है कि ऐसे महापुरूष जिनके रागद्वेष सर्वथा नष्ट हो गये हो, उन वीतरागी पुरूषों का भी ध्यान करने से भी मन स्थिर हो जाता है। क्योकि हम जैसे व्यक्ति का ध्यान करते है, वैसे ही हमारे विचार भी बन जाते है। क्योकि उन व्यक्तियों या महापुरूषों, सन्तो, महात्माओं अथवा कोई बुरे व्यक्तियों आदि में से जिसके भी हम विचार करते है, अथवा सुनते है या जिस प्रकार का साहित्य पढ़ते है, हमारा मस्तिष्क भी वैसा ही बन जाता है। यह पूर्णरूपेण मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसलिए रागद्वेष रहित महात्माओं के शुभ चरित्र का ध्यान करना चाहिए। महर्षि पतंजलि ने 1/39 में पुनः वर्णन किया है –

"यथाऽभिमत ध्यानाद्वा।"

अर्थात अभीष्ट विषय के ध्यान से भी मन स्थिर हो जाता है। अर्थात ध्यान उसका करना चाहिए जिस पर भी तुम्हारी गहरी रूचि हो। महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अत्यन्त गहरा एवं व्यापक है। ध्यान में लिए विषय वस्तु के चुनाव में अभिमत का या गहरी रूचि का विशेष महत्व है। ध्येय को किसी के व्यक्तित्व पर आरोपित नहीं किया जा सकता है। ध्यान की प्रक्रिया में साधक का ध्यान की विषय वस्तु के प्रति गहरी श्रद्धा हो या आस्था होनी चाहिए। जिससे कि उसके भाव व विचार सहज ही बहने लगे। ध्यान की विषय वस्तु के चिन्तन से उसके अन्त मन में उल्लास एवं श्रद्धा उत्पन्न होने लगे। उसका विचार प्रवाह ध्यान की विषय वस्तु में विलीन होने लगे। ऐसा तभी सम्भव है जब साधक के रूचि के अनुरूप ध्यान की विषय वस्तु हो। उसके अराध्य उसके रूचि के अनुरूप हो।

इस प्रकार महर्षि पतंजलि कहते है कि अपने रूचि के अनुरूप अभीष्ट विषय के ध्यान से मन स्थिर हो जाता है, तथा जिससे ध्यान करने वाले की चेतना परिमार्जित, पवित्र एवं रूपान्तरित होती है।

12.4.3 ध्यान की उपयोगिता –

प्रिय विद्यार्थियों ध्यान से अहंकार का नाश होता है। अस्मिता का सुधार होता है। ध्यान से साधक का अहंकार गिरकर केवल हूँ ही शेष रह जाता है, तथा इसका भी लय समाधि में हो जाता है। ध्यान की उपयोगिता को देखते हुए वेदों, पुराणों, उपनिषदों में भी ध्यान की उपयोगिता का वर्णन किया है। ध्यान के लाभ बताते हुए ऋग्वेद में कहा गया है–

"ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः कतुना वहन्ति।" (ऋग्वेद 7/90/5)

अर्थात जो सच्चे मन से ध्यान करते है, वे सच्चे ज्ञान कर्म से युक्त होते है अर्थात उनके ज्ञान–कर्म और मन में कोई द्वेष नहीं रहता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार –

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः
तस्या भिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्य केवल आप्तकामः।।"

अर्थात परमेश्वर का अभिध्यान चिन्तन तथा जय आदि करने से अविद्या आदि जो भी पंचक्लेश है, उनकी निवृत्ति होती है, तथा समस्त पापों का नाश, जन्म–मृत्यु का अन्त हो इससे ही मोक्ष प्राप्त होता है।

छान्दोग्योपनिषद में ध्यान की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है –

"ध्यानं वाव .... स यो ध्यान व्रहमोत्युपास्ते।" छान्दो0 प0 7/6/1–2

सनत्कुमार ने ध्यान की महिमा महर्षि नारद को समझाते हुए कहा है–ध्यान (आत्मा की एकाग्रता) ही चित्त से भी महान है। पृथ्वी अन्तरिक्ष, सौर मण्डल, जल, पर्वत, देवताजन और मनुष्य आदि प्रकृति का सारा विकास अपने रचियता परमेश्वर का मानो ध्यान कर रहे हो। इस प्रकार जो भी मनुष्य इस लोक में मनुष्यों की महत्ता को प्राप्त करते है, वे सभी ध्यान से प्राप्त करते है। उन मनुष्यों की समृद्धि का कारण ध्यान की कला का अंश ही है। ध्यान से सामर्थ्य शक्ति का संचय होता है। अतः हे नारद! तू ध्यान को सिद्ध कर। जो उपासक ध्यान को महान जानकर भगवान की उपासना करता है। ध्यान में अपने अराध्य (परमात्मा) की अराधना करता है। जहॉ तक ध्यान की गति है वहॉ तक उसका स्वच्छन्द संचार होता है।

ध्यान के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना – प्रिय विद्यार्थियों, अष्टॉग योग में वर्णित यम–नियम, आसन–प्राणायाम, प्रत्याहार द्वारा व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर, अन्तरंग साधना धारणा व ध्यान में प्रवेश करता है। धारणा चित्त का ठहराव है। जिसमें चित्त की एक स्थान पर स्थिर किया जाता है। जब चित्त उस में स्थिर रह कर निरन्तर उसी में एक लय में चलता रहे वही ध्यान है। जब योग द्वारा अपने अत्युच्च शिखर पर पहुॅचता है, जहॉ ज्ञाता और ज्योति के समान परस्पर विलीन हो जाते है, जिसमें केवल ध्येय की ही प्रतीती रहती है। ध्याता का अपना स्वरूप भी शून्य हो जाता है। उस अवस्था को समाधि कहते है।

समाधि प्राप्ति के लिए ध्यान द्वारा ही पृष्ठभूमि तैयार हो पाती है। क्योकि ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम है समाधि, जो कि चित्त की स्थिरता की सर्वोत्तम अवस्था है। इसी चित्त स्थैर्य के द्वारा ही समाधि की पृष्ठभूमि तैयार होती है।

अन्तर्ज्ञान की प्राप्ति – अन्तर्ज्ञान से तात्पर्य अन्तः प्रेरणा से है। अन्तः प्रेरणा अर्थात किसी कार्य को करने से पूर्व ही सही–गलत का ज्ञान अन्तः प्रेरणा द्वारा तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं का संकेत प्राप्त कर लेना। ध्यान योग के साधक का चित्त परिष्कृत हो जाता है। नियमित ध्यान से, ध्यान प्रगाढ़ होने लगता है व मन की बिखरी हुई शक्ति अपने ईष्ट या ध्येय के प्रति एकाग्र होने लगती है। परिणाम स्वरूप साधक के अन्दर की दमित वासनाए, ईच्छाए, भावनाए चेतन मन पर आकार बाहर निकलने लगती है। धीरे–धीरे साधक का मन परिष्कृत होने लगता है। अतः उसकी पहुॅच सूक्ष्म जगत तक होने लगती है, तथा एक रहस्यमय वाणी द्वारा उसे मार्गदर्शन मिलने लगता है।

अतिन्द्रिय क्षमता की प्राप्ति – स्व की महत्वपूर्ण शक्ति है, अतीन्द्रीय क्षमता। जिसका अर्थ है इन्द्रियों की क्षमताओं का अत्यधिक विकास होना या उसकी पहुॅच अन्तर्जगत तक हो जाना। जैसे ध्यान द्वारा, दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूर की वस्तुओं की गंध की क्षमता ही अतीन्द्रिय क्षमता है।

इस क्षमता का विकास ध्यान द्वारा मन के एकाग्र होने से होता है। एकाग्र मन द्वारा मन समस्त बिखरी हुई शक्तियॉ एक निश्चित दिशा में बहने लगती है। जैसे–जैस मन शान्त एवं एकाग्र होने लगता है, वैसे–वैसे ही साधक को आश्चर्यजनक परिणाम सामने आने लगते है। तथा जैस ही ध्यान में तन्मयता होने लगती है, वैसे ही मन की शक्ति के प्रगाढ़ होने के कारण अन्तर्मुखी होने लगती है। परिणाम स्वरूप साधक की पहुॅच अन्तर्मन तक होने लगती है।

संयमजन्य विभूतियो का प्राप्ति में सहायक – योग की उच्चतम अवस्था ध्यान व समाधि है। महर्षि पतंजलि ने धारणा, ध्यान व समाधि का सम्मिलित अभ्यास संयम बताया है।

धारणा एक प्रकार की मानसिक प्रक्रिया कही जा सकती है। जिसमें मन की एक विशिष्ट वस्तु या क्षेत्र में सीमित कर के एकाग्र किया जताा है। इसके बाद ध्यान में मानसिक तरंगो में स्थिरता आ जाती है। इसके बाद की स्थिति समाधि की है। वस्तुतः धारणा, ध्यान व समाधि उच्च मानसिक अवस्था प्राप्ति की अवस्थाएॅ है, तथा इन्ही की सम्मितिल अवस्था संयम है। जहॉ धारणा, ध्यान व समाधि एक ही वस्तु में स्थिर हो संयम है। जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है –

''त्रयमेकत्र संयमः।'' पा0 यो0 सू0 3/4

किसी एक ध्येय विषय में तीनो का होना ही संयम है। संयम का परिणाम बताते हुए महर्षि पतंजलि ने निम्न सूत्र में वर्णन किया है –

''तज्जात्प्रज्ञालोकः।'' पा0 यो0 सू0 3/5

अर्थात संयम को जीत लेने से बुद्धि का आलोक प्राप्त होता है, तथा उसका चित्त की भूमियों में विनियोग करके ही अनेक सिद्धियॉ प्राप्त होती है। महर्षि पतंजलि ने इन सिद्धियो, विभूतियों का वर्णन विभूतिपाद (3/16, 3/55) में किया है कि साधक जिस भी वस्तु पर संयम करता है उसे उस वस्तु का बल आदि अनेको सिद्धियॉ (अणिमादि अष्ठ सिद्धियॉ) प्राप्त हो जाती है। परन्तु महर्षि पतंजलि कहते है कि यह योग विभूतियॉ योग साधना में बाधक है, तथा वास्तविक रूप में संयम ही व्यवहारिक जीवन में अपनाने योग्य है। संयम से ही मानकीय जीवन की उत्कृष्टता को प्राप्त किया जा सकता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1:– रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए –

क – अष्टॉग योग का .... अंग धारणा है।

ख – किसी एक देश में चित्त को .... धारणा है।

ग – हठयोग के अनुसार धारणा .... प्रकार की है।

घ – ध्यान के द्वारा .... प्राप्ति होती है।

ड़ – सूक्ष्म ध्यान .... का ध्यान है।

2:– बहुविकल्पीय प्रश्न –

क – महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा कितने प्रकार की है?

(A) 2 (B) 3
(C) 4 (D) 5

ख – हठयोग के अनुसार धारणा कितने प्रकार की है?

(A) 3 (B) 5
(C) 4 (D) 6

ग – पातंजल योगसूत्र के अनुसार धारणा का वर्णन किसमें किया गया है?

(A) 3/1 (B) 3/4
(C) 3/2 (D) 3/5

घ – ध्येयाकार वृत्ति के प्रवाह को क्या कहते है?

(A) धारणा (B) ध्यान
(C) समाधि (D) इनमें से कोई नही

ङ़ – ध्यान की उपयोगिता है ?

(A) समाधि के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना (B) अन्तर्ज्ञान की प्राप्ति
(C) अतीन्द्रिय क्षमता की प्राप्ति (D) उपरोक्त सभी।

12.5 सारांश –

महर्षि पतंजलि ने तृतीय पाद, विभूतिपाद में अन्तरंग योग का वर्णन किया है। विभूति पाद उत्तम अधिकारियो के लिए बताया है।अष्टॉग योग में बर्हिरंग योग के अनुष्ठान करने के बाद ही साधक धारणा, ध्यान का अभ्यास कर सकता है। अष्टॉग योग का छढा अंग धारणा, किसी एक देश में चित्त को ठहरा देना है, तथा स्थिर हुए चित्त में उसी वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। धारणा द्वारा मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति होती है। जिससे कर्मो में कुशलता आती है, तथा ध्यान के लिए पृष्ठभूमि तैयार होती है, तथा अन्तर्ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतीन्द्री क्षमता की प्राप्त कर संयम द्वारा साधक विभिन्न प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति संयम द्वारा कर सकता है, तथा संयम के जय से प्रज्ञा का आलोक होकर मानव जीवन उत्कृष्ट बन जाता है।

12.6 शब्दावली –

- दक्षता – निपुणता होना, चतुर, कुशल होना।
- विभूति – अलौकिक सम्पदा
- भुकुटि – दोनो भौंह के बीच।
- सदृश – समान
- सप्तम – सातवॉ
- योगॉग – योग के अंग
- अन्तर्यामी – सब कुछ जानने वाला
- अपरामृष्ट – जो सम्बन्धित नही है।
- ध्येयाकार – ध्येय का आकार

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1:– क – छठा	ख – ठहरा देना	ग – पॉच प्रकार
घ – आत्मज्ञान	ड़ – कुण्डलीनी	
2:– क – A	ख – B	ग – A
घ – B	ड़ – D	

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. शास्त्री राजवीर, (2005) **पातंजल–योगदर्शन–भाष्यम्**। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली।
2. पाड्या प्रणव, (2011) **अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञानविज्ञान (भाग2)**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
3. दशौरा नन्द लाल, (2006) **योगदर्शन**।
4. शर्मा श्री राम, (1982) **सांख्य दर्शन एवं योगदर्शन–भाष्यम्**। वेदमाता, गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज, हरिद्वार ।
5. सरस्वती दिव्यानन्द, (1999) **वेदों में योग विद्या।** यौगिक शोध – संस्थान, योगधाम ज्वालापुर हरिद्वार ।

12.9 सहायक पाठ्य सामग्री –

1. करंबेलकर, पु0वि0, (1989) **पातंजल योगसूत्र**। कैवल्यधाम।
2. पन्त पूर्णचन्द्र, (2002) **योग विज्ञान**। पूर्णचन्द्र पंत्र शास्त्री नाहन हिमाचल प्रदेश।

12.10 – निबन्धात्मक प्रश्न –

प्रश्न 1 :– धारणा का स्वरूप बताते हुए विभिन्न प्रकार की धारणाओं का वर्णन कीजिए।
प्रश्न 2 :– धारणा की परिभाषा बताइये तथा धारणा की उपयोगिता क्या है? समझाये।
प्रश्न 3 :– धारणा की परिभाषा, अर्थ का वर्णन कीजिए, तथा ध्यान के विभिन्न प्रकारो का वर्णन कीजिए।
प्रश्न 4 :– ध्यान की उपयोगिता को सविस्तार समझाइये।

इकाई 13. समाधि का स्वरूप, भेद एवं उपयोगिता

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 सम्प्रज्ञात समाधि और उसके भेद
13.3.1 सवितर्का समापत्ति
13.3.2 निर्वितर्क समापत्ति
13.3.3 सविचार और निर्विचारा समापत्ति

13.3.4 सविचार
13.3.5 निर्विचार
13.4 सबीज और निर्बीज समाधियॉ
13.4.1 सबीज समाधि
13.4.2 निर्बीज समाधि
13.5 समाधि की उपयोगिता
13.6 सारांश
13.7 शब्दावली
13.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
13.9 सन्दर्भ सूची :–
13.10 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

समाधि एक ऐसी मनोगत अवस्था है, जिसमें साधक का शरीर, मन, प्राण तथा चेतना एक समन्वित इकाई के रूप मे कार्य करती है।

व्यास भाष्य में समाधि को योग का लक्षण माना गया है; योगावस्था को समाधि से भिन्न नही देखा गया है। यथा :–

''योगः समाधि स च सार्वभौम चित्तस्यधर्म'' (व्यास भाष्य)

समाधि शब्द की व्युत्पत्ति :–

सम + आ + धा = इकट्ठा करना

समम् + आ + धा = ठीक ढंग से रखना

सम्यक् + आ + धा = संतुलित करना

अतः समाधि शब्द से व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम अर्थात शरीर, मन, प्राण एवं चेतना के एकीकरण तथा उनमें आपसी संतुलन को निर्देशित करता है। पातंजल योगसूत्र के विभूतिपाद में समाधि का लक्षण बताया है। यथा :–

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।। (पा.यो.सू. 3/3)

अर्थात – ध्यानोपरान्त जब चित्त ध्येयाकार हो जाता है, और स्वयं के स्वरूप का अभाव होने लगता है, उस समय ध्येय के अतिरिक्त अन्य उपलब्धि नहीं होती, इसी अवस्था को समाधि कहा गया है।

13.2 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :–

- समाधि के विषय में जान सकेंगें।
- समाधि के भेदों के विषय में जान सकेंगें।
- सबीज एवं निर्बीज समाधि के स्वरूप को जान सकेंगें।
- ऋतम्भरा प्रज्ञा की विशेषता को जान सकेंगें।

- समाधि की उपयोगिता के विषय में जान सकेंगें।

समाधि पाद में समाधि का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसे निम्नानुसार समझा जा सकता है।

13.3 सम्प्रज्ञात समाधि और उसके भेद :–

योगांगो के निरन्तर अभ्यास से जब चित्त स्थिर होने लगता है, तब स्थिरता को प्राप्त हुए चित्त में समापत्ति की योग्यता आ जाती है। जिज्ञासा होती है, कि समापत्ति है क्या? चित्त की प्रत्यक्यचेतनाधिगति या अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया का नाम समापत्ति है। अतः पर्याप्त अभ्यास के बाद जब वृत्तियॉ क्षीण या दुर्बल हो जाती है तब चित्त स्वतः अन्दर परावृत हो अपने ही रूप (स्वरूप) में स्थित हो जाता है। इस समापत्ति का स्वरूप किस प्रकार का है और विषय कौन–कौन से है? उक्त प्रश्नों का उत्तर महर्षि पतंजलि के निम्न लिखित सूत्र मे दिया हैः–

''क्षीणवृत्तेरऽभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्ति।।(पा.यो.सू. 1/41)

जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियां क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे निर्मल चित्त का स्फटिक मणि की भांति ग्रहीता (पुरूष) ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियां) तथा ग्राह्य (पंचमहाभूत और विषय) में स्थित या तदाकार हो जाना समापत्ति है।

उपर्युक्त उपायों से निर्मल हुए चित्त की उपमा अति निर्मल स्फटिकमणि से दी गयी है। जिस प्रकार अति निर्मल स्फटिक के सामने नीले, पीले अथवा लाल वर्ण की वस्तु रखी जाय तो वह मणि अपना रूप अभिव्यक्त न कर सामने उपस्थित वस्तु के समान ही नीली, पीली अथवा लाल वर्ण की दिखाई देती है, उसी प्रकार चित्त की जब सब प्रकार की राजस्–तामस् वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं तब सत्त्व के प्रकाश और सात्त्विकता के बढ़ने से चित्त इतना स्वच्छ और निर्मल हो जाता है, कि दृष्टा का साक्षातकारा होने लगता है, चाहे वह इन्द्रियों के स्थूल या सूक्ष्म विषय हों या अन्तःकरण और इन्द्रियॉ अथवा बुद्धिस्थ पुरूष। वस्तु के साक्षात्कार में चित्त वस्तु अर्थात ध्येय के स्वरूप को धारण कर लेता है। चित्त के इस प्रकार ध्येयाकार हो जाने की प्रक्रिया का पारिभाषिक नाम योग में ''समापत्ति'' है। अर्थात समापत्ति एक गतिशील प्रक्रिया का नाम है। जिसका स्थायी परिणाम 'सबीज समाधि' है। यही कारण है, कि अधिकांश टीकाकारों ने समापत्ति को ही सम्प्रज्ञात समाधि या सबीज समाधि कह डाला है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, समापत्ति प्रक्रिया है और सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि परिणाम है। इस अवस्था में चित्त को ध्येय वस्तु के स्वरूप का भली भांति ज्ञान हो जाता है एवं उसके विषय में किसी प्रकार का संशय या भ्रम नही रहता। तात्पर्य यह है, कि शुद्ध निर्मल चित्त के सहयोग से आत्मा ध्येय अर्थ का साक्षात (अनुभव) कर लेता है। ध्येय अर्थ की श्रेणियॉ भिन्न–भिन्न होने से समाधि के स्तर विभिन्न हो जाते है। समाधि के इन विभिन्न स्तरों का ही समापत्ति नाम से वर्णन है। ध्येय की भिन्नता के आधार पर समापत्ति के भी चार भेद हैं। यथा :–

सवितर्क, निर्वितर्क, सविचारा और निर्विचार।

13.3.1 सवितर्का समापत्ति :–

योगसूत्र में सवितर्का समापत्ति का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है :–

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।। जो समापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित होती है। (अर्थात इन तीनों भिन्न–भिन्न पदार्थो का अभेद रूप से जिसमें भान होता है।) वह सवितर्क समापत्ति है।

जिस समापत्ति में शब्द, अर्थ और ज्ञान में तीनों भिन्न पदार्थ अनुभव में आते हैं अर्थात जब चित्त इन तीनों के आकार को ग्रहण करता है तब उस समापत्ति को सवितर्क समापत्ति कहते है। इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान में तीन विकल्प या भेद चित्त में भासित होते है इसलिए इसे सविकल्प समाधि भी कहते हैं। जब शब्द और ज्ञान का विकल्प (भेद) चित्त में भासित नही होता, केवल अर्थ ही भासित होता है तब वह निर्वितर्क या निर्विकल्प समापत्ति कहलाती है।

दूसरे शब्दों में समापत्ति की परिभाषा के अनुसार चित्त जब इस प्रक्रिया में अन्दर की ओर जाना (लौटना) प्रारम्भ करता है, तब अपनी आदत के अनुसार वह विचारशील रहते हुए अन्दर की ओर जाना प्रारम्भ करता है। इस आन्तरिक यात्रा की प्रक्रिया में वह शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन विकल्पों के एक दूसरे से मिल जाने से उत्पन्न होने वाले (वास्तविकता से भिन्न अधूरे ज्ञान वाले) वितर्कों के कारण संकीर्ण हो जाया करता है। सवितर्क समापत्ति ध्येय विषय स्थूल रूप होता है। अतः इसे सवितर्का समापत्ति कहते है।

उदाहरणार्थ . कर्णेन्द्रिय से सुनाई देने वाली 'गौ' ध्वनि ; गौ शब्द है, उससे संकेतित होने वाला प्राणि – विशेष गौ – अर्थ (गौ पदार्थ) है तथा गौ शब्द से जो गौ– अर्थ का बोध होता है वह गौ– ज्ञान है। ये तीनों भिन्न है किन्तु निरन्तर अभ्यास के कारण अभिन्न प्रतीत होते हैं। जब 'गौ' में चित्त को एकाग्र किया जाय तब समाधिस्थ चित्त में गौ– शब्द, गौ– अर्थ, गौ– ज्ञान भासित हों अर्थात तीनों में वह तदाकार रहे तब उस समापत्ति को सवितर्क समापत्ति कहते है।

13.3.2 निर्वितर्क समापत्ति :–

सूत्रकार ने निर्वितर्क समापत्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया है, कि :– स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।।

स्मृति के भलीभांति लुप्त (निवृत) हो जाने पर अपने रूप से शून्य हुई सदृश केवल ध्येय मात्र के रूप (अर्थ) को प्रत्यक्ष कराने वाली (चित्तवृत्ति की स्थिति) का नाम निर्वितर्का समापत्ति है।

सवितर्का समापत्ति की स्थिति से गुजरने के बाद जब इस अन्दर की यात्रा में स्मृति की पूर्णरूप से शुद्धि हो जाती है, अर्थात शब्दार्थादि की किसी प्रकार संकीर्णता नही रहती (बुरे बिचार करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और बुरी स्मृतियॉ के भी उठने की सम्भावना समाप्त हो जाती है) तब स्वरूप शून्यता की ओर प्रगति होने लगती है, जिससे विषय के पीछे के तथ्य की झलक मिलने लगती है। अतः यहॉ वितर्कादि समाप्त हो जाने पर यह निर्वितर्का समापत्ति होती है।

जिस प्रकार सवितर्का समापत्ति में चित्त शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों में तदाकार रहता है एवं इस स्थिति में एकाग्रता जितनी बढ़ती जाती है। उतनी ही बाह्यवृति अन्तर्मुखी होती जाती है और जब एकाग्रता इतनी बढ़ जाए कि चित्त शब्द और ज्ञान को छोड़कर केवल अर्थ रूप ध्येय वस्तु में तदाकार हो जाए तो उसे निवितर्क समापत्ति कहते हैं। इसमें शब्द और ज्ञान का विकल्प न रहने से इसे निर्विकल्प समापत्ति भी कहते है। इसमें दूसरा विकल्प रहता ही नहीं है, यही स्मृति परिशुद्ध है। यह उच्च अवस्था भी कही जाती है।

13.3.3 सविचार और निर्विचार

समापत्ति के स्वरूप का महर्षि पतंजलि ने निम्नलिखित सूत्र में प्रतिपादन किया है। यथा :–

''एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।।'' इसी से (पूर्वोक्त सवितर्क और निर्वितर्क के वर्णन से ही) सूक्ष्म विषयों में की जाने वाली सविचारा और निर्विचारा समाधि का भी वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार स्थूल ध्येय पदार्थो में की जाने वाली समाधि के दो भेद हैं। उसी प्रकार सूक्ष्म ध्येय पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली समाधि के भी दो भेद समझने चाहिए अर्थात जब किसी सूक्ष्म ध्येय पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए उसमें चित्त को स्थिर किया जाता है तब पहले उसके नाम, रूप और ज्ञान के विकल्पों से मिला हुआ अनुभव होता है वह स्थिति सविचार समाधि है। उसके बाद जब नाम और ज्ञान का अर्थात चित्त के निज स्वरूप का भी विस्मण होकर केवल ध्येय पदार्थ का अनुभव होता है; तब यह स्थिति निर्विचार समापत्ति है।

13.3.4 सविचार :–

विषयों की सूक्ष्मता हो जाने के कारण सवितर्का समापत्ति के समान यहा वितर्क नहीं होते ओर न ही बुरे या अशुद्ध विचार ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु शुद्ध विचार अवश्य बने रहते हैं। साथ ही शब्द, उनके अर्थ और ज्ञान भी रहते ही हैं, किन्तु संकीर्ण और अशुद्ध रूप में नहीं। अतः सुविचार सम्पन्न होने के कारण इसे सविचार समापत्ति कहते हैं।

13.3.5 निर्विचार :–

इस अन्तिम प्रकार में विचारों का भी उठना धीरे–धीरे कम होते–होते पूर्ण रूप से बन्द हो जाता है। तब साधक को यह अनुभव होने लगता है कि सविचारा समापत्ति में प्राप्त हुए शुद्ध विचारों के स्वरूप भी नष्ट होकर एक निराले रूप में ही प्रतीत हो रहे हैं। वास्तविक तथ्य अधिक स्पष्ट होने लगते हैं।

महर्षि पतंजलि ने समाधि पाद के प्रारम्भ में भी कहा है कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। यह वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के चार चरणों में पूर्ण होती है। जैसा कि निम्नलिखित सूत्र में दर्शाया गया है। यथा :–

''**वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः।।**''

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों के सम्बन्ध से युक्त चित्तवृत्ति का समाधान ही सम्प्रज्ञात योग है।

वितर्क (गहरे विचार), विचार (बुरे–अच्छे विचार) आनन्द (मैं आनन्द में हूँ) और अस्मिता (मैं हूँ मात्र यह भावना), इनके आधार या सहारे से 'सम्प्रज्ञात' यह एक विशिष्ट योग प्रदेश का नाम है। धारणा, ध्यान आदि अंतरंग योग साधना में जब–जब चित्त अन्दर की ओर जाता है, तब प्रारम्भ में उसको जिस प्रदेश से गुजरना पड़ता है अर्थात जिस प्रकार का अनुभव चित्त को होता है, उसको 'वितर्क' शब्द से अभिहित किया जाता है। कर्माशय में जन्म–जन्म के कर्मों के संस्कार भरे पड़े रहते हैं। धारणा–ध्यानादि की साधना में जब चित्त की बाहर जाने की प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न साधक करता है तब कर्माशय में पड़ा हुआ यह संस्कार समूह उभर आता है। अतः प्रथम चित्त प्रसादन के अभ्यास द्वारा इन संस्कारों के हटने पर चित्त प्रसन्न एवं निर्मल होकर ही धारणा–ध्यानादि का सफल अभ्यास हो पाता है। इस प्रकार अभ्यास करने से चित्त के बाहर जाने और विषयों की ओर

झांकने की प्रवृत्ति कम हो जाती है, और तब जिस प्रकार बड़ा कोलाहल शान्त हो जाने पर मंद और क्षीण ध्वनि भी सुनाई देने लगती है। इसी प्रकार अपने अंदर की प्रतिभाओं की संवेदना का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार प्रत्याहार द्वारा चित्त के बाहर जाने की प्रवृत्ति कम होने तथा धारणा ध्यानादि के द्वारा चित्त के अंतर्मुखी होने की प्रक्रिया के समय का प्रारंभिक प्रदेश वितर्कों का होता है। बाद में अभ्यास बढ़ने पर धारणा ध्यान की प्रक्रिया में अपने आप यह वितर्क उठना बंद हो जाते हैं। इसके पश्चात जो विचार चित्त प्रदेश में उठता है वह शुभ विचार होता है। अर्थात प्रथम वितर्क का उसके बाद विचार का प्रदेश होता है। किन्तु विचार द्वारा प्राप्त ज्ञान भी सापेक्ष या अपूर्ण होता है। अतः उसकी पूर्णता के लिए धारणा ध्यानादि का अभ्यास बढ़ाया जाता है। इससे जिस प्रकार वितर्क का उठना बंद हुआ था उसी प्रकार विचार का उठना भी धीरे–धीरे स्वतः बंद हो जाता है। अब जो तृतीय प्रदेश है वह भावना का प्रदेश है। जिसका प्रारम्भिक अनुभव आनन्द होता है। इस अवस्था मे 'मैं आनन्द में हूँ' ऐसा साधक अनुभव करता है, परन्तु यह अवस्था भी सापेक्ष होती है। अतः अभ्यास के बाद इस अवस्था के भी समाप्त होने पर जो चतुर्थ या अन्तिम प्रदेश का अनुभव होता है, उसमे 'मैं हूँ' यह अनुभव होने लगता है। इस अनुभव की स्थिति को ही 'अस्मिता' कहा गया है। यही सब 'सम्प्रज्ञात' का प्रदेश है। सम+प्र+ज्ञात अर्थात अच्छी प्रकार से जाना हुआ। यहॉ तक के अनुभव का पूरा ज्ञान साधक को रहता है।
इसी कारण इसे सम्प्रज्ञात कहा गया है।

उपर्युक्त सविचारा और निर्विचारा समापत्ति के जो ध्येय सूक्ष्म विषय बतलाऐं है उनकी सूक्ष्म विषयता कहॉ तक है, इसका निरूपण करते हुए महर्षि पतंजलि ने बताया हैः–

''सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।।''

और सूक्ष्म विषयता अलिङ्ग प्रकृति पर्यन्त है। सृष्टि के स्थूल विषय है – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। क्रमशः गंध, रस, तेज, स्पर्श और शब्द इनके यह सूक्ष्म विषय है, इन्हें तन्मात्राऐं भी कहते है। ये तन्मात्राऐं, मन सहित इन्द्रियों का सूक्ष्म विषय अहंकार, अहंकार का महत्तत्व और महत्तत्व का सूक्ष्म विषय अर्थात कारण 'मूल प्रकृति' है। इसके आगे कोई सूक्ष्म पदार्थ नहीं है और यही सूक्ष्मता की अवधि है। अतः प्रकृति पर्यन्त किसी भी सूक्ष्म पदार्थ को लक्ष्य बनाकर उसमें की हुई समाधि को सविचार और निर्विचार समाधि के अन्तर्गत समझना चाहिए। यद्यपि पुरूष प्रकृति से भी सूक्ष्म है। पर वह दृश्य पदार्थो में नहीं है अतः तद्विषयक समाधि इसमें नहीं आनी चाहिए, तथापि ग्रहीतृविषयक समाधि बुद्धि में प्रतिबिम्वित पुरूष में की जाती है। अतः उसको निर्विचारा समाधि के अन्तर्गत मान लेने में कोई अपत्ति नहीं होती।

13.4 सबीज और निर्बीज समाधियॉ

13.4.1 सबीज समाधि :–

पूर्वोक्त वर्णित समापत्तियों के पूर्ण हो जाने पर अर्थात निर्विचारा समापत्ति के पूर्ण हो जाने पर चित्त जिस स्थिति में पहुंचता है वह 'सबीज समाधि' है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते है कि समापत्तियों की प्रक्रियाओं का अन्तिम परिणाम 'सबीज समाधि' की स्थिति में पहॅुचना है, अतः यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि समापत्ति और समाधि एक नहीं है। इन दोनो का निकट संबंध है। समापत्ति चलती रहने वाली प्रक्रिया का नाम है, तत्पश्चात कुछ समय तक स्थिर रहने वाली चित्त की अवस्था आती है। जिसे सबीज

समाधि नाम दिया गया है। यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि सबीज समाधि को छोड़ कर अन्य समाधियों के लिए इस प्रकार की कोई पूर्व समापत्तियॉ नहीं होती हैं।

सूत्रकार महर्षि पतंजलि उक्त समापत्तियों को सबीजत्व प्रदान करते हुए कहा है, कि :–

''**ता एव सबीजः समाधिः।।** ''

पूर्वोक्त चारों समापत्तियॉ ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

बाह्य अनात्म वस्तु अर्थात कार्य सहित प्रकृति जो ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ रूप दृश्य वर्ग है, इसी का नाम बीज या आलम्बन (आश्रय) है। इसलिए इसको लेकर होने वाली समाधि का नाम सबीज, सालम्बन तथा सम्प्रज्ञात समाधि है।

ये समापत्तियॉ सबीज समाधि कहलाती हैं क्योंकि सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति तो स्थूल ग्राह्य वस्तु के आलम्बन सहित होती है। सविचार तथा निर्विचार सूक्ष्म ग्राह्य वस्तु के बीज या आलम्बन सहित होती है।

पूर्व में वर्णित आनन्दानुगत ग्रहणरूप और अस्मितानुगत ग्रहीतृरूप दोनों समाधियॉ निर्विचार समापत्ति के क्रम से उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओं के रूप से निर्विचार समापत्ति के ही अन्तर्गत इस सूत्र में कर दी गई है। निर्विचार की इन दोनों उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओं को पृथक–पृथक रूप से सम्मिलित करने से सबीज समाधि के छः भेद होते हैः–

1. सवितर्क समापत्ति :– स्थूल पदार्थों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से युक्त भासने वाली चित्तवृत्ति।
2. निर्वितर्क समापत्ति :– स्थूल पदार्थों में शब्द {नाम, अर्थ (रूप) और ज्ञान} के विकल्पों से रहित स्वरूप से शून्य जैसी केवल अर्थ मात्र से भासने वाली चित्तवृत्ति।
3. सविचार समापत्ति :– सूक्ष्म विषयों में देश काल और निमित्त(धर्म) के विकल्पों से रहित केवल धर्मी मात्र से भासने वाली चित्तवृति।
4. निर्विचार समापत्ति :– सूक्ष्म विषयों में देश काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पों से रहित केवल धर्मी मात्र से भासने वाली चित्तवृति।
5. निर्विचार की उच्चतर अवस्था आनन्दानुगत :– सत्त्व प्रधान अहंकार की 'अहमस्मि' से भासने वाली चित्तवृत्ति।
6. निर्विचार की उच्चतम अवस्था अस्मितानुगत :– बीज रूप अहंकार चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त की 'अस्मिता' अहंकार रहित 'अस्मि' से भासने वाली चित्तवृत्ति।

अतः इनमें बीज रूप से किसी न किसी ध्येय पदार्थ को विषय करने वाली चित्तवृत्ति का अस्तित्व सा बना रहता है, इसलिए ये सभी सबीज समाधि ही हैं। इनमें वृत्तियॉ बीज रूप में चित्त में विद्यमान रहती हैं। सबीज समाधि तक पहॅुचने वाले साधक को कैवल्य लाभ नहीं मिलता क्योंकि चित्त में वृत्तियों के बीज रह जाने से समय पाकर वे पुनः नए जन्म ग्रहण का कारण बन सकती है, किन्तु सबीज समाधि में पहॅुचे हुए साधक का पतन नही होता बल्कि बची हुई साधना अगले जन्म में शीघ्र ही पूरी कर लेता है। इसे 'भव प्रत्यय' कहते है।

अतः सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम स्तर तक बंधन का बीज प्रकृति संयोग बने रहने के कारण ही इसे सबीज समाधि माना है।

सबीज समाधि के अन्तर्गत आने वाली चारों प्रकार की समापत्तियों में निर्विचार समापत्ति की श्रेष्ठता महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार प्रकाशित की है। यथा :–

''निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।।''

निर्विचार समापत्ति के और अधिक निर्मल हो जाने पर योगी को अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। अर्थात निर्विचार समापत्ति की विशारदता प्राप्त होने पर योगी को एक ही काल में सर्व पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान उदय होता है।

जब रजोगुण एवं तमोगुण की अधिकता होती है तब चित्तगत सत्तवगुण तिरस्कृत हो जाता है। यही चित्त में अशुद्धि आवरण रूप मल है। योगी के अभ्यासवश सत्तवगुण के प्रबल होने पर जब यह मल दूर हो जाता है तब राजस–तामस वृत्तियों या विचारों से रहित शुद्ध सात्तिवक प्रकाश रूप अति स्वच्छ चित्त का स्थिर प्रवाह चालू होता है। यही समापत्ति की प्रवीणता कही जाती है। जब निर्विचार समापत्ति का यह वैशारद्य प्राप्त हो जाता है। तब योगी को परमाणु रूप भूत सूक्ष्म से आरम्भ कर प्रकृति पर्यन्त सर्व सूक्ष्म पदार्थो का क्रम के अनुरोध के बिना ही एक ही काल में साक्षात्कार रूप प्रज्ञालोक प्राप्त हो जाता है। वही प्रज्ञालोक अध्यात्म प्रसाद कहा जाता है।

इस प्रज्ञालोक का लाभ प्राप्त होने पर योगी शोक रहित हो जाता है। श्री व्यास जी महाराज ने इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है :–

''प्रज्ञाप्रासादमारूह्याशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।''

शैलशिखारूढ़ पुरूष भूमिस्थित पुरूषों को जैसे छोटा देखता है, वैसे ही उक्त साक्षातकार युक्त योगी प्रज्ञाप्रसादरूप शैलशिखर पर आरूढ़ होकर स्वयं शोक रहित होता हुआ अपने से अन्य सब अज्ञानी पुरूषों को शोकयुक्त देखता है। अर्थात ज्ञान युक्त योगी उस ज्ञान के पराकाष्टा से अपने को सर्वोपरि जानता हुआ शोकयुक्त अज्ञानियों को तुच्छ समझता है।

अतः निर्विचार समापत्ति के अभ्यास से चित्त की स्थिति सर्वथा परिपक्व हो जाती है। इस स्थिति में किसी प्रकार का किंचिन्मात्र भी दोष नहीं रहता। इस स्थिति के समय योगी की बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है, जिसका सार्थक नाम निम्न लिखित सूत्र में बतलाया गया है यथा :–

''ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।।''

अध्यात्म प्रसाद के प्राप्त होने पर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न होती है उसका नाम है ''ऋतम्भरा प्रज्ञा'' (सच्चाई को धारण करने वाली अविद्यादि से रहित बुद्धि)।

इस अवस्था में योगी की बुद्धि वस्तु के सत्य (असली) स्वरूप को ग्रहण करने वाली होती हैं। संशय और भ्रम लेश मात्र भी नहीं रहता है।

महर्षि पतंजलि ने इस ऋतम्भरा प्रज्ञा की विशेषता का वर्णन करते हुए कहा है, कि

''श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात।।''

श्रवण और अनुमान से होने वाली बुद्धि की अपेक्षा इस बुद्धि का विषय भिन्न है, क्योंकि यह विशेष अर्थवाली है।

वेद शास्त्र और आप्त पुरूष के वचनों से वस्तु का सामान्य ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नही होता। इसी प्रकार अनुभव से भी साधारण ज्ञान ही होता है, किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से

वस्तु के स्वरूप का यथार्थ और पूर्ण (अङग–प्रत्यङ्गों सहित) ज्ञान हो जाता है। अतः यह उन दोनों प्रकार की बुद्धियों से भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ है।

महर्षि पतंजलि ने ऋतम्भराप्रज्ञा का फल निम्नलिखित सूत्र में प्रतिपादित किया हैः–

''तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।।''

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार दूसरे व्युत्थान संस्कारों का प्रतिबन्धक अर्थात रोकने वाला होता है।

मनुष्य जिस किसी भी वस्तु का अनुभव करता है एवं क्रिया करता है, उन सबके संस्कार अन्तःकरण में इकठ्ठे होते रहते है। इन्ही को योगसूत्र में कर्माशय के नाम से कहा है। ये ही मनुष्य को संसार चक्र में भटकाने वाले मुख्य कारण हैं। इनके नाश से ही मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है। अतः उक्त बुद्धि का महत्व प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते है, कि इस बुद्धि के प्रकट होने पर जब मनुष्य को प्रकृति के यथार्थ रूप का भान हो जाता है, तब उसका प्रकृति में और उसके कार्यो में स्वभाव से ही वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्य के संस्कार पूर्व इक्ठ्ठे हुए सब प्रकार के राग–द्वेष मय संस्कारों का नाश कर डालते है। इससे योगी शीघ्र ही मुक्तावस्था के समीप पहुंच जाता है।

इस प्रकार सबीज समाधि की सबसे उच्य अवस्था का वर्णन करने के पश्चात महर्षि पतंजलि ने निर्बीज समाधि के स्वरूप का वर्णन किया है।

13.4.2 निर्बीज समाधि :–

सबीज समाधि का अनुभव साधक के लिए अपूर्व होता है। इस समाधि के प्रभाव से पूर्व के सभी संस्कारों से अद्‌भुत होने के कारण चित्त में बसने वाले अन्य सभी संस्कार इतने दब जाते हैं, कि वे सभी निष्क्रिय व निष्परिणामी हो जाते हैं। आगे उनका विपाक होकर कुछ फलादि प्राप्ति की सम्भावना सर्वथा समाप्त हो जाती है। एकमात्र सबीज समाधि का संस्कार तब चित्त पर बचा रहता है, जिससे वृत्ति का रूप लेने की सम्भावना बने। अतः इसके बाद अभ्यास बढ़ने पर किसी प्रकार बचा रहा एकमात्र यह संस्कार भी निरूद्ध होकर नष्प्राय हो जाता है, तब वृत्ति का रूप लेने के लिए कोई संस्कार ही नहीं बचा रहता है। अर्थात वृत्ति उठने के लिए आवश्यक संस्कार बीज रूप से भी नष्ट हो जाने से जो स्थिति चित्त की होती है, वह निर्बीज समाधि कही जाती है। इस प्रकार सभी वृत्तियॉ का सर्वथा निरोध इस समाधि में हो जाता है। महर्षि पतंजलि के निर्बीज समाधि का स्वरूप निम्नलिखित सूत्र में बताया है :–

''तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।।''

उसका भी अर्थात उस ऋतम्भरा–प्रज्ञा–जन्य संस्कार के भी निरोध हो जाने पर सभी संस्कारों का निरोध हो जाने पर निर्बीज समाधि होती है।

जब ऋतम्भरा प्रज्ञा जनित संस्कार के प्रभाव से अन्य सभी प्रकार के संस्कारों का अभाव हो जाता है, उसके बाद उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। इन प्रज्ञाजनित संस्कारों का निरोध होते ही समस्त संस्कारों का निरोध अपने आप हो जाता है। अतः संस्कार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से इस अवस्था का नाम निर्बीज समाधि है। इसी को कैवल्य अवस्था भी कहते है। इसमें भी क्रम है पहले निर्बीज समाधि तब उसके बाद कैवल्य प्राप्ति। निर्बीज समाधि को प्राप्त किए बिना कैवल्य प्राप्त असम्भव है। यह अंतिम स्थिति है। यही पुरूष का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना है।

यथा :— "तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्।।"

केवल बुरे संस्कारों का निरोध हो जाने पर साधक स्वर्ग का तो अधिकारी हो जाता है परन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अभी भोगों का बीज विद्यमान है, वासना शेष है, उसका मूल नष्ट नहीं हुआ है, केवल अवस्था बदली है। जैसे बुरे से अच्छा संस्कार। जब इन अच्छे संस्कारों का भी निरोध हो जाता है तब मोक्ष होता है। यही योगसूत्र का सार है। जो जीव की अन्तिम अवस्था है। जहाँ से आया था, वहीं पुनः पहुंच गया। प्रकृति से सदा के लिए सम्बन्ध छूट जाता है। केवल चैतन्य शेष रह जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा में साधक सत्य को तो उपलब्ध हो जाता है, किन्तु मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार चोरों से घर की रक्षा करने के लिए पहरेदार रखे जाते हैं किन्तु जब चोरों का भय भी समाप्त हो जाता है तब उन पहरेदारों का भी हटना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा वे भी उपद्रव के कारण बन जाते हैं। अतः समस्त बुरे संस्कारों को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' द्वारा दूर किया जा सकता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ऋतम्भरा प्रज्ञा का भी त्याग करना पड़ता है। अतः अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के संस्कारों का दूर करना ही मोक्ष है।

अतः समाधिपाद की समाप्ति महर्षि पतंजलि इसी अन्तिम अवस्था के साथ करते हैं, जो जीव की अन्तिम स्थिति है।

13.5 समाधि की उपयोगिता

एकाग्रता की उत्कृष्ट अवस्था ही समाधि है, जिसकी आवश्यकता जीवन के हर स्तर तथा हर क्षेत्र में होती है। एकाग्रता के बिना जीवन में उद्देश्य की प्राप्ति असंभव है। अतः एकाग्रता जीवन के हर क्षेत्र में भी अति आवश्यक है।

प्र0 1. रिक्त स्थान भरिऐ :—

1. सात्विक वृतियां या प्रकाश बढ़ने पर ....क्षीण हो जाती है।
2. .... एक गतिशील प्रक्रिया का नाम है।
3. ध्येय मात्र के रूप (अर्थ) को प्रत्यक्ष कराने वाली वृत्ति का नाम .... है।
4. चारों समापत्तियां ही .... कहलाती है।

प्र0 2 सत्य/असत्य का चयन करें।

1. निर्विचारा समापत्ति के पूर्ण हो जाने पर सबीज समाधि होती है। ( )
2. प्रज्ञालोक का लाभ होने पर योगी शोकमुक्त हो जाता है। ( )
3. ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार दूसरे संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है। ( )
4. बुरे संस्कारों का निरोध हो जाने पर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। ( )

प्र0 3 बहुविकल्पीय प्रश्न :—

1. प्रकृति के स्थूल विषय है —
   (अ) पंचमहाभूत (ब) मूल प्रकृति
   (स) पुरूष (द) इनमें से कोई नही।
2. योगांग में समाधि का स्थान है —
   (अ) चौथा (ब) पांचवां
   (स) आठवां (द) सातवां
3. ध्यान की सर्वोच्च अवस्था है —

(अ) धारणा (ब) प्रत्याहार
(स) समाधि (द) इनमें से कोई नही।

4. समापत्ति के प्रकार है –
(अ) तीन (ब) दो
(स) चारं (द) पांच

13.6 सारांश

समाधि योग का अन्तिम अंग है जिसमें मुख्यतः दो भेद है:– सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात को सबीज और असम्प्रज्ञात को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। समाधि सिद्ध होने पर अशुद्धियों का क्षय होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। अर्थात यह प्रज्ञा सत्य को धारण करने वाली होती है, इसमें भ्रान्ति या अविद्यादि का गन्ध भी नही होती। इसी प्रज्ञा के निरन्तर बने रहना अर्थात समाधि की निरन्तरता ही कैवल्य की प्राप्ति कराती है।

13.7 शब्दावली

समापत्ति	–	अच्छी प्रकार से जान लेना
सम्प्रज्ञात (सबीज)	–	आलम्बन सहित
असम्प्रज्ञात (निर्बीज)	–	आलम्बन रहित
ऋत	–	सत्य
भरा	–	धारण करने वाली
दृष्ट	–	पुरूष (आत्मा)
सबीज	–	बीज सहित (आलम्बन सहित)
निर्बीज	–	बीज रहित (आलम्बन रहित)
आध्यात्म प्रसाद	–	बौद्धिक निर्मलता या आत्यन्तिक निर्मल बुद्धि

13.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. ओमानन्दतीर्थ, स्वामी – पातंजलयोगप्रदीप – गीताप्रेस गोरखपुर 1988
2. करम्बेलकर, पी.बी. – पातंजल योगसूत्र – कैवल्यधाम, लोनावला – 2005
3. गैरोला, वाचस्पति – भारतीय दर्शन–लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1983
4. डॉ0 साधना दौनेरिया, – पातंजल योगसार– मधूलिका प्रकाशन इलाहाबाद–2011
5. दशेरा, नन्दलाल – पातंजल योगदर्शन – रणधीरबुक सेल्स, हरिद्वार – 1986
6. ब्रह्मलीनमुनि, स्वामी – पातंजल योगदर्शनम् – चौखम्मा प्रकाशन, वाराणसी–1970
7. मिश्र, नारायण – पातंजल योगदर्शनम् – चौखम्मा प्रकाशन, वाराणसी – 1971
8. झा, पीताम्बर – योग परिचय
9. त्रिपाठी रमाशंकर – पातंजलयोग दर्शन

13.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. समापत्ति से क्या समझते हैं? विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. सबीज समाधि भेद सहित विवेचन कीजिए।
3. निर्बीज समाधि किसे कहते है? सबीज और निर्बीज मे भेद बतायें।
4. निर्विचार समाधि की विशेषताए बताइये।

इकाई–14 विभूतियों का वर्णन

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 संयम
14.4 संयम का फल
14.5 संयम का चित्तभूतियों मे क्रमिक विनियोग
14.6 विभुतियॉ
    14.6.1 ज्ञानात्मक विभूतियां
14.7 चित्तशुद्धिजन्य शक्तिरूप विभूतियां
    14.7.1 आत्मबल विभूति
    14.7.2 शारीरिक विभुति
14.8 क्रियात्मक विभूतियां
    14.8.1 चित्तस्य परशरीरावेश विभूति
    14.8.2 जलादि असंग विभूति
    14.8.3 ज्वलन विभूति
    14.8.4 दिव्यश्रोत्र विभूति
    14.8.5 आकाश गमन विभूति
    14.8.6 महाविदेह धारणा विभूति
14.9 अन्य विभूतियॉ :–
    14.9.1 अन्तर्धान विभूति
    14.9.2 क्षुत्पिपासा निवृत्ति विभूति
    14.9.3 स्थैर्य विभूति
    14.9.4 सिद्धि सिद्ध दर्शन शिरः विभूति
    14.9.5 भूतजय विभूति
    14.9.6 भूतजय विभूति का फल
14.10. तद्धर्मानभिघात
14.11 कायसम्पत्ति विभूतियों की प्राप्ति
14.12 इंन्द्रियजय विभूति
14.13. इन्द्रियजय का फल

14.14 परा विभूति
14.15 सर्व भावाधिष्ठतृत्त्वं च सर्वज्ञातृत्त्वं विभूति
14.16 विवेकज्ञान
14.17 विवेकज्ञान के लक्षण
14.18 विवेकज्ञान का मुख्य फल
14.19 जन्मजा सिद्धि
14.20 औषधजा सिद्धि
14.21 मन्त्रजा सिद्धि
14.22 तपोजा सिद्धि
14.23 समाधिजा सिद्धि
14.24 सारांश
14.25 शब्दावली
14.26 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.27 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.28 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

पाठको विभूति नाम ऐश्वर्य का है, जिसको योगसिद्धि कहते हैं। ''योग भास्वती '' में कहा है– ''काय–चित्तेन्द्रियाणामभीष्ट उत्कर्ष सिद्धि'' अर्थात शरीर, मन और इन्द्रियों के अद्भुत शक्ति का आविर्भाव सिद्धि है। ये विभूतियॉ संयम द्वारा ही साध्य हैं।अतः विभूति को समझने से पहले हम संयम का अध्ययन संक्षिप्त में करेगें।

14.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप :–

1. संयम के विषय में जान सकेंगें।
2. संयम के फल के विषय में जानेंगें।
3. संयम सिद्ध होने पर विभूतियों (सिद्धियों) की प्राप्ति के विषय में जान सकेंगें।
4. सभी प्रकार के ऐश्वर्य, बल, ज्ञान आदि विभूतियों से प्राप्त हो सकते है, जान सकेंगें।
5. विभूतियॉ कैवल्य प्राप्ति में बाधक है, जान सकेंगें।

14.3 संयम

''संयम'' योगदर्शन का पारिभाषिक पद है। योग के अन्तिम तीन अंग धारणा, ध्यान और समाधि जो विवेकख्याति के अंतरंग साधन भी है, उन तीनों का एकत्रीकरण ''संयम'' कहलाता है

यथा : – त्रयमेकत्र संयमः।। (पा0यो0सू0 3/4)

इन तीनों को संयम उस समय कहते हैं जब ये तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) किसी एक ही विषय में संलग्न हों। यदि धारणा किसी अन्य विषय में हो एवं ध्यान और समाधि भी अलग–अलग विषय में हो तो उस स्थिति में इन तीनों का समुदाय सयंम नहीं कहलाता है। इसी लिए महर्षि पतंजलि ने सूत्र में एकत्र शब्द का प्रयोग कर उसके अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। अतः यह स्पष्ट है, कि धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधि होती है। यह एक अनिवार्य क्रम है। इसी प्रक्रिया का नाम संयम है। संयम के द्वारा साधक का इन प्रक्रियाओं पर पूर्णतया नियंत्रण हो जाता है, और संयम करने पर संयम के विषय पूर्णरूपेण चित्त के अधीन हो जाते है।

14.4 संयम का फल :–

संयम जय होने पर प्रज्ञालोक की प्राप्ति होती है।

यथा :– **तज्जयात्प्रज्ञालोकः।। (पा0यो0सू0 3/5)**

संयम के सुदृढ़ होने पर समाधिजन्य बुद्धि निर्मल हो जाती है इस समाधिजन्य बुद्धि के प्रभाव से योगी का संयम विपर्यय रहित ध्येयतत्त्व का प्रत्यक्ष होता है। एक मात्र ध्येय को विषय बनाने वाली शुद्ध सात्त्विक रूप से बुद्धि का प्रवाहित होना '' प्रज्ञालोक '' कहलाता है। इसी को समधिपाद में अध्यात्म प्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से वर्णित किया गया है। यही प्रज्ञा अलौकिक कार्य करने की क्षमता प्रदान करती है। ज्ञान शान्ति का यह उच्चतम शिखर है।

14.5 संयम का चित्तभूतियों मे क्रमिक विनियोग

चित्तभूमियों में संयम के क्रमिक विनियोग से विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है।

यथा :– तस्य भूमिषु विनियोगः।। (पा0यो0सू0 3/6)

अर्थात पहले स्थूलवृत्ति वाली जो निम्न श्रेणी की चित्तभूमि है, उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। तत्पश्चात ऊॅची सूक्ष्म वृत्ति वाली भूमि (चित्त) में संयम करना चाहिए। स्थूल भूतियों को जीते बिना सूक्ष्म में संयम करना और विवेकज्ञान की प्राप्ति दुष्कर कार्य है।

संयम उपरान्त प्राप्त विभूतियों से जिज्ञासु को यह निश्चय अवश्य हो जाएगा कि जब अनात्म पदार्थ विषयक समाधि से कायिक, मानसिक और ऐन्द्रिक विभूतियॉ भी प्राप्त होती हैं तब पुरूष विषयक समाधि से पुरूष साक्षात्कार द्वारा कैवल्य पद प्राप्ति भी अवश्य होगी। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास में जिज्ञासुजन अवश्य प्रवृत्त होगें, इसीलिए विभूतिपाद में विभूतियों का संयोजन सार्थक है।

14.6 विभूतियॉ

संयम उपरान्त शरीर, मन और इन्द्रियों का अद्भुत शक्ति से सम्पन्न होना ही योग सिद्धि है जिसे विभूति भी कहते हैं। ये विभूतियां ईश्वरीय अंश है। जब अविद्या नष्ट होती है तब सत्त्व गुण का उद्भव होता है, तद्उपरान्त साधक में स्वाभाविक ऐश्वर्य का उत्कर्ष होता है। इसी ऐश्वर्य के रूप में अनेक प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति होती है। यह स्थिति कैवल्य से पूर्व की है। उच्च कोटि के साधक विभूतियों को कैवल्य मार्ग की बाधा रूप बताते है इसीलिए वे इन विभूतियों के मोह में न आकार आगे की यात्रा अनवरत करते रहते हैं। विभूतियों की प्राप्ति साधक को यह ज्ञात कराती है कि उसने योग मार्ग को भलीभांति

जानकरी के साथ अपनाया है। श्रद्धा पूर्वक योग अभ्यास की निरन्तरता और संयम के परिणाम स्वरूप अनेक शक्तियों के रूप में विभूतियों की प्राप्ति भी अनवरत होती रहती है।

विभिन्न विषयों संयम करने से अनेक प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति होती है, जिन्हें निम्नलिखित वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। ज्ञानात्मक सिद्धियां, शक्तिरूप सिद्धियॉ, क्रियारूप सिद्धियॉ एवं अन्य सिद्धियॉ।

14.6 1. ज्ञानात्मक विभूतियां :–

महर्षि पतंजलि ने ज्ञानात्मक विभुतियों का स्वरूप इस प्रकार बताया है। :–

अतीतानागतज्ञान विभुति :– धर्म, लक्षण एवं अवस्था नामक तीनों परिणामों में संयम करने से योगी को भूत और भविष्य का ज्ञान हो जाता है। जब वस्तु के तीनों परिणामों को लक्ष्य में रखकर संयम करते है तो उसका इन तीनों परिणामों के साक्षात होने से उस वस्तु के सब क्रमों का अर्थात जिस–जिस अवस्था में होकर वह वस्तु इस रूप में पहॅुची है और आगे जिस–जिस अवस्था में पहुंचेगी और जितने–जितने काल में पहुंचगी, सब ज्ञान हो जाता है।

यथा :– परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् (पा0यो0सू0 3/16)

सर्वभूतज्ञान विभूति :– समस्त प्राणियों के वाग्व्यवहार को जानने की क्षमता की प्राप्ति होना। जब साधक शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर संकर अध्यास को त्यागकर इनके प्रविभाग में संयम करता है, तब यह विभूति प्राप्त होती है, और सब प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है।

यथाः–शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरूतज्ञानम्।। (पा0यो0सू0 3/17)

पूर्वजातिज्ञान विभूति :–संस्कारों में संयम करने से संस्कार के कारणरूप कर्मो का यथावत ज्ञान साधक को हो जाता है। संस्कार दो प्रकार के होते है। एक स्मृति के बीजरूप में रहते हैं जो स्मृति और क्लेशों के कारण हैं। दूसरे विपाक के कारण वासना रूप से रहते हैं जो जन्म, आयु, भोग और उनमें सुख–दुःख के कारण होते है। वे धर्म और अधर्म रूप हैं। ये संस्कार ग्रामोफोन के प्लेट रिकार्ड के सदृश चित्त में चित्रित रहते हैं।.वे परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्म की भांति अपरिदृष्ट चित्त के धर्म हैं जिनमें संयम करने पर उनका साक्षात हो जाता है। उसको जिस देश, काल और जिन निमित्तों से वे संस्कार बने हैं, सब स्मरण हो जाता है, यही पूर्वजन्मज्ञान है। जिस प्रकार संस्कारों के साक्षात करने से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होता है वैसे ही दूसरे के संस्कारों को साक्षात करने से दूसरे के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

यथा :– संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।। (पा0यो0सू0 3/18)

परचित्तज्ञान विभूति :– प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् (पा0यो0सू0 3/19) अर्थात अन्य पुरूष के चित्त विषयक संयम करने से अन्य पुरूष के चित्त का साक्षातकारात्मक ज्ञान साधक को हो जाता है। यह विभूति रागादियुक्त निजचित्तवृत्ति के साक्षात्कार के फलस्वरूप प्राप्त होती है। चित्त के साक्षात्कार से जो दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है वह केवल चित्त के स्वरूप का ही होता है। उस चित्त के सालम्बन का अर्थात उसका चित्त जिस वस्तु का चिन्तन कर रहा है, उसका ज्ञान नही होता क्योंकि चित्त का विषय दूसरे का चित्त है, उसका आलम्बन नहीं।

यथा :– न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।। (पा0यो0सू0 3/20)

अपरान्त (मृत्यु) विभूति ज्ञान :– सोपक्रम और निरूपक्रम दो प्रकार के कर्म होते है। इन कर्मों में संयम करने पर मृत्यु का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान प्राप्त होता है।

यथा :– सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।। (पा0यो0सू0 3/22)

जिन कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य की आयु का निर्माण होता है वे दो प्रकार के होते हैं :–

1. **सोपक्रम** :– जिन कर्मों का फल प्रारम्भ हो चुका है जो कि आपका फल देने में लगें हुए हैं जैसे – जल से भीगे हुए वस्त्र
2. **निरूपक्रम** :– वे कर्म जो मन्द वेग वाले हैं जिन्होंने आयु भोगने का कार्य अभी तक प्रारम्भ नहीं किया है।

इन दोनों कर्मों में संयम करने से उनका साक्षात हो जाने पर योगी को संशय रहित यह ज्ञान हो जाता है कि आयु कितनी शेष रही है।

इसके अतिरिक्त यह मृत्यु ज्ञान कभी–कभी विपरीत चिन्हों के द्वारा भी प्राप्त होता है जैसे– सियार, कुत्ते, बिल्ली का रोना, आकाश नक्षत्र–तारा आदि का उल्टा पुलटा दिखायी देना, मरे हुए पुरूषों का इस प्रकार दिखायी देना मानो सामने खड़े हैं। कानों को बंद करने पर अंदर की ध्वनि का सुनायी न देना आदि। इन विपरीत चिन्हों के द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुमान ज्ञान हैं प्रत्यक्ष नहीं।

सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट ज्ञान विभूति :– इन्द्रियातीत,व्यवहित एवं दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने की सिद्धि मन की ज्योतिष्मति प्रवृत्ति को आलोक में निहित करने पर होती है।

इन्द्रियातीत :– अत्यन्त सूक्ष्म जैसे – परमाणु, महत्तत्व प्रकृति आदि।

व्यवहित :– आवरण में छिपी जैसे – समुद्र में रत्न, मणी आदि।

विप्रकृष्ट :– दूर देश में स्थित जैसे हम भारत में और वस्तु अमेरिका में।

उपरोक्त किसी भी वस्तु को जानने के लिए ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश को उस पर छोड़ते है। तदोपरान्त उस वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है।

यथा :– प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।। (पा0यो0सू0 3/25)

भुवनज्ञान विभुति :– सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है।

यथा – भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।। (पा0यो0सू0 3/26)

चन्द्रताराव्यूह ज्ञान विभूति :– चन्द्रमा में संयम करने से सब तारों के व्यूह (स्थिति–विशेष) का ज्ञान हो जाता है।

यथा :– चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।। (पा0यो0सू0 3/27)

ताराओं की गति का ज्ञान :– ध्रुव तारे में संयम करने से ताराओं की गति का पूर्ण ज्ञान होता है।

यथा :– ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।। (पा0यो0सू0 3/28)

कायव्यूहज्ञान विभूति :– नाभिचक्र में संयम करने से शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है।

यथा :– नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।। (पा0यो0सू0 3/29)

प्रातिभज्ञान विभूति :– प्रातिभ का अर्थ है विवेकजनित ज्ञान का पूर्णरूप। प्रातिभ में संयम करने से सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

यथा :– प्रातिभाद्वा सर्वम्।। (पा0यो0सू0 3/33)

चित्तज्ञान विभूति :– ''हृदये चित्तसंवित्।।'' (पा0यो0सू0 3/34) हृदय में संयम करने पर चित्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

पुरूषज्ञान विभूति :– पुरूष और बुद्धि जो कि दोनो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। इन दोनों की प्रतीति का अभेद है वही भोग है। बुद्धि परार्थ है, बुद्धि–पुरूष का जो परस्पर प्रतिबिम्ब – संबंध से अभेदज्ञान है, वही पुरूष निष्ठ योग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होने से उसका यह भोग रूप प्रत्यक्ष परार्थ अर्थात पुरूष के लिए ही है। इस परार्थ से अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है उसमें संयम करने से नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव 'पुरूष का ज्ञान' हो जाता है। इसी विभूति की प्राप्ति उपरान्त षट्सिद्धियों (प्रात्तिभ, श्रवण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक षट्सिद्धियों) की प्राप्ति हो जाती है।

षट्सिद्धियों का फल :–

1. **प्रातिभ** :– अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थो का ज्ञान।
2. **श्रावण** :– दिव्य श्रवण ज्ञान की पूर्णता।
3. **वेदन** :– दिव्य दर्शन की पूर्णता।
4. **आदर्श** :– दिव्यदर्शन की पूर्णता।
5. **आस्वाद** :– दिव्य रसज्ञान की पूर्णता।
6. **वार्ता** :– दिव्य गन्ध की पूर्णता।

14.7 चित्तशुद्धिजन्य शक्तिरूप विभूतियां :–

चित्तशुद्धिजन्य विभूतियॉ इस प्रकार है।

14.7.1 आत्मबल विभूति :–

मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा आदि में संयम करने से तत्सम्बन्धी बल की प्राप्ति होती है।

यथा :– **मैत्र्यादिषु बलानि।।** (पा0यो0सू0 3/23)

मैत्री ,करूणा आदि बलों की प्राप्ति उपरान्त आत्मबल की उपलब्धि होती है। जो शक्ति अन्तःकरण को इन्द्रियों में गिरने न देकर नियमित रूप से आत्म स्वरूप की ओर खींचती रहती है, उसी को 'आत्मबल' या तेज कहते हैं।

14.7.2 शारीरिक विभुति :–

बल में संयम करने से हाथी के समान बलादि की प्राप्ति हो सकती है।

यथा :– **बलेशु हस्तिबलादीनि।।** (पा0यो0सू0 3/24)

बल दो प्रकार के होते है– एक आत्म बल और दूसरा शारीरिक बल, जैसे बल की आवश्यकता है उसी प्रकार के बलशाली जीवों के बलों में संयम करने से उसी प्रकार के बल की प्राप्ति होती है।

14.8 क्रियात्मक विभूतियां :–

क्रियात्मक विभूतियों का स्वरूप निम्नानुसार है :–

14.8.1 चित्तस्य परशरीरावेश विभूति :–

चंचलता को प्राप्त हुए आस्थिर मन का शरीर में द्वन्द तथा आसक्तिजन्य बन्धन है। समाधि की प्राप्ति से क्रमशः स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का यह बन्धन शिथिल हो जाता हैं।

इस प्रकार जब बन्धन के कारण शिथिल हो जाते है और नाड़ियों के सूक्ष्म शरीर के घूमने के मार्ग का पूरा–पूरा ज्ञान हो जाता है। परिणाम स्वरूप साधक में ऐसी सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपने शरीर से चित्त (सूक्ष्म शरीर) को निकालकर किसी दूसरे की शरीर में जब चाहे तब प्रवेश करा सकता है।

यथा :– बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।।
(पा0यो0सू0 3/38)

14.8.2 जलादि असंग विभूति :– शरीर के जीवन का आधार प्राण है, क्रिया भेद से उसके पांच नाम है, यथा :– प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इनमें से संयम द्वारा उदान को जीतने पर शरीर रूई की तरह हलका हो जाता है। पानी के ऊपर पैर रखने पर भी ऐसा योगी पानी में नहीं डूबता, कीचड़ एवं कांटों में उसके पैर नहीं फॅसते और ऐसे सिद्ध पुरूष की मृत्यु के समय में प्राणों का ब्रह्मरन्ध्र द्वारा निकास होना उत्तम मार्ग होता है।

यथा :– उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंगउत्क्रान्तिश्च।।
(पा0यो0सू0 3/39)

14.8.3 ज्वलन विभूति :–

संयम द्वारा समान वायु को वश में करने पर समान प्राण के अधीन जो शरीरिक अग्नि है, उसके उत्तेजित होने पर शरीर अग्नि के समान चमकता हुआ दिखायी देता है।

यथा :– समानजयाज्ज्वलनम्।। (पा0यो0सू0 3/40)

14.8.4 दिव्यश्रोत्र विभूति :–

समस्त श्रोत्र और शब्दों का आधार आकाश है। जब तक कान के साथ आकाश का सम्बन्ध रखा जाता है, तब तक शब्द सुनायी पड़ते हैं अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाश का जो आश्रयाश्रयी रूप सम्बन्ध है, उसमें संयम करने से योगी सूक्ष्म से सूक्ष्म ; दूरवर्ती से दूरवर्ती ; छिपे हुए एवं नाना प्रकार के दिव्य शब्दों को सुन सकता है।

यथा :– श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।। (पा0यो0सू0 3/41)

14.8.5 आकाश गमन विभूति :–

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से आकाश गमन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। आकाश और शरीर के सम्बन्ध में संयम के समय लघुता के विचार से रूई आदि हल्के से हल्के पदार्थो की धाराणा करने पर हल्केपन की सिद्धि हो जाती है जिसके फल स्वरूप वह इच्छानुसार पक्षियों के समान आकाश गमन कर सकता है।

14.8.6 महाविदेह धारणा विभूति :–

शरीर के बाहर जो मन की स्वाभाविक वृत्ति है, उसका नाम ''महाविदेहधारणा'' है। इसके द्वारा प्रकाश के आवरण का नाश होता है। इस महाविदेह के सिद्ध होने पर प्रकाश स्वरूप बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकार से उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल, इनके सम्बन्ध से साधक मुक्त हो जाता है, रज–तम का आवरण हट जाता है जिससे अन्तःकरण को यथेच्छ ले जाने की विभूति (सिद्धि) प्राप्त होती है।

14.9 अन्य विभूतियॉ

14.9.1 अन्तर्धान विभूति :–

कायागत रूप में संयम करने पर उसकी ग्राहय शक्ति रूक जाती है, और शक्ति के रूकने पर दूसरे के नेत्रों के प्रकाश का योगी के शरीर के साथ संयोग नही हो पाता ; तब योगी का शरीर अन्तर्धान (अदृश्य) हो जाता है।

यथाः—कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।। (पा0यो0सू0 3/21)

इसी प्रकार शब्दादि पांचों विषयों में संयम करने से योगी के शरीर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को पास में स्थित पुरूष भी नही जान सकता।

14.9.2 क्षुत्पिपासा निवृत्ति विभूति :—

कण्ठ—कूप में संयम करने से भूख—प्यास की निवृत्ति हो जाती है। कण्ठ—कूप में ही विशुद्धि चक्र की कल्पना की गयी है। इसी स्थान से क्षुपिपासा का धनिष्ठ सम्बन्ध है।

यथा :— कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।। (पा0यो0सू0 3/30)

14.9.3 स्थैर्य विभूति :—

कण्ठ—कूप के नीचे छाती में कछुए के आकार वाली एक नाड़ी है, उसे कूर्म नाड़ी कहते है। इस नाड़ी में संयम करने से स्थिरता की प्राप्ति होती है। जैसे सर्प अथवा गोह अपने—अपने बिल में जाकर चंचलता और क्रूरता को त्याग देते हैं, वैसे ही योगी का मन इस कूर्म नाड़ी में प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चंचलता का त्याग कर देता है।

यथा :— कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।। (पा0यो0सू0 3/31)

14.9.4 सिद्धि सिद्ध दर्शन शिरः विभूति :—

शरीर के कपाल में ब्रह्मरन्ध्र नामक एक छिद्र है। उसमें प्रकाश वाली जो ज्योति है वह मूर्धा—ज्योति कहलाती है। इस ज्योति में संयम करने पर सिद्धगणों के दर्शन होते हैं। इस ज्योति का सम्बन्ध आज्ञा—चक्र से है। सिद्ध पुरूष अर्थात दिव्य पुरूष जो दूसरे प्राणियों को अदृश्य रहते हैं, योगी उनको ध्यानावस्था में देखता है और उनसे वार्तालाप भी कर सकता है। ऐसे सिद्ध पुरूष चतुर्दश भुवनों मे ही विराजते है।

यथा :— मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।। (पा0यो0सू0 3/32)

14.9.5 भूतजय विभूति :—

पंचतत्त्वों की पांच अवस्थाऐं होती है :— स्थूल, स्वरूप , सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व। इनमें संयम करने पर भूतों पर जय प्राप्त होती है।

यथा :— स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।। (पा0यो0सू0 3/44)

- **स्थूल अवस्था** :— जो दिखायी देती है।
- **स्वरूप अवस्था** :— जो स्थूल में गुणरूप से अदृष्ट हो।
- **सूक्ष्म अवस्था** :— तन्मात्राऐं
- **अन्वय अवस्था** :— व्यापक सत्त्व, रजो और तमो गुण की है।
- **अर्थवत्त्व अवस्था** :— फलदायक होती है।

संयम द्वारा उक्त अवस्थाओं को जय कर लेता है तब प्रकृति स्वतः ऐसे साधक के अधीन हो जाती है जैसे गौ अपने आप बच्चे को दूध पिलाया करती है वैसे पंचभूत के जय से प्रकृति वशीभूत हो जाने पर वह प्रकृति माता उस योगी की सेवा में तत्पर हो जाती है।

14.9.6 भूतजय विभूति का फल :—

अष्ट विभूतियॉ (सिद्धियॉ) भूतजय विभूति से अणिमादि अष्ट विभूतियों की प्राप्ति होती है। वे इस प्रकार हैं।

यथा :– ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च्।। (पा0यो0सू0 3/45)

भूतों के जय से अणिमा आदि आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव और कायसम्मत होती है और उन पंच महाभूत, महाभूतों के धर्मो से रूकावट नही होती। अणिमा, लधिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्त्व और ईशित्व ; ये ही अष्ट सिद्धियॉ है :–

1. **अणिमा** :– शरीर को सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर कर लेना अणिमा विभूति कहलाती है। जैसे लंका प्रवेश के समय हनुमान जी ने सुरसा के मुख में अपने शरीर को सूक्ष्म कर लिया था।
2. **लधिमा** :– शरीर को हल्के से भी हल्का कर लेना लधिमा विभूति है।
3. **महिमा** :– शरीर को जितना चाहे उतना बड़ा कर लेना महिमा विभूति कहलाती है। जैसे हनुमान जी ने सुरसा के समक्ष किया था।
4. **गरिमा** :– शरीर को भारी से भारी कर लेना गरिमा विभूति कहलाती है। जैसे हनुमान जी ने भीमसेन के मार्ग में रूकावट डालते समय किया था।
5. **प्राप्ति विभूति** :– जिस पदार्थ को चाहें उसकी प्राप्ति कर लेना प्राप्ति विभूति कहलाती है।
6. **प्राकाम्य विभूति** :– बिना रूकावट के भौतिक पदार्थ सम्बन्धी इच्छा की पूर्ति अनायास हो जाना। प्राकाम्य विभूति कहलाती है।
7. **वाशित्व** :– वाशित्व वह है जिसमें समस्त पंचमहाभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ वश में हो जाते हैं।
8. **ईशित्व विभूति** :– ईशित्व विभूति उसे कहते हैं जिसमें भूत और भौतिक पदार्थो की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने की शक्ति प्राप्त हो जाए।

   ये ही अष्ट सिद्धियॉ हैं।

14.10. तद्धर्मानभिघात

इन पांचों भूतों के कार्य योगी के विरूद्ध रूकावट नही डालतें अर्थात मूर्तिमान कठिन पृथ्वी योगी की शरीरादि क्रिया को नहीं रोकती। शिला में भी प्रवेश कर जाता है। जल का स्नेह धर्म गीला नहीं कर सकता, अग्नि की उष्णता जला नही सकती, वहनशील वायु उड़ा नही सकता , अनावरण आकाश में भी शरीर को ठक लेता है और सिद्ध पुरूषों से भी अदृश्य जो जाता है।

14.11 कायसम्पत्ति विभूतियों की प्राप्ति

उक्त विभूतियों के साथ–साथ रूप लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढ़ता, ये सभी कायसम्पत्तियॉ भी प्राप्त हो जाती है।

यथा :– रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायमम्पत्।। (पा0यो0सू0 3/46)

- रूप – मुख की आकृति का सुन्दर और दर्शनिय होना।
- लावण्य– सभी अंगों का कान्तिमय हो जाना।

- बल – बल की अधिकता हो जाना।
- वज्रसंहननत्वानि – शरीर के प्रत्येक अंग का वज्र के सदृश दृढ़ और पुष्ट हो जाना, यही सब कायसम्पत कहलाती है।

14.12 इंन्द्रियजय विभूति

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियों की पॉच वृत्तियों में संमय करने पर विजय प्राप्त हो जाती है।
यथा :– ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः (पा0यो0सू0 3/47)

- ग्रहण :– इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है।
- स्वरूप :– सामान्य रूप से इन्द्रियों का प्रकाश का तत्व, जैसे नेत्रों का नेत्रत्त्व आदि स्वरूप कहलाता है।
- अस्मिता :– इन्द्रियों का कारण अहंकार, जिसका इन्द्रियॉ विशेष परिणाम हैं।
- अन्वय :– सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण, जो अपने प्रकाश, क्रिया, स्थिति धर्म से इन्द्रियों में अन्वयी भाव से अनुगत हैं।
- अर्थवत्त्व :– इनका प्रयोजन पुरूष को भोग और अपवर्ग दिलाना हैं।

14.13. इन्द्रियजय का फल

इन्द्रियजय के अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय विभूतियॉ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।

यथा :– ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।। (पा0यो0सू0 3/48)

- **मनोजवित्त्व** :– मन की गति के समान शरीर की भी उत्तम गति की प्रप्ति को मनोजवित्त्वं कहते हैं।
- **विकरण** :– शरीर के सम्बन्ध का त्याग कर इन्द्रियों की वृत्ति का प्राप्त करना विकरणभाव है।
- **प्रधानजयत्त्व** :– प्रकृति के विकारों के मूल कारण को जय करना ही प्रधानजयत्तव है। इसी से सर्ववशित्त्व प्राप्त होता है। ये विभूतियां ग्रहणविषयक समाधि सिद्ध हो जाने पर स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।

14.14. परा विभूति

विभूतियॉ दो प्रकार की हैं, एक परा और दूसरी अपरा। विषय सम्बन्धी सभी प्रकार की उत्तम, मध्यम और अधम विभूतियां अपरा विभूतियां कहलाती है। ये विभूतियां मुमुक्षु योगी के लिए हेय हैं। इनके अतिरिक्त जो स्व स्वरूप अनुभव के उपयोगी विभूतियां है वे योगी के लिए उपादेय परा विभूतियां हैं।

14.15. सर्व भावाधिष्ठतृत्त्वं च सर्वज्ञातृत्त्वं विभूति

अन्तःकरण की अत्यन्त निर्मल अवस्था होने पर स्वतः परमात्मा का शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है जिससे बुद्धि रूप दृश्य और पुरूष रूप दृष्टा का तात्त्विक भेद

स्पष्ट अनुभव होने लगता है। इस स्थिति की प्राप्ति उपरान्त योगी अखिल भावों का स्वामी और सकल विषयों का ज्ञाता बन जाता है इसी के विवेकज्ञान कहते हैं।

यथा :— सत्त्वपुरूषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।।
(पा0यो0सू0 3/49)

14.16. विवेकज्ञान

क्षण और क्रम के संयम करने से विवेकज्ञान विभूति उत्पन्न होती है।

यथा :— क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।। (पा0यो0सू0 3/52)

अर्थात जितने काल में एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाह को क्रम कहते हैं। इनमें संयम करने पर विवेक अथार्त अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। यही विवेकज्ञान विभूति कहलाती हैं।

14.17. विवेकज्ञान के लक्षण

दो परस्पर वस्तुओं के भेद का ज्ञान वस्तु की जाति जैसे — गाय, वस्तु का लक्षण जैसे — गौ आकृति और वस्तु का देश अर्थात स्थान, इन तीनों के भेद से होता है। परन्तु जब जिन दो वस्तुओं में इन तीनों से भेद की उपलब्धि न हो सके ,तब उन एक जैसी प्रतीत होने वाली वस्तुओं के भेद को भी प्रत्यक्ष करा देने वाला ज्ञान ही ''विवेकज्ञान'' कहलाता है।

यथा :— जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।।
(पा0यो0सू0 3/53)

14.18. विवेकज्ञान का मुख्य फल

इस विवेकज्ञान के द्वारा समस्त विषयों का विषयक्रम आदि के बिना भी ज्ञान होता रहता है। अतः इस ज्ञान के द्वारा समस्त जागतिक पदार्थो के यथार्थ स्वरूप के कारण उनके प्रति वितृष्णा (वैराग्य) उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए यह विवेकज्ञान संसार रूप सागर से पार कराने वाला बताया गया है।

यथा :— तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजंज्ञानम्।।
(पा0यो0सू0 3/54)

योग साधक को उपरोक्तानुसार विभूतियों की प्राप्ति क्रमशः होती है। इन विभूतियों के द्वारा योग साधक को अपने जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए भी संसार अथवा सांसारिक जनों से सम्बन्ध रखने की अवश्यकता नहीं रहती; लेकिन यदि वह इन विभूतियों को प्राप्त करते ही तुष्ट होकर स्वयं को लोकोत्तर पुरूष समझने लगता है तो वे उसे समाधि भावना के मार्ग से पथभ्रष्ट कर देती हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट किया है,

यथा :— ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।। (पा0यो0सू0 3/37)

ये विभूतियां समधि में विघ्न एवं साधरण अवस्था में सिद्धियॉ है। अतः योगी को कभी भी इन सिद्धियों की अपेक्षा न कर समाधि साधना के लिए सदैव उन्मुख रहना चाहिए, क्योंकि योग के मार्ग में साधक जैसे—जैसे आगे बढ़ता है वैसे—वैसे बड़े—बड़े प्रलोभन दिव्य विषय और विभूतियों की प्राप्ति होने लगती है, परन्तु इनमें आसक्त न हो अपितु सावधानी बरतनी चाहिए।

यथा :— स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।।
(पा0यो0सू0 3/51)

अतः सतर्कतापूर्वक योग मार्ग पर निरन्तर समाधि की भावना बनाए रखें हुए कैवल्य प्राप्ति के लिए अभ्यस्त बने रहना चाहिए।

उपरोक्त विभूतियों के अतिरिक्त महर्षि पतंजलि ने कैवल्य पाद के प्रारम्भ में ही पांच प्रकार की सिद्धियां और बतायी है जो निम्नानुसार है :-

14.19 जन्मजा सिद्धि

इस सिद्धि में चित्त जन्म से ही ऐसी योग्यता को प्राप्त किये रहते हैं, जैसे पक्षियों का आकाश में उड़ना एवं महर्षि कपिल आदि ऋषियों का पूर्व जन्म के पुण्यों के प्रभाव से जन्म से ही सांसिद्धिक ज्ञान का उत्पन्न होना।

14.20 औषधजा सिद्धि

यह सिद्धि औषधि आदि के सेवन द्वारा चित्त में सात्त्विक परिणाम से होती है। जैसे :- औषधि एवं रसायन आदि के द्वारा काया-कल्प करके शरीर को पुनः युवा बना लेना।

14.21 मन्त्रजा सिद्धि

मन्त्र द्वारा चित्त में एकाग्रता का परिणाम होने पर इस सिद्धि की प्राप्ति होती है।

यथा :- स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।। (पा0यो0सू0 /44)

स्वाध्याय से इष्टदेवता की प्राप्ति।

14.22 तपोजा सिद्धि

तप के प्रभाव से चित्त की अशुद्धियां दूर होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि एवं सिद्धि होती है,

यथा :- कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।। (पा0यो0सू0 2/43)

14.23 समाधिजा सिद्धि

समाधि से ही अनेक प्रकार की विभूतियों की उपलब्धि होती है।इस प्रकार स्पष्ट है कि कैवल्य प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर साधक को अनेक प्रकार शक्ति सम्मत विभूतियों की उपलब्ध होती है लेकिन कैवल्यमार्गी की इन समस्त विभुतियों में वैराग्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

प्र0 1. रिक्त स्थान भरिऐ :-

1. धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम मे संयम करने पर .... का ज्ञान होता है।
2. धारणा, ध्यान और समाधि.......................... साधन है।
3. संयम की सिद्धि से .... होता है।
4. क्षण और क्रम मे संयम करने पर .... उत्पन्न होता है।

प्र0 2 सत्य/असत्य का चयन करें।

1. शब्द, अर्थ और ज्ञान में संयम करने पर प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता है।( )
2. कर्म के फल नही प्राप्त होते है। ( )
3. अणिमा सिद्धि होने पर शरीर सूक्ष्म हो जाता है। ( )
4. प्राण पर संयम करने पर शरीर भारी हो जाता है। ( )

प्र0 3 बहुविकल्पीय प्रश्न :–

1. धारणा, ध्यान व समाधि है –
   (अ) संयम (ब) बहिरंग साधन
   (स) क्रियायोग (द) इनमें से कोई नही।
2. विभूतिपाद में सूत्रों की संख्या है –
   (अ) 51 (ब) 55
   (स) 50 (द) 34
3. योगसूत्र के रचयिता है –
   (अ) मुनि घेरण्ड (ब) मुनि वसिष्ठ
   (स) महर्षि पतंजलि (द) इनमें से कोई नही।
4. ''त्रयमेकत्र संयम'' की व्याख्या है –
   (अ) समाधिपाद में (ब) साधनपाद में
   (स) विभूतिपाद में (द) कैवल्यपाद में

14.24 सारांश

संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) के सिद्ध होने पर समाधिजन्य बुद्धि अत्यन्त निर्मल एवं सात्तविक हो जाती है। यही समाधिजन्य बुद्धि संशय विपर्यय रहित ध्येय तत्व का प्रत्यक्ष कर नाना प्रकार की विभूतियों (सिद्धियों) की प्राप्ति करती है। इसी के बल पर बैठे–बैठे ही अंगुलि से चन्द्र सूर्यादि का स्पर्श, जल के समान पृथ्वी में गोता लगाना एंव पृथ्वी के समान जल पर गमन करना आदि सभी कुछ संभव है। योग साधक को साधना काल में विभूतियों की प्राप्ति क्रमशः होती रहती है लेकिन साधक को इन विभूतियों में लिप्त न होकर साधना में निरन्तर लगे रहना चाहिए। तभी उद्देश्य की प्राप्ति संभव हैं।

14.25 शब्दावली

संयम = नियन्त्रण
विभूति = सिद्धि / ऐश्वर्य
अतीतानागत = भूत एवं भविष्य
परशरीरावेश = दूसरे के शरीर मे प्रवेश
व्यवहित = आवरण में छिपा हुआ।
विप्रकृष्ट = दूर देश मे वर्तमान हो।

14.26 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.27. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ओमानन्दतीर्थ, स्वामी – पातंजलयोगप्रदीप – गीताप्रेस गोरखपुर 1988
करम्बेलकर, पी.बी. – पातंजल योगसूत्र – कैवल्यधाम, लोनावला – 2005
गैरोला, वाचस्पति – भारतीय दर्शन–लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1983
डॉ0 साधना दौनेरिया,– पातंजल योगसार– मधूलिका प्रकाशन इलाहाबाद – 2011
दशोरा, नन्दलाल – पातंजल योगदर्शन – रणधीरबुक सेल्स, हरिद्वार – 1986
ब्रह्मलीनमुनि, स्वामी – पातंजल योगदर्शनम् – चौखम्मा प्रकाशन, वाराणसी – 1970

मिश्र, नारायण – पातंजल योगदर्शनम् – चौखम्मा प्रकाशन, वाराणसी – 1971
झा, पीताम्बर – योग परिचय
त्रिपाठी रमाशंकर – पातंजल योगदर्शन

14.28 निबंधात्मक प्रश्न

1 संयम किसे कहते है?
2 विभूतियों से आप क्या समझते है? भेद सहित वर्णन कीजिए।
3 क्या विभूतियॉ कैवल्य प्राप्ति में बाधक है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई 15 चतुर्व्युहवाद.हेय,हेयहेतु , हान एवं हानोपाय

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 दर्शन का प्रयोजन
15.4 दर्शन का व्यावहारिक प्रयोजन
15.5. पातंजल योग दर्शन का सामान्य परिचय
15.6 हेय
15.7 हेयहेतु
15.8 दृश्य का स्वरूप
15.9 द्रष्टा का स्वरूप
15.10 दृश्य का प्रयोजन
15.11 हान का स्वरूप
15.12 हानोपाय
15.13 कार्य–विमुक्ति प्रज्ञा

15.14 चित्त–विमुक्तिप्रज्ञा
15.15 सारांश
15.16 शब्दावली
15.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.18 सन्दर्भ सूची
15.18 निबंधात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

मानवीय जीवन के साक्षात्कार एवं प्रत्यक्षीकरण का सार्थक विश्लेषण भारतीय दर्शन है, जिसकी सार्थकता आत्मसाक्षात्कार के रूप में स्वीकारी जाती है। दर्शन शब्द का अर्थ है 'दृष्यते अनेन इति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाए अर्थात वस्तु के तात्त्विक स्वरूप को जानना। अतः जिसे आंखों से न देखा जा सकता हो उसके लिए सूक्ष्म दृष्टि (तात्त्विक बुद्धि) की आवश्यकता होती है। इसी को दिव्य दृष्टि भी कहते हैं। अतएव भारतीय दर्शन को आत्मसाक्षात्कार का साधन अथवा मोक्ष शास्त्र कहा जाता है। भारतीय दर्शन की यही विशेषता उसे विश्व में समस्त दार्शनिक विचार–धाराओं में वैशिष्ट्य प्रदान करवाती है। भारतीय दार्शनिक विवेचन पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन की भांति बुद्धि का विकास मात्र नहीं है अपितु मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं की विश्लेषणात्मक साक्षात्कार प्रक्रिया है। यदि भारतीय दार्शिनिक विवेचना के अनन्तः स्वरूप पर दृष्टिपात करें तो सम्पूर्ण विवेचना दुःख की हेयरूपता से प्रारम्भ होकर दुःखात्यन्ता भावरूप मोक्ष पर फलश्रुति को प्राप्त होती है। मानव जीवन की दुःखरूपता के संदर्भ में सम्पूर्ण भारतीय आस्तिक एंव नास्तिक मनीषा एकमत है। इस परम्परा में जीव जगत, आत्मा–परमात्मा, कर्म–फल के स्वरूप विश्लेषणों में मतभेद हो सकता है। किन्तु यह दृश्यमान जगत पारमार्थिक स्वरूप में दुःखमय है तथा जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है। इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। आस्तिक परम्परा के आचार्यो ने दुःख से मोक्ष तक की मात्रा का विश्लेषण चिकित्सा शास्त्र के चक्रव्यूह की तरह किया है, जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, आरोग्य, रोग का निदान एवं औषधि इस चतुर्व्यूह पर विचार किया जाता है उसी प्रकार दर्शन परम्परा में हेय (दुःख), हेयहेतु (अविद्या), हान (दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति), एवं हानोपाय (तत्त्वज्ञान) पर विचार किया जाता है। दूसरी ओर नास्तिक परम्परा के अग्रणी बौद्ध दर्शन में इस चतुर्व्युह को चार आर्य सत्यों के रूप मे विश्लेषित किया है। ये चार आर्य सत्य है :– दुः,ख, दुःखहेतु, दुःखनिरोध एवं दुःखनिरोधगामिनी–प्रतिपत्ति। वस्तुतः जीवन की दुःखमूलकता का चिन्तन एवं दुःख के अत्यन्त अभाव के उपाय का अन्वेषण ही समस्त भारतीय चिन्तन में एक अदृश्य एकरूपता एवं समानता स्थापित करता है। जीवन के इस यथार्थ चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में दार्शनिक चिन्तन के बाह्यस्वरूप गौण ही प्रतीत होते हैं।

15.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :–

- चतुर्व्यूहवाद क्या है? जान सकेंगें।

- हेय–हेतु–हान और हानोपाय के स्वरूप को जान सकेंगें।
- दुःख एवं उसके कारण को जान सकेंगें।
- दुःख निवृत्ति के उपाय के विषय में जान सकेंगें।
- जीवन के परम लक्ष्य के विषय में जान सकेंगें।

15.3 दर्शन का प्रयोजन

दर्शन की उत्पत्ति का मुख्य प्रयोजन है दुःख सामान्य (अशेष दुःख) की निवृत्ति और सुख सामान्य (उत्तमसुख) की प्राप्ति। इसी कारण दर्शन शास्त्र की आवश्यकता है। डॉ0 भगवानदास द्वारा दर्शन के प्रयोजन की सार्थकता के विषय में अपनी पुस्तक '' दर्शन का प्रयोजन'' में लिखा है – ''सांसारिक और पारमार्थिक दुनियावी और इलाही, रूहानी दोनों मार्गो को साधने का मार्ग जो दरसावे, वही सच्चा दर्शन है।

15.4 दर्शन का व्यावहारिक प्रयोजन

दर्शन का मुख्य प्रयोजन आत्म–दर्शन माना गया जिसका उल्लेख सभी दर्शनों में यथा स्थान किया गया है। वैचारकों ने दर्शन का एक प्रयोजन लोक सेवा – लोक सहायता (ईश्वर भक्ति, सत्संग सदुपदेश) आदि के रूप में भी प्रकाशित किया।

योग दर्शन में भी यही वर्णित है कि संसारी जिसे सुख कहता हैं विवेकी के लिए वह भी दुःख ही है। ये दुःख अनन्त हैं जिनका कारण है द्रष्टा और दृश्य का संयोग।

यथा :– द्रष्टृदृश्योः संयोगो हेयहेतुः।। (पा0यो0सू0 2/17)

इस संयोग का कारण है अविद्या।

यथा :– तस्य हेतुरविद्या।। (पा0यो0सू0 2/24)

समस्त दुः,खों एवं क्लेशों का प्रमुख कारण अविद्या है। अविद्या के दूर होने पर समस्त क्लेश एवं दुःख स्वतः दूर हो जाते है। अविद्या को दूर करने का प्रमुख साधन है–तत्वज्ञान (विवेकख्याति)।

योग दर्शन में चतुर्व्युह निम्नानुसार है :–

- **हेय** :– दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य है?
- **हेयहेतु** :– दुःख कहॉ से उत्पन्न होता है, इसका वास्तविक कारण क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य दुःख का वास्तविक 'हेतु' है?
- **हान** :– दुःख का नितान्त अभाव क्या है, अर्थात् हान किस अवस्था का नाम है?
- **हानोपाय** :– हानोपाय अर्थात् नितान्त दुःख निवृति का साधन क्या है?

15.5. पातंजल योग दर्शन का सामान्य परिचय

भारतीय ज्ञान परम्परा का मूल वेद हैं। वेदों के ऋषि दिव्यदृष्टि सम्पन्न थे। उन्होंने सृष्टि और लय दोनों के निसर्ग प्रवाह का ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने देखा कि, इस जगत की तह में एक कारण प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है, वह है दुःख। इस दुःख से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है, वह है आत्मज्ञान। उदाहरणतः महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी सहधर्मिणी मैत्रेयी को पराविद्या का ज्ञान प्रदान किया। इसी पराविद्या का ज्ञान अमरत्व प्रदान कर

संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा प्रदान करता है। छोटे से छोटे कीट से लेकर बड़े से बड़े सम्राट तक प्रतिक्षण तीनों प्रकार के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों में से किसी न किसी दुःख की निवृत्ति का प्रयास करते रहते हैं, लेकिन फिर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। मृगतृष्णा सदृश जिन विषयों के पीछे मनुष्य सुख समझकर दौड़ता हैं, प्राप्त होने पर वे दुःख ही सिद्ध होते है।

योगसूत्र में भी दुःख का प्रमुख कारण क्लेश ही बताया जिसमें अविद्या को समस्त दुःखों का उत्पत्ति स्थान भी बताया है। यथा –

"अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।। (पा0यो0सू0 2/4)

अतः तत्त्वदर्शी और दर्शन के विषयों की तरह महर्षि पातंजल ने साधन पाद में चतुर्व्यह – हेय (दुःख), हेयहेतु (दुःख का कारण), हान (दुःख का निरोध), हानोपाय (दुःख निरोध के उपाय) का विवेचन किया है; जिसका स्वरूप निम्नानुसार है।

15.6. हेय

हेय का शाब्दिक अर्थ है त्यागने योग्य। त्यागने योग्य है जीवन की प्रतिकूल परिस्थियॉ। ये प्रतिकूल परिस्थितियॉ ही दुःख है। यथा :–

हेयं दुःखमनागतम्।। (पा0यो0सू0 2/16)

अर्थात आने वाला दुःख ही त्यागने योग्य है। क्योंकि भूतकाल का दुःख भोग देकर व्यतीत हो गया, इसलिए त्यागने योग्य नहीं है। वर्तमान दुःख इस क्षण में भोगा जा रहा है, दूसरे अर्थात आने वाले क्षण में स्वयं समाप्त हो जाएगा। इस कारण यह भी त्यागने योग्य नहीं है। इसलिए आने वाला दुःख ही त्यागने योग्य है। क्योंकि आने वाली विपत्ति को देखकर उससे बचा जा सकता है। विवेकीजन इसी आने वाले दुःख को हटाने या दूर करने का प्रयास करते हैं। मनुष्य के जीवन में दुःख ही हेय है। दुःख संसार से उत्पन्न होता है इसीलिए दुःख और संसार पर्याय माने जाते हैं। यहा विचारणीय है कि कौन सा दुःख हेय है– अतीत, वर्तमान या अनागत। अनागत (आनेवाला) दुःख ही त्याज्य है क्योंकि अतीत (भूतकाल) में जो दुःख भोगा जा चुका है वह छोड़ने योग्य है ही नहीं। कारण वह दुःख अब भोक्ता के समीप है ही नहीं और जो दुःख वर्तमान में भोगा जा रहा है वह आगामी समय में समाप्त हो जाएगा इसीलिए उसका भी त्याग नहीं हो सकता। अतः जो दुःख अभी प्राप्त नही हुआ है उसे दूर किया जा सकता है, उससे बचा जा सकता है। इसी को अनागत दुःख के नाम से योगसूत्र में बताया गया है। और इसी को त्यागने योग्य कहा है।

बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्यों प्रथम आर्य सत्य के रूप में दुःखम् :– इस संसार में सभी का जीवन दुःख से परिपूर्ण है। अतः दुःख प्रथम आर्य सत्य है और बताया कि जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, शोक, परिवेदना, दौर्मनस्य, उपायास, अप्रिय वस्तु के साथ समागम, प्रिय के साथ वियोग इच्छित वस्तु अप्राप्ति आदि सभी दुःख हैं। यह कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पांचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) भी दुःख है। धम्मपद गाथा 146 में बताया है, कि –

को न हासो निच्चं प्रज्जलिते सति।

(को न हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति।)

अर्थात – जब यह संसार नित्य जलते हुए घर के समान है, तब यहा हॅसी क्या हो सकती है और आनन्द क्या मनाया जा सकता है।

दुःख एक वस्तु है, अभाव का नाम दुःख नहीं है। यदि अभाव का नाम दुःख होता तो उसके त्याग का विधान करना व्यर्थ हो जाता है। दुःख एक गुण हो जो प्राकृतिक पदार्थो में पाया जाता है। जब प्राकृतिक पदार्थो से जीवात्मा का संबन्ध होता है तब दुःख की प्राप्ति होती है जो अनागत दुःख और उसके कारण को जान जाता है, वही दुःख से निवृति पा सकता है।

भगवान बुद्ध ने जनसाधारण की स्थायी सुख शांति के लिए जो सहज और सरल महत्वपूर्ण उपाय खोजा उसकी प्रेरणा उन्हें दुःख से ही मिली थी। गृह त्याग उन्होने जरा, मरण, शोक और रोग के अत्यन्त दयनीय दृश्यों को देखकर ही किया था। इस प्रकार दुःख की मूल स्थिति को जानकर उसे दूर करने का स्थायी उपाय अवश्य करना चाहिए। तृष्णा मूलक संसार में तृष्णा ही दुःख का कारण है।इसी का समुच्छेद प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है।

इस हेय दुःख का कारण ''हेयहेतु'' क्या है? हेय हेतु के स्वरूप का विवेचन निम्नानुसार है :–

15.7 हेयहेतु

हेयहेतु अर्थात दुःख का कारण क्या है? महर्षि पतंजलि ने बताया कि द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही 'हेय हेतु ' है। द्रष्टा चेतन पुरूष है जो चित्त का स्वामी होकर उसको देखने वाला है। दृश्य चित्त है जो स्व बनकर पुरूष को गुणों के परिणाम स्वरूप संसार को दिखाता है। चित्त द्वारा देखे जाने के कारण यह सारा गुणों का परिणाम विषम, शरीर और इन्द्रिय आदि भी सब दृश्य ही है।

पुरूष और चित्त का जो आसक्ति सहित अविवेकपूर्ण भोग्य–भोक्ता भाव का सम्बन्ध है उसके लिए संयोग ही दुःख का हेतु अर्थात कारण है। पुरूष और चित्त के संयोग का कारण है अविद्या। यथा :–

तस्य हेतुरविद्या।। (पा0यो0सू0 2/24)

महर्षि व्यास ने भी अविद्या को ही समस्त दुःखों का कारण बताया है। क्योंकि अविद्या आस्मिता को अर्थात द्रष्टा और दृश्य के संयोग को जन्म देती है। यही संयोग राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों को जन्म देता है। ये क्लेश कर्माशय को कर्माशय जाति, आयु, भोग रूप संसार को और संसार दुःख को जन्म देता है। अतः ये पंचक्लेश दुःख के कारण है।

द्रष्टा–दृश्य संयोग का लक्षण :– अविद्या ही अस्मिता को जन्म देती है। आस्मिता का लक्षण है द्रष्टा और दृश्य में एकत्व की प्रतीति होना। इसे संयोग कहा गया है। यथाः–

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।। (पा0यो0सू0 2/23)

यह संयोग जो वास्तव में अस्मिता है उसने चित्तरूप स्व और पुरूषरूप स्वामी को जड़–चेतन के सम्मिश्रण से एक नए जीवभाव को पैदा किया है। अतः इस संयोग के रहते हुए ही इसी संयोग की निवृत्ति के लिए स्व और स्वामी के स्वरूप की उपलब्धि की जाती है।

15.8. दृश्य का स्वरूप

महर्षि व्यास ने बुद्धि के विषयभूत प्रधान से लेकर शब्दादि विषय पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, वे सब दृश्य हैं। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में दृश्य का स्वरूप चित्रित करते हुए बताया कि , यथा :–

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।। (पा0यो0सू0 2/18)
अर्थात प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, उसे दृश्य कहते हैं।
यह दृश्य (प्रकृति) सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त है। वह महत्तत्व आदि के द्वारा आकाश आदि भूत एवं श्रोत्र आदि इन्द्रिय रूप से परिणत है और पुरूष के भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) के लिए है।

15.9. द्रष्टा का स्वरूप

द्रष्टा का स्वरूप केवल चेतन मात्र है। यह ऐसा आत्मतत्त्व है जो स्वरूप से सर्वथा शुद्ध, निर्विकार होते हुए भी बुद्धि (चित्त) के सम्बन्ध से बुद्धि के अनुरूप देखने वाला होने के कारण द्रष्टा कहलाता है। यथा :–

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।। (पा0यो0सू0 2/20)

द्रष्टा शुद्ध होते हुए भी साधन भूत बुद्धि के सहयोग से ही ज्ञान कर पाता है। यद्यपि चित्त और पुरूष के अतिशय सान्निध्य को नकारा नहीं जा सकता। तथापि यही सान्निध्य पुरूष के भोग और अपवर्ग को सम्पन्न करने में पूर्ण सहायक भी होता है।

15.10. दृश्य का प्रयोजन

दृश्य का प्रयोजन पुरूष के भोग और अपवर्ग के लिए है क्योंकि दृश्य (प्रकृति) अपने किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा न करके केवल पुरूष के भोग और अपवर्ग के लिए ही प्रवृत्त होता है। दृश्य का सारा स्वरूप ही पुरूष के लिए है। यथा :–

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।। (पा0यो0सू0 2/21)

इस प्रकार यह द्रश्य पुरूष के प्रयोजनार्थ है न कि अपने स्वार्थ के लिए। दृश्य का स्वरूप पुरूष के कैवल्य प्राप्ति तक रहता है।
अतः अविद्या के कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग होता है। यही संयोग बंधन का कारण है। यह सम्बन्ध अनादि है जिसका प्रयोजन द्रष्टा को भोग एवं अपवर्ग करना है। दृश्य (प्रकृति) का समस्त व्यापार है ही पुरूष के लिए। वह द्रष्टा को भोग भी कराता है और मोक्ष भी। इस प्रकार अविद्या जनित प्रकृति और पुरूष का संयोग ही हेयहेतु है।
गौतम बुद्ध ने भी यही कहा कि संसार में अकेला दुःख ही नहीं अपितु उसका कारण भी है। उन्होने दुःख का कारण तृष्णा को बताया है। इस तृष्णा के कारण ही मनुष्य आसक्ति और राग से युक्त होता है। जन्म और मरण को चलाने वाली तृष्णा ही दुःख का मूल कारण है। जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में रोग एवं रोग के हेतु को जानने के पश्चात् आरोग्य पर विचार किया जाता है। उसी प्रकार महर्षि पतंजलि ने हेय एवं हेयहेतु के पश्चात् तृतीय व्यूह हान के स्वरूप की व्याख्या की , जो निम्नानुसार है :–

15.11. हान का स्वरूप

अविद्या के कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है और जब अविद्या का अभाव होता है तो इस अविद्या जनित संयोग का अभाव स्वतः हो जाता है। इस संयोग का अभाव होना ही दुःख के विनाश का कारण है; इसी को हान कहते हैं। यथा :–

तद्भावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।। (पा0यो0सू0 2/25)

अर्थात् अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव ही हान है। यही चिति शक्ति का कैवल्य है।

अविद्या अर्थात् अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्म को आत्म समझना ही अविद्या है। अविद्या के विरोधी यथार्थ ज्ञान से अविद्या का उन्मूलन होता है। इस उन्मूलन पश्चात् अभाव होने पर चित्त और पुरूष के संयोग का अभाव होना ही बन्धन का आत्यन्तिक विनाश है और यही अवस्था ''हान'' कहलाती है। अतः दुःख के कारण की निवृत्ति होने पर ही दुःख की निवृत्ति का नाम ही हान है। इसके उपारान्त पुरूष स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

भगवान बुद्ध ने भी अविद्या को ही दुःखों का मूल कारण बताया है। उन्होंने बताया अविद्या के नष्ट होने पर तृष्णा का अन्त स्वाभाविक है, तृष्णा के नष्ट होने पर पॉच उपादान स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का भी अन्त हो जाएगा। इसी अवस्था को दुःख निरोध कहते है। दुःख निरोध ही निर्वाण है।

त्रचतुर्थ व्यूह है, हानोपाय अर्थात हान की प्राप्ति का उपाय।

15.12. हानोपाय

हान का उपाय है–''शुद्ध विवेकख्याति'' अर्थात शुद्ध, निर्मल, संशय विपर्यय रहित विवेकज्ञान हान का उपाय है। यथा :–विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।। (पा0यो0सू0 2/26)

द्रष्टा और दृश्य का भेद विवेक कहलाता है और ख्याति का अर्थ होता है ज्ञान अतः चित्त पुरूष इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान है, विवेकख्याति और वह मिथ्याज्ञान जिससे निवृत्त हो गया है, ऐसी विवेकख्याति अविपल्व अर्थात शुद्ध और निर्मल कहलाती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज सदृश होने पर बन्धन की अनुत्पत्ति के योग्य होता है। अर्थात बन्धन में डालने के योग्य नही रह जाता तब रजोगुण निमित्तक क्लेश के दूर होने पर और सत्त्व के परम प्रकाश में परमवशीकार नामक वैराग्य में वर्तमान हुए योगी के विवेकज्ञान का प्रवाह शुद्ध होता है। यही निर्मल विवेकख्याति हान का उपाय है। इस अवस्था में आने पर मिथ्याज्ञान दग्ध बीज के समान हो जाता है। पुनः अंकुरण के योग्य नही होता। यही हान का उपाय है और मोक्ष का मार्ग भी है।

विवेकख्याति के उदय होने पर और अविद्या के नष्ट होने पर कर्त्तृत्व – भोक्तृत्व के अहंकार से रहित होने पर राजसिक और तामसिक मल भी शून्य हो जाते है। तब सत्तवगुण के प्रकाश में चित्त में चेतन का जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, और जिसके कारण चित्त में चेतनता प्रतीत हो रही है, चित्त से भिन्न उसका साक्षात्कार होता है। यद्यपि यह साक्षात्कार चित्त के ही द्वारा होता है इसलिए चित्त की ही एक सात्तिवक वृत्ति है। तथापि इसके निरन्तर अभ्यास से विवेकज्ञान का प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है, क्लेशों का सर्वथा नाश होता है और मिथ्याज्ञान दग्ध बीज के तुल्य बन्धन की उत्पत्ति करने में असहाय हो जाता है। यही अविप्लव, अडोल, अविच्छेद निर्मल विवेकख्याति हान का उपाय है।

जिस योगी को अविप्लवा विवेकख्याति की प्राप्ति हो जाती है। उसे सात प्रकार की परम प्रज्ञा उपलब्ध होती है। यथा :–

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।। (पा0यो0सू0 2/27)

विवेकख्याति द्वारा चित्त के अशुद्धि रूप आवरण नष्ट हो जाने पर एवं संसारिक ज्ञान के उत्पन्न न होने पर सात प्रकार उत्कर्ष अवस्था वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इसमें प्रथम चार प्रकार की प्रज्ञा कार्य से विमुक्ति करने वाली हैं इसलिए कार्य विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती

हैं। अन्तिम तीन चित्त से विमुक्ति प्रदान करने वाली हैं जिन्हें चित्तविमुक्ति प्रज्ञा कहते हैं जिन्हे निम्नानुसार समझा जा सकता हैं:–

15.13. कार्य–विमुक्ति प्रज्ञा :–

ज्ञेयशून्य अवस्था :–जो जानने योग्य या जान लिया अर्थात दृश्य गुणमय है, परिणामी है जानने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं है।

हेयशून्य अवस्था :– द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव जो हेय का हेतु है उसका अभाव कर दिया अन्य कुछ अभाव करने योग्य शेष नहीं है।

प्राप्तप्राप्त अवस्था :– जो कुछ प्राप्त करना था, प्राप्त कर लिया अर्थात समाधि द्वारा कैवल्य अवस्था की प्राप्ति हो चुकी है, अब कुछ प्राप्त करना शेष नहीं है।

चिकीर्शाशून्य अवस्था :– हान का उपाय निर्मल विवेक ज्ञान है जिसे सिद्ध कर लिया है और कुछ करना शेष नहीं है।

15.14. चित्त–विमुक्तिप्रज्ञा :–

चित्त की कृतार्थता :– चित्त ने अपना अधिकार ''भोग और अपवर्ग '' देना पूरा करा दिया अन्य कोई प्रयोजन शेष नहीं है।

गुणलीनता :– कोई कार्य शेष न होने के कारण चित्त अपने कारणरूप गुणों में लीन हो रहा है।

आत्मस्थिति :– पुरूष सर्वथा गुणों से अतीत हो कर अपने स्वरूप में अचल भाव से स्थित हो गया।

इस सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को अनुभव करने वाला (कुशल) जीवनमुक्त कहा जाता है और चित्त के अपने कारण में लीन होने पर (कुशल) विदेहमुक्त कहलाता है। इसीलिए विदेहमुक्त अवस्था को जीवनमुक्त दशा में प्रत्यक्ष कर लेते हैं। इस विवेकख्याति का उदय एवं चित्त की शुद्धि के लिए महर्षि पतंजलि ने योगांगों का अनुष्ठान बतलाया है। भगवान बुद्ध ने हानोपाय की जगह चतुर्थ आर्य सत्य दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपत को सीधा अष्टांग योग बताया हैं, जिसे अष्टांगिक मार्ग नाम दिया गया है।

अतः योगांगों के निरन्तर अनुष्ठान उपरान्त शुद्ध विवेकख्याति का उदय होता है और यही हानोपाय है। इसीलिए योग साध्य भी है और साधन भी।

अभ्यास प्रश्न

प्र0 1 रिक्त स्थान भरिए।

(अ) भविष्य में आने वाला दुःख ही ....है।

(ब) दुःख का कारण ....है।

(स) चार आर्य सत्यों को ....ने खोज निकाला।

(द) हान का अर्थ ....है।

प्र0 2 सत्य/असत्य का चयन करें।

(अ) भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य दुःख की निवृत्ति है। ( )

(ब) द्रष्टा और दृश्य के संयोग का कारण अविद्या है। ( )

(स) दुःख अनादि नहीं है। ( )

(द) हान का अर्थ है– त्याज्य। ( )

प्र0 3 बहुविकल्पीय प्रश्न :–

1. हान का अर्थ है–
   (अ) सुख की प्राप्ति (ब) दुःख का नाश
   (स) दुःख का कारण (द) इनमें से कोई नहीं
   उत्तरः–
2. हेय का वर्णन किस पाद मे किया गया है?
   (अ) समाधिपाद (ब) साधनपाद
   (स) विभूतिपाद (द) कैवल्यपाद
   उत्तरः–
3. हानोपाय का सूत्र है–
   (अ) 2/16 (ब) 2/17
   (स) 2/24 (द) 2/26
   उत्तरः–
4. कौन सा दुःख हेय है?
   (अ) अतीत (ब) वर्तमान
   (स) भविष्य (द)वर्तमान और भविष्य
   उत्तरः–

15.15. सारांश

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी बन्धनों के कारण पंच क्लेश हैं क्योंकि क्लेशों से कर्म वासना, कर्म वासना से जन्मरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। जिससे जाति आयु और भोग रूप तीन प्रकार के फल लगते हैं जो सुख एवं दुःख रूपी स्वाद प्रदान करते हैं। हिंसारहित कल्याणार्थ किए गये कर्म सुख एवं दूसरों को दुःख पहुॅचाने के लिए किए गए कर्म दुःख जाति, आयु और भोग के रूप मिलते हैं।

तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में सुख भी दुखरूप ही है। भोग, बंधन आदि सभी दुःखमय हैं। दुःख से सदा के लिए निवृत्ति प्राप्त करने के लिए महर्षि पतंजलि ने ही नहीं लगभग सभी दार्शनिकों ने चतुर्व्यूह हेय–हेयहेतु–हान और हानोपाय की विवेचना कर एक ऐसा मार्ग निर्मित किया है जिस पर अग्रसर होने पर अज्ञानी की तृष्णा, उद्वेग, विपाक, लिप्सा पर विजय प्राप्त कर एक ऐसे श्रेय, कल्याणकारी, हित सत्य को प्राप्त कर सकता हैं जिसमें अनन्त आनन्द एवं शान्ति का वास होता हैं। यही अवस्था 'सर्वदुःखम्' के चक्र को 'सर्वसुखम्' में परिणत करती है, यही योग का अन्तिम लक्ष्य भी है।

15.16. शब्दावली

हेय	=	त्याज्य (दुःख)
हेयहेतु	=	दुःख का कारण
हान	=	दुःख का नाश
हानोपाय	=	दुःख निवृत्ति का उपाय
द्रष्टा	=	पुरूष
दृश्य	=	प्रकृति
विवेकख्याति	=	प्रकृति और पुरूष का भेदज्ञान
अविद्या	=	अज्ञान

सप्तधा	=	सात प्रकार की
प्रान्तभूमि	=	अन्तिम स्थितिवाली
प्रज्ञा	=	शुद्ध बुद्धि

15.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.18. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गैरोला, वाचस्पति – भारतीय दर्शन लोकभारती प्रकाशन 1983
2. देवराज, नन्दकिशोर, डॉ0 भारतीय दर्शन उ0प्र0 हिन्दी संरचना लखनऊ 1999
3. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, डॉ0 – धर्मदर्शन की रूप रेखा – मोतीलाल बनारसीदास 2008
4. स्वामी, सत्यपति, परिव्रजक – योगदर्शनम् – दर्शन योग महाविद्यालय गुजरात 2001
5. डॉ0, विजयपाल, शास्त्री – योग विज्ञान प्रदीपिका – सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस 2006
6. रूपाली श्रीवास्तव – भारतीय दर्शन – यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स।
7. पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय – भारतीय दर्शन – शारदा मंदिर वाराणासी 2011
8. डॉ0 साधना दौनेरिया, – पातंजल योगसार– मधूलिका प्रकाशन इलाहाबाद – 2011

15.19 निबंधात्मक प्रश्न

(1) चतुर्व्यूहवाद से आप क्या समझते हैं? वर्णन कीजिए।
(2) हान एवं हेयहेतु के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
(3) हेय एवं हानोपाय का अर्थ बताते हुए विस्तृत व्याख्या कीजिए।

इकाई 16 **ईश्वर की अवधारणा एवं स्वरुप**

16.1 प्रस्तावना
16.2 उद्देश्य
16.3 ईश्वर की अवधारणा
16.4 ईश्वर का स्वरुप

16.4.1 वेदों में वर्णित ईश्वर का स्वरुप
16.4.2 उपनिषदों में वर्णित ईश्वर का स्वरुप
16.4.3 दर्शनों (योग दर्शन) में वर्णित ईश्वर का स्वरुप
16.4.4 गीता में वर्णित ईश्वर का स्वरुप
16.5 सारांश
16.6 शब्दावली
16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
16.9 सहायक पाठ्य सामग्री
16.10 निबन्धात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, मनुष्य की ईश्वर के स्वरुप को जानकर उसे प्राप्त करने की जिज्ञासा प्राचीन काल से ही रही है। इस विषय पर भारतीय साहित्यिक ग्रंथों में गहन मनन चिन्तन किया गया है। भारतीय संस्कृति के आदि मूल ग्रंथों वेद, उपनिषद, दर्शन एवं गीता में ईश्वर के स्वरुप को जानकर, उसके समीप पहुंचकर ईश्वर प्राप्ति का उपदेश मानव को दिया गया है। योग साधना में भी योगी साधक पुरुष का आराध्य देव ईश्वर ही है। इस ईश्वर के स्वरुप को समझकर उसे प्राप्त करना ही साधक का मूल उद्देश्य है अतः योग के मूल ग्रंथ योग दर्शन में भी ईश्वर के स्वरुप का सविस्तार वर्णन किया गया है।

वर्तमान समय में मनुष्य ने भौतिक जगत के क्षेत्र में बहुत उन्नति की, अनेक शोध अनुसंधानों में सफलता प्राप्त करते हुए भौतिक सुख सुविधाओं का अर्जन किया किन्तु भौतिकवाद की चकाचौंध में उसका आध्यात्मिक पक्ष क्षीण हो गया, आध्यात्म और ईश्वर से मनुष्य की दूरियां बढती चली गयी तथा ईश्वर की अवधारणा एवं स्वरुप के विषय में अनेक प्रकार की भ्रांतियों ने मनुष्य के मन में जन्म लिया। इन भ्रांतियों के कारण आज मनुष्य को ईश्वर का स्परुप स्पष्ट नही हो पा रहा है। ईश्वर का स्वरुप स्पष्ट नही हो पाने के कारण ईश्वर उपासना बाधित हो रही है। इसी कारण आधुनिक समय में मनुष्य साधना के पथ से विचलित हो रहा है। ईश्वर स्वरुप स्पष्ट नही हो पाने के कारण आधुनिक मानव ईश्वर उपासना के महत्व को भलि भांति समझ नही पा रहा है और अपने जीवन का उद्देश्य अच्छा खान–पान, रहन–सहन तथा अधिकाधिक भौतिक सुख साधनों के संग्रह तक ही सीमित कर रहा है परन्तु इसके परिणाम स्वरुप आधुनिक मानव ईश्वर से दूर होकर अनेक प्रकार के दुख, क्लेश, द्वंद, कष्टों एवं आध्यात्मिक रोगों से ग्रस्त हो रहा है। आधुनिक समाज में अधिकांश मनुष्य दुख और तापों से पीड़ित है,

इस प्रकार ईश्वर स्वरुप के महत्व को जानने के बाद अब आपके मन में ईश्वर के अर्थ अर्थात अवधारणा एवं ईश्वर स्वरुप के विस्तृत अध्ययन की जिज्ञासा उत्पन होनी स्वाभाविक है अतः अब आप वेद, उपनिषद्, दर्शन एवं गीता के अनुसार ईश्वर की अवधारणा एवं स्वरुप का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- ईश्वर के अर्थ की विवेचना कर सकेंगे।
- ईश्वर अवधारणा का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेगें।
- ईश्वर को परिभाषित करने में सक्षम हो सकेंगे।
- ईश्वर स्वरुप का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकेंगे।
- ईश्वर स्वरुप के महत्व को समझाने में सक्षम हो सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

16.3 ईश्वर की अवधारणा

ईश्वर की अवधारणा अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। ईश्वर को भगवान, परमात्मा, देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौड (GOD), शिव आदि नामों से जाना जाता है। वास्तव में ये सभी नाम ईश्वर के कार्य विशेष अथवा विशेषणों को अभिव्यक्त करते हैं। ईश्वर के शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो ईश्वर शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की ईश धातु से हुई है। इस ईश धातु पर वच्य् प्रत्य्य लगाने से ईश्वर शब्द की उत्पत्ति होती है। ईश धातु का अर्थ होता है नियंत्रित करना, अर्थात इस ब्राह्माण्ड अथवा संसार को नियंत्रित करने वाली सत्ता अथवा शक्ति के अर्थ के रुप में ईश्वर का वर्णन किया गया है। कुछ स्थानों पर ईश्वर के लिए ईश अर्थात नियंता शब्द प्रयुक्त किया जाता है। प्रिय पाठकों, ईश्वर शब्द के अर्थ को जानने के उपरान्त अब आपके मन में ईश्वर के प्रयार्यवाची शब्दों भगवान, परमात्मा, देवता आदि को जानने की जिज्ञासा भी अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी अतः अब हम इन शब्दों पर विचार करते हैं।

भगवान शब्द भग और वान से मिलकर बना है। भग का अर्थ ऐश्वर्य और वैभव से होता है और वान का अर्थ धारण करने से लिया जाता है अर्थात समस्त ऐश्वर्यों एवं वैभव से युक्त परम सत्ता को भगवान की संज्ञा से सुशोभित किया जाता है। सामान्य लोक व्यवहार में भी समस्त ऐश्वर्यों एवं वैभवशाली विशेष आदरणीय पुरुषों के लिए भगवान शब्द का प्रयोग किया जाता है। सभी आत्माओं में विशेष परम आत्मा परमात्मा कहलाती है। देने वाला देव कहलाता है, चूंकि ईश्वर संसार के सभी प्राणियों को अन्न, जल, धूप एवं वायु आदि प्रदान करता है, ईश्वर के इस गुण विशेष के कारण ईश्वर को देव अथवा देवता की संज्ञा से सुशोभित किया जाता है।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश ईश्वर के तीन प्रमुख वाचक शब्द हैं जो ईश्वर के तीन गुण विशेषों को अभिव्यक्त करते हैं। अत्यन्त विशाल सृष्टि की रचना अर्थात उत्पत्ति करने के कारण ईश्वर को ब्रह्मा की संज्ञा दी जाती है, सृष्टि का पालन अर्थात सृष्टि को चलाने और नियमन करने के कारण ईश्वर की संज्ञा विष्णु (पालनहार) हो जाती है तथा सृष्टि का संहार अर्थात विनाश करने के कारण ईश्वर को महेश की संज्ञा दी जाती है।

उत्पन्न करने वाले को अंग्रेजी भाषा में जेनेरेटर (Generator), चलाने अर्थात नियमन वाले को आपरेटर (Operator) तथा मिटाने अर्थात नष्ट करने वाले को डेस्ट्रायर (Destroyer) कहा जाता है, ईश्वर के इन्ही तीन गुणों एवं क्षमताओं को प्रकट करने वाले तीन शब्दों के प्रथम शब्दों से गौड शब्द की उत्पत्ति होती है और अग्रेंजी भाषा में ईश्वर

को गौड (GOD) शब्द से सम्बोधित किया जाता है। तात्पर्य यह है कि गौड शब्द भी ईश्वर के तीन महान गुणों की अभिव्यक्ति कराने वाला शब्द है।

ईश्वर के लिए शिव शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त व्यवहारिक रुप में किया जाता है। शिव का अर्थ कल्याण करने से होता है अर्थात सब जीवों का कल्याण करने के कारण ईश्वर को शिव की संज्ञा दी जाती है। शिव का अर्थ अच्छे अथवा उत्तम से भी होता है चूंकि ईश्वर मानव को अच्छी प्रेरणा, उत्तम संकल्प एवं सन्मार्ग की दिशा प्रदान करता है अतः ईश्वर को शिव के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ईश्वर के द्वारा जीवात्मा कल्याणकारी प्रेरणाएं प्राप्त करती हैं एवं वह ईश्वर जीवात्मा का कल्याण करने वाला है, जो जीवात्माएं ईश्वर की प्रेरणाओं को जान समझकर उसके मार्ग का गमन करती है ऐसी जीवात्माएं संसार के जन्म मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष सुख को प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार भगवान, परमात्मा, देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश व परमेश्वर आदि शब्द ईश्वर की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं। इन शब्दों से एक ओर जहा ईश्वर के गुणों एवं महिमा का ज्ञान होता है तो वहीं दूसरी ओर ईश्वर की सर्वव्यापकता की अनूभूति भी होती है। वास्तव में ईश्वर कोई जातिवाचक अथवा स्थानवाचक शब्द नही है अपितु यह एक गुणवाचक शब्द है जो ईश्वर के विभिन्न गुणों को अभिव्यक्त करता है। इससे यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि ईश्वर जिस गुण से युक्त होता है, उसी संज्ञा को प्राप्त करता है। भगवान, परमात्मा, देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश व परमेश्वर आदि शब्द ईश्वर के गुणवाचक शब्द हैं जिनके माध्यम से सर्वशक्तिमान एवं सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर को सम्बोधित किया जाता है। अब ईश्वर की अवधारणा का ज्ञान प्राप्त करने पर ईश्वर के स्वरुप को जानने की इच्छा निश्चित रुप से उत्पन्न हुई होगी, अतः अब विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर के स्वरुप का अध्ययन करेगें

16.4 ईश्वर का स्वरुप

सर्वप्रथम सृष्टि के आदि ग्रन्थ वेद में वर्णित ईश्वर स्वरुप पर विचार करते हैं

16.4.1 वेदों में वर्णित ईश्वर का स्वरुप

वेदों में ईश्वर स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि वह ब्रह्म (ईश्वर) अद्वितीय, जगतकर्ता, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है। वह सभी भुवनों (ग्रहों एवं उपग्रहों) का एक तथा समस्त विश्व का एक स्वामी है। उस परम सत्ता को परम पुरुष सृष्टि का अध्यक्ष, देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों से कहा जाता है। वह ब्रह्म सूक्ष्माति सूक्ष्म है, इसलिए जब जिज्ञासु उसका साक्षात्कार कर लेता है तो मानों वह समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता है। विद्वानजन एवं योगीजन इस सर्वव्यापक परमानन्द ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना व भक्ति विशेष करते हुए आनन्द की अनुभूति करते हैं। उस परमात्मा की महिमा का गुणगान एवं स्वरुप को स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद में पुनः कहा गया–

ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्मताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। (यजु0 13/4)

अर्थात स्वप्रकाशरुप प्रभु उत्पन्न हुये सम्पूर्ण जगत का एक ही स्वामी हैं। वह जगत से पूर्व वर्तमान था। वही भूमि व सूर्यादि को धारण कर रहा हैं। हम लोग उसी परमात्मा के लिये यज्ञ करें।

वेदों में ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, ब्रह्म और प्रजापति आदि नामों से पुकारा जाता है। वह ईश्वर शरीर रहित, शुद्ध, नस–नाड़ियों से रहित, पापों से रहित, कवि, मनीषी, परिभू और स्वंयम्भू आदि विशेषणों से युक्त है। उस सर्वव्यापक परमात्मा के अत्यन्त आनन्द स्वरूप प्राप्तव्य मोक्ष पद को योगीजन सदैव सर्वत्र व्याप्त इस प्रकार देखते हैं जैसे कि स्वच्छ आकाश में देदीप्यमान सूर्य के प्रकाश में नेत्रा की दृष्टि व्याप्त होती है। इसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं प्रकाश स्वरूप सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। उस ईश्वर का मुख्य नाम 'ऊँ' है, वह आकाश की तरह व्यापक है।

ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।। (यजु0 40/17)

इस सर्वव्यापक ईश्वर के स्वरुप का ध्यान अर्थात उसकी उपासना क्यों करे, उससे क्या लाभ एवं प्रभाव प्राप्त होगा, इस विषय को स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद में कहा गया –

ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।। (यजु0 25/13)

जो आत्मज्ञान और बल का देने वाला, जिसकी सब विद्वान उपासना करते हैं और जिसकी छाया अर्थात आश्रय मोक्षसुखदायक और जिसका ना मानना अर्थात भक्ति ना करना मृत्यु आदि दुख का हेतु है, हम लोग उसी परमात्मा की उपासना करें।

जिज्ञासु पाठकों, वेदों में ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरुप को वर्णित किया गया है अर्थात वह ईश्वर चारों दिशाओं में ऊपर–नीचे एवं सर्वत्र विद्यमान है। अथर्ववेद में ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरुप की व्याख्या करते हुए कहा गया

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽदित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः (अर्थ0 03/27/01)

हे सर्वज्ञ ईश्वर, आप हमारे सम्मुख की ओर विद्यमान हैं, स्वतंत्र राज और रक्षा करने वाले हैं। आपने सूर्य को रचा है जिसकी किरणों द्वारा पृथ्वी पर जीवन आता है। आपके आधिपत्य, रक्षा और जीवन प्रदान के लिए प्रभो आपको बारम्बार नमस्कार है। जो हमसे द्वेष करता है अथवा जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे हम आपकी न्यायरुपी सार्मथ्य पर छोड देते हैं।

ऋग्वेद में ईश्वर के वृहद स्वरुप एवं अनन्त महिमा का गान करते हुए कहा गया कि ईश्वर ब्रह्माण्ड का रचयिता है उसने पूर्व सर्ग के समान सूर्य और चन्द्र लोक को बनाया, द्युलोक, पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष एवं अन्य सुखमय लोक निर्मित किए। वही समस्त ब्रह्माण्ड का एकमात्र पति (पालन करने वाला) है जो चराचर जगत से पूर्ण विद्यमान था।

ओ३म सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।।
(ऋग्वेद 10/190/01)

अर्थात सारे जगत को धारण करने वाले ईश्वर ने सूर्य और चन्द्र को पूर्वकल्प के समान रचा। प्रकाशयुक्त, प्रकाशरहित लोक तथा अन्तरिक्ष को भी रचा।

सामवेद ईश्वर को 'इन्द्र' शब्द से अभिहित करता है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासक एवं समस्त विश्व में विराजमान है।

आर्य समाज के प्रर्वतक महर्षि दयानन्द सरस्वती वेदों में वर्णित ईश्वर स्वरुप की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान,

न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अनादि, निर्विकार, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।

जिज्ञासु पाठकों, इस प्रकार वेदों में ईश्वर के अद्वितीय जगत्कर्ता, सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान स्वरूप का वर्णन किया गया है किन्तु अब आपके मन में उपनिषद् साहित्य में वर्णित ईश्वर स्वरुप को जानने की जिज्ञासा अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी। प्रिय पाठकों, वेदों के समान उपनिषदों में भी ईश्वर स्वरुप का वर्णन बड़े व्यापक रूप से हुआ है जो इस प्रकार है–

16.4.2 उपनिषदों में वर्णित ईश्वर का स्वरुप

वृहदारण्यक उपनिषद में ईश्वर के वृहद स्वरुप का वर्णन करते हुए कहा गया

ओ३म पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। (वृहद उ0 5/1/1)

वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत भी पूर्ण है, पूर्ण ब्रह्म से यह पूर्ण जगत उदित होता है। इस पूर्ण जगत की पूर्णता को लेकर पूर्ण ब्रह्म ही प्रलय काल में शेष रह जाता है। वह पूर्ण ब्रह्म 'ऊँ' नाम वाला आकाशवत व्यापक और सनातन है।

उपनिषद में ब्रह्मवादिनी गार्गी के ईश्वर स्वरुप सम्बधित प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि वह ब्रह्म अर्थात ईश्वर देशकाल से अतीत है। वह न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न लाल है, न चिकना है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है। वह रस रहित व गन्ध विहीन है। वह आँख व कान रहित है। वह वाणी और मन से रहित है। तेज, प्राण, मुख, मात्राादि से विहीन है। उसके भीतर कुछ नहीं है और न बाहर कुछ है। वह अविनाशी ब्रह्म न कुछ खाता है और न ही उसे कोई खा सकता है।

तैत्तिरीय उपनिषद में उस ईश्वर (ब्रह्म) की सत्ता का प्रतिपादन कुछ प्रकार हुआ है कि वरुण के पुत्र भृगु अपने पिता के पास जाकर बोले कि –हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म ज्ञान की शिक्षा दो। इस प्रश्न पर भृगु ऋषि को उनके पिता ने उत्तर दिया कि जिससे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं, जिसमें जाते हुए प्रलय को प्राप्त होते हैं, उसे विशेष रूप से जानों, वह ब्रह्म परमात्मा अर्थात ईश्वर है।

ईशोपनिषद् कहती है परब्रह्म परमात्मा (ईश्वर) का जो कुछ भी यहाँ है उसमें उसका निवास है। अर्थात वह सर्वव्यापक है। वह ईश्वर स्वयं गति नहीं करता पर सबको गति में लाता है, वह दूर से दूर और पास से पास है। वह सर्वव्यापक होने से प्रत्येक में व्याप्त किन्तु सबसे परे है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा कि वह ईश्वर प्रकाश स्वरूप है, अणु से अणु है, उसी में सब लोक–लोकान्तर और प्राणी स्थित हैं, वह अक्षर ब्रह्म है, प्राणों का प्राण व मनों मा मन है और वाणियों की वाणी है। यह सत्य स्वरूप है अमर है वही ज्ञातवय है। वह परब्रह्म ईश्वर निर्मल, पवित्र, उज्ज्वल ज्योतियों की ज्योति है, जिसे आत्मज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं। वह परमात्मा तेज स्वरूप, सबका कर्ता सबका स्वामी है। उस ईश्वर का कोई गोत्र, जाति, वर्ण नहीं है। उसके आँख, कान नहीं है, उसके हाथ, पैर नहीं है, वह नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अविनाशी है, वह संसार का उत्पादक है, उसे धीर लोग देखते हैं।

कठोपनिषद् में ईश्वर के लिए कहा कि– वह अशरीरी है और सब शरीरों में व्यापक है। वह अस्थिरों में स्थिर है, वह महान और विभु है। वह नित्य पदार्थों से भी नित्य है, चेतनों का चेतन है, एक है, सबको बनाने वाला वही है।

केन उपनिषद् उस ईश्वर लिए कहती है कि वह श्रोत्रा का श्रोत्र, मन का मन, वाणियों की वाणी, प्राणों का प्राण, चक्षुओं का चक्षु है। ऐसे सबके आदि स्रोत परमात्मा को धीर लोग मरने के बाद प्राप्त करके अमर हो जाते हैं।

जैमिनीयोपनिषद् में 'ऊँ' शब्द के द्वारा ईश्वर स्वरुप का निरूपण किया गया है। मुण्डक उपनिषद् तो ईश्वर को ही प्रमुख लक्ष्य बताते हुए कहती है कि ईश्वर का वाचक प्रणव ही मानो धनुष है, यहाँ जीवात्मा ही बाण है और परब्रह्म ईश्वर ही उसके लक्ष्य हैं।

इस प्रकार उपनिषद साहित्य में भी ईश्वर स्वरुप का सविस्तार वर्णन किया गया है किन्तु चूकिं आपके अध्ययन का मुख्य विषय दर्शन शास्त्र है अतः अब दर्शन साहित्य विशेष रुप से योग दर्शन में वर्णित ईश्वर स्वरुप पर विचार करते हैं–

16.4.3 दर्शनों (योग दर्शन) में वर्णित ईश्वर का स्वरुप

प्रिय पाठकों, योगी साधक पुरुष का परम ध्येय ईश्वर साक्षात्कार होता है। ईश्वर के स्वरुप को जानकर उसमे लीन होना (समाधि) योग साधना की उच्च अवस्था है। योग दर्शनकार महर्षि पतंजलि योग दर्शन ग्रन्थ के प्रथम अध्याय (पहले पाद) में ईश्वर के स्वरुप की व्याख्या करते हुए कहते हैं

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविषेश ईश्वरः। (पा0 यो0 सू0 1/24)

अर्थात क्लेश, कर्म, कर्मफलों तथा इनके भोगों के संस्कारों से रहित जीवों से भिन्न स्वभाव वाला चेतन विशेष ईश्वर है।

प्रिय पाठकों, उपरोक्त योगसूत्र में महर्षि पतंजलि पुरुष (मनुष्य) से भिन्न ईश्वर के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सामान्य मनुष्य का जीवन अविद्या, अस्मिता नामक पंच क्लेशों से घिरा रहता है परन्तु वह पुरुष विशेष जो इन क्लेशों से मुक्त रहता है, ईश्वर कहलाता है। मनुष्य शुभ, अशुभ एवं मिश्रित कर्मों में लिप्त रहता है तथा इन कर्मों के परिणाम स्वरुप प्राप्त सुख व दुख नामक फलों का भोग करता है। इसके साथ–साथ कर्मफलों का भोग करने के परिणाम स्वरुप उत्पन्न संस्कारों अर्थात वासनाओं से युक्त रहता है किन्तु वह पुरुष विशेष जो जीवों के इन स्वभावों से परे अर्थात भिन्न है, ईश्वर कहलाता है।

ईश्वर के स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए महर्षि पतंजलि पुनः कहते हैं

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (पा0 यो0 सू0 1/25)

अर्थात ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है।

इस संसार में भिन्न–भिन्न ज्ञान के स्तर के मनुष्य होते हैं, कोई अल्पज्ञानी होता है तो कोई सामान्य ज्ञान रखता है जबकि कोई बहुत ज्ञानी होता है। मनुष्य के ज्ञानों के इस स्तर को सातिशय ज्ञान कहा जाता है किन्तु इस सतिशय ज्ञान से परे वह ईश्वर निरतिशय ज्ञान से युक्त है। सरल शब्दों ईश्वर अनन्त ज्ञान के भण्डार से युक्त है। ईश्वर के ज्ञान का कोई आदि और अन्त नही है, वह सर्वज्ञ अर्थात सब कुछ जानने वाला है। सर्वज्ञता के ज्ञान रखने वाले ईश्वर के स्वरुप की व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि आगे लिखते हैं –

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (पा0 यो0 सू0 1/26)

अर्थात वह ईश्वर भूत भविष्य और वर्तमान में उत्पन्न होने वाले सब गुरुओं का भी गुरु है। पूर्वसूत्र में समझाया गया कि ईश्वर सर्वज्ञ है। इस सूत्र में महर्षि पतंजलि स्पष्ट करते हैं कि वह सर्वज्ञ ईश्वर सब विद्वान ज्ञानीजनों का गुरु है। इस संसार में अनेक प्रकार की विद्याओं एवं ज्ञानों को धारण करने वाले गुरु हैं किन्तु ईश्वर भूत, भविष्य और वर्तमान के सब गुरुओं का भी महान गुरु है। इस महान गुरु ईश्वर की कृपा से ही संसार के सब गुरु ज्ञान प्राप्त करते हैं।

प्रिय विधार्थियों ईश्वर के स्वरुप को समझाने की श्रृखंला ईश्वर के गुणों एवं उसकी महिमा के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त अब यह प्रश्न उपस्थित होना स्वभाविक ही है कि ईश्वर को हम किस नाम से जानें ? ईश्वर का सर्वोत्तम वाचक क्या हो सकता है ? हम ईश्वर को किस नाम से पुकारे ? इस प्रश्न के उत्तर को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि आगे योग सूत्र में लिखते हैं –

तस्य वाचक प्रणवः।। (पा0 यो0 सू0 1/27)

अर्थात उस ईश्वर का बोधक शब्द (नाम) प्रणव **ॐ**) है।

यद्यपि ईश्वर के विशेषणों (विशेषताओं) के आधार पर ईश्वर को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है किन्तु ईश्वर का सबसे प्रमुख वाचक अर्थात नाम **ॐ** है। **ॐ** शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की तीन धातुओं अकार, उकार एवं मकार से होती है। अकार धातु उत्पन्न करने के अर्थ में, उकार धातु चलाने के अर्थ में एवं मकार धातु विनाश के अर्थ में प्रयुक्त होती है अर्थात **ॐ** शब्द अपने अन्दर ईश्वर के तीन मूल गुणों, विशेषताओं एवं कार्यों को समाहित किए होता है। ईश्वर सृष्टि का उत्पत्तिकर्ता, वही पालनकर्ता है तथा वह ईश्वर ही सृष्टि का संहारकर्ता है इसीलिए ईश्वर का सर्वात्तम वाचक **ॐ** है। मनुष्यों को ईश्वर का चिन्तन मनन करते हुए उसकी स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना में लीन रहना चाहिए, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए महर्षि पतंजलि लिखते हैं–

तज्जपस्तदर्थभावनम्।। (पा0 यो0 सू0 1/28)

अर्थात उस ईश्वर के वाचक **ॐ** शब्द का जप और ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए।

जिज्ञासु पाठकों, मनुष्य जिस विषय का चिन्तन एवं मनन करता है, वह उसी के गुणों को धारण करता हुआ उस जैसा ही बन जाता है। योग साधक अष्टांग योग की साधना करते हुए जब अपनी समस्त वृत्तियों को अर्न्तमुखी कर लेता है एवं अपनी समस्त ऊर्जा आराध्य देव ईश्वर को प्राप्त करने में लगाता है तब उसका मूल ध्येय ईश्वर होता है इस अवस्था में वह ईश्वर का मनन चिन्तन उसके प्रमुख वाचक **ॐ** से करता हुआ ईश्वर के अन्यन्त समीप पहुँच जाता है। वह अपने अन्दर ईश्वरीय गुणों को धारण करने लगता है।

आधुनिक भौतिकवादी जीवन में मनुष्य केवल भौतिक पदार्थों एवं विषयों का ही चिन्तन मनन करता है तथा इसके परिणामस्वरुप वह मानसिक तनाव एवं अशान्ति से ग्रस्त हो जाता है जबकि महर्षि पतंजलि ईश्वर के वाचक **ॐ** का जप एवं चिन्तन करने का उपदेश करते हैं जिससे मनुष्य अपने स्वरुप को ईश्वर के साथ जोड लेता है तथा ईश्वर के साथ जुडकर वह परम शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति करता है। इसके साथ–साथ ईश्वर का जप व चिन्तन करने से ईश्वर के गुणों का समावेश उस साधक पुरुष के चरित्र में होने

लगता है। इसके साथ–साथ ईश्वर मनन चिन्तन के प्रभावों को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि लिखते हैं

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।। (पा0 यो0 सू0 1/29)

अर्थात उस ईश्वर प्राणिधान से परमात्मा का साक्षात्कार, जीवात्मा का साक्षात्कार और विघ्नों का अभाव होता है।

ईश्वर का मनन चिन्तन एवं ईश्वर के प्रति सर्मपण भाव अर्थात ईश्वर प्राणिधान का पालन करने से जीवात्मा–परमात्मा के समीप पहुंचकर परमात्मा का साक्षात्कार करता है। परमात्मा का साक्षात्कार होने पर जीवात्मा को आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति होती है एवं आत्मसाक्षात्कार होने पर जीवात्मा के विघ्नों का अभाव अर्थात विनाश होता है।

इस प्रकार योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ईश्वर के स्वरुप को सविस्तार समझाते हैं। प्रिय पाठकों भारतीय समाज में गीता का एक विशिष्ट स्थान है। जीवन मार्ग से विचलित मानव को सन्मार्ग पर लाने में धर्मग्रन्थ गीता एक श्रेष्ट पथ प्रर्दशक की भूमिका वहन करती है। वेद, उपनिषद् एवं दर्शन में वर्णित ईश्वर स्वरुप का अध्ययन करने के उपरान्त अब गीता में वर्णित ईश्वर स्वरुप को जानने की जिज्ञासा निश्चित ही आपके मन में उत्पन्न हुई होगी, अतः अब गीता में वर्णित ईश्वर स्वरुप पर विचार करते हैं–

16.4.3 गीता में वर्णित ईश्वर का स्वरुप

प्रिय पाठकों, गीता योगीराज श्रीकृष्ण के श्रीमुख से स्फूटित ज्ञान है। जिसमें योगीराज श्रीकृष्ण स्थान –स्थान पर ईश्वर की दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हैं। गीता के दसवें अध्याय में ईश्वर स्वरुप पर स्पष्ट प्रकाश डालते हुए कहा गया –

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषांरविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्वास्मि भूतानामस्मि चेतना।।
रूद्राणां शंकरश्वास्मि विन्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्वास्मि मेरूः शिखरिणामहम्। (गीता 10/21–23)

अर्थात अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायु देवताओं में मरीचि नामक देवता और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ। वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मैं मन हूँ, प्राणियों की चेतना अर्थात जीवन शक्ति हूँ। एकादश रूद्रों में स्वयं शंकर का स्वरूप हूँ, यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ, और वसुओं में अग्नि, शिखर वाले पर्वतों में सुमेरू हूँ, शब्दों में ओंकार, यज्ञों में जपयज्ञ, सभी वृक्षों में पीपल, नदियों में गंगा हूँ। हे अर्जुन सृष्टि का आदि, अन्त तथा मध्य मैं ही हूँ। हे अर्जुन मैं दमन करने वालों को दण्ड देने वाला हूँ, जीतने की इच्छा वालों की नीति हूँ, और ज्ञानवालों का तत्वज्ञान मैं ही हूँ।

श्रीकृष्ण कहते है कि मेरी विभूतियों का अंत नहीं है। मैंने अपनी विभूतियों का वर्णन तेरे लिए किया है। इस संसार में जो भी विभूतियुक्त, ऐश्वर्य युक्त, शक्ति से युक्त और कान्तिमान वस्तु है उस प्रत्येक वस्तु में तुम ईश्वर (मेरे) ही तेज की अभिव्यक्ति समझ, क्योकि मैं इस सम्पूर्ण जगत को योग माया से धारण किये हुए हूँ।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य /असत्य**

(क) ईश धातु का अर्थ संहार करना होता है।
(ख) अत्यन्त विशाल सृष्टि की रचना अर्थात उत्पत्ति करने के कारण ईश्वर को विष्णु की संज्ञा दी जाती है।
(ग) **ॐ** शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की दो धातुओं अकार एवं मकार से होती है।
(घ) सामवेद ईश्वर को 'इन्द्र' शब्द से अभिहित करता है।
(ड) ईश्वर प्राणिधान से परमात्मा एवं जीवात्मा का साक्षात्कार और विघ्नों का अभाव होता है।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) क्लेश, कर्म, कर्मफलों तथा इनके भोगों के संस्कारों से रहित जीवों से भिन्न स्वभाव वाला चेतन विशेष .... है।

(ख) यजुर्वेद के अनुसार ईश्वर का आश्रय .... है।

(ग) गीता के अनुसार ईश्वर की विभूतियों का .... नही है।

(घ) ईश्वर का सबसे प्रमुख वाचक अर्थात नाम .... है।

(ड) योगदर्शनकार की मान्यतानुसार ईश्वर .... ज्ञान से युक्त है।

3– एक शब्द में उत्तर दीजिए –

(क) ईश्वर शब्द की मूल धातु क्या है ?
(ख) **ॐ** शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की कितनी धातुओं से होती है ?
(ग) महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर का सर्वोत्तम वाचक क्या है ?
(घ) सामवेद में ईश्वर को किस शब्द से अभिहित किया गया है ?
(ड) महर्षि पतंजलि के अनुसार विघ्नों के अभाव का साधन क्या है ?

4–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) वेदों में ईश्वर का वर्णित स्वरुप है –

(a) सर्वशक्तिमान (b) अल्पज्ञ
(c) दोनों (d) इनमें से कोई नही।

(ख) विद्वानजन एवं योगीजन आनन्द की अनुभूति कैसे करते हैं –

(a) ईश्वर की स्तुति करते हुए (b) ईश्वर की प्रार्थना करते हुए
(c ईश्वर की उपासना करते हुए (d सभी।

(ग) ईश्वर है –

(a) सृष्टि का पालनकर्ता (b) सृष्टि का संहारकर्ता
(c) सृष्टि का उत्पत्तिकर्ता (d) सभी ।

(घ) वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है, पूर्ण ब्रह्म से यह पूर्ण जगत् उदित होता है किस ग्रन्थ में वर्णित कथन है

(a) वेद (b) उपनिषद
(c) दर्शन (d) गीता ।

(ड) महर्षि पतंजलि ईश्वर स्वरुप की व्याख्या योग दर्शन के किस अध्याय (पाद) में करते हैं

(a) प्रथम अध्याय (पाद) में (b) द्वितीय अध्याय (पाद) में

(c) तृतीय अध्याय (पाद) में (d) चतुर्थ अध्याय (पाद) में।

16.5 सारांश–

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको यह स्पष्ट हुआ होगा कि ईश्वर जिसे भगवान, परमात्मा, देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौड, शिव आदि नामों से जाना जाता है ये सभी नाम ईश्वर के विशेषणों को अभिव्यक्त करते हैं। ईश्वर शब्द ईश धातु से उत्पन्न होता है। इस ब्राह्माण्ड को नियंत्रित करने वाली सत्ता अथवा शक्ति के अर्थ के रुप में ईश्वर का वर्णन किया गया है। वास्तव में ईश्वर वह सर्वव्याप्त चेतन सत्ता है जो दिखलाई नही देता है किंतु सभी स्थानों में व्याप्त है। उस ईश्वर की अनुभूति उसके कार्य विशेषों के द्वारा प्रतिक्षण की जा सकती है। योगी ऋषि, मुनि, त्यागी, तपस्वी मनीषि विद्वतजन ज्ञान, दान, तप व यज्ञ आदि श्रेष्ट कर्मों एवं योगसाधना के बल से उस ईश्वर को प्राप्त करते हैं।

इकाई में वेदों, उपनिषदों, दर्शन एवं गीता में वर्णित ईश्वर स्वरुप पर प्रकाश डाला गया है। वेदों में जहा ईश्वर के सच्चिदानन्द, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अनादि, निर्विकार, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता स्वरुप का वर्णन किया गया है तो वही उपनिषद साहित्य में ईश्वर के वृहद स्वरुप अथवा पूर्ण रुप का वर्णन किया गया है। इसके साथ –साथ भिन्न –भिन्न उपनिषद अपनी विशिष्ट भाषा शैली में ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरुप की व्याख्या करते हैं।

योग दर्शनकार महर्षि पतंजलि क्लेश, कर्म, कर्मफलों तथा इनके भोगों के संस्कारों से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर की संज्ञा देते हैं। महर्षि पतंजलि ईश्वर का बोधक नाम प्रणव अर्थात **ॐ** कहते हैं तथा **ॐ** शब्द का जप और ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के चिन्तन का उपदेश करते हैं। दर्शनकार ईश्वर प्राणिधान का फल परमात्मा एवं जीवात्मा साक्षात्कार और विघ्नों के अभाव के रुप में प्रकट करता है। इकाई के अन्त में भारतीय दर्शन के आधारभूत मूल ग्रन्थ गीता में वर्णित ईश्वर स्वरुप पर प्रकाश डाला गया है जिसमें ईश्वर की अनन्त विभूतियों का वर्णन किया गया है।

16.6 पारिभाषिक शब्दावली–

अर्जन	एकत्र, संग्रह, इक्ठ्ठा करना
ताप	कष्ट, पीडा
देदीप्यमान	दिव्य प्रकाश से प्रकाशित
आधिपत्य	प्रभाव, सत्ता
अभिहित	प्रकट करना
ध्येय	लक्ष्य
विघ्न	क्लेश, बाधाएँ, समस्याएँ

16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क. असत्य क. ईश्वर क. ईश

क. c

ख.	असत्य	ख. मोक्षसुखदायक		ख.	तीन
	ख. a				
ग.	असत्य	ग. अंत		ग.	प्रणव
	ग. a				
घ.	सत्य	घ. ऊँ	घ.	इन्द्र	
	घ. d				
ड.	सत्य	ड. निरतिशय		ड.	ईश्वर प्राणिधान
	ड. a				

16.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. यजुर्वेद – स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय अजमेर।
2. संध्या–अग्निहोत्र – डॉ0 दिलीप वेदालंकार, आर्य समाज ग्रेटस ह्यूस्टन, यू0 एस0 ए0।
3. 108 उपनिषद् – आचार्य पं0 श्रीराम शर्मा, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा।
4. सत्यार्थ प्रकाश – स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर नगरे वैदिक यन्त्रालय मुद्रित।
5. इशादि नौ उपनिषद् – व्याख्याकार हरिकृष्णगोयन्दका, गीता प्रेस गोरखपुर।
6. योग दर्शनम् – व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिवाज्रक, आर्यवन रोजड, गुजरात।
7. श्रीमद्भगवद्गीता – गीता प्रेस गोरखपुर।

16.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1 पातंजल योग प्रदीप – स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. योग दर्शन – आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली।
3. भारतीय दर्शन की रुपरेखा –प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली।

16.10 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. ईश्वर के अर्थ को समझाते हुए ईश्वर की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
2. विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित ईश्वर के स्वरुप पर प्रकाश डालिए।
3. योग दर्शन के अनुसार ईश्वर के स्वरुप की सविस्तार व्याख्या किजिए।
4. ईश्वर पर सविस्तार निबन्ध लिखिए।

इकाई 17 प्रकृति एवं पुरुष की अवधारणा एवं स्वरुप

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 प्रकृति की अवधारणा
17.4 प्रकृति का स्वरुप
17.4.1 वेदों में वर्णित प्रकृति का स्वरुप
17.4.2 उपनिषदों में वर्णित प्रकृति का स्वरुप
17.4.3 दर्शन शास्त्र में वर्णित प्रकृति का स्वरुप
17.4.4 गीता में वर्णित प्रकृति का स्वरुप
17.5 पुरुष की अवधारणा
17.6 पुरुष की स्वरुप
17.6.1 वेद में वर्णित पुरुष का स्वरुप
17.6.2 उपनिषद् में वर्णित पुरुष का स्वरुप
17.6.3 आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित पुरुष का स्वरुप
17.6.4 दर्शन शास्त्र में वर्णित पुरुष का स्वरुप
17.6.5 गीता में वर्णित पुरुष का स्वरुप
17.7 सारांश
17.8 शब्दावली
17.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
17.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
17.11 सहायक पाठ्य सामग्री
17.12 निबन्धात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, मनुष्य जैसे ही इस संसार में आकर आंखें खोलता है वह अपने चारों ओर प्रकृति को देखता है। जन्म के साथ ही मनुष्य का सम्बन्ध प्रकृति के साथ जुड जाता है और जीवन पर्यन्त जुडा रहता है। जैसे ही उसकी बुद्धि का विस्तार होता है उसके अन्दर प्रकृति और पुरुष के स्वरुप को जानने की इच्छा बलवती होती जाती है। आदिकाल के ऋषि, महर्षि एवं योगीजन से लेकर आधुनिक काल के मनीषी, विद्वान एवं वैज्ञानिकों तक ने इन तत्वों पर गहन अध्ययन एवं शोध अनुसंधान किया है। भारतीय साहित्य में प्रकृति

और पुरुष के स्वरुप पर अत्यन्त गहन विचार मंथन किया गया है। वेद की ऋचाएं, उपनिषद् के मंत्र, गीता के श्लोक, दर्शन साहित्य के सूत्र एवं वैज्ञानिकों के शोध अनुसंधान इन तत्वों की सविस्तार व्याख्या करते हुए जिज्ञासुओं की जिज्ञासाग्नि को शान्त करते हैं। चूकिं ये प्रकृति और पुरुष योगी साधक पुरुष के लिए भी जानने एवं समझने योग्य है इसीलिए योग दर्शनकार महर्षि पतंजलि भी इन तत्वों पर प्रकाश डालते है।

पूर्व की इकाई में आपने ईश्वर की अवधारणा एवं स्वरुप का ज्ञान प्राप्त किया अब ईश्वर के स्वरुप को जानने के उपरान्त प्रकृति एवं पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा भी अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी। योग मार्ग की साधना के पथ पर आगे बढने के लिए योगी पुरुष को प्रकृति एवं पुरुष के स्वरुप का ज्ञान होना नितांत आवश्यक है क्योकि यह प्रकृति ही भोग एवं अपर्वग का साधन है। जब तक मनुष्य प्रकृति एवं संसारिक पदार्थो में लिप्त रहता है, तब तक वह ईश्वर उपासना को सिद्ध नही कर पाता है। योगी साधक प्रकृति के इस स्वरुप को जानकर स्वयं को प्रकृति से हटाकर ईश्वर के साथ जोडता है लेकिन जब तक साधक को प्रकृति और पुरुष के स्वरुप का भलि भंति ज्ञान नही होता तब तक प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद करना संभव नही है इसीलिए योग दर्शनकार महर्षि पतंजलि योग सूत्रों के माध्यम से प्रकृति एवं पुरुष के स्वरुप को स्पष्ट करते हैं। प्रिय पाठकों चूंकि यह योग साधना से जुडा अत्यन्त गंभीर एवं महत्वपूर्ण विषय है अतः आपके मन में भी सर्वत्र व्याप्त प्रकृति एवं पुरुष के स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी। प्रस्तुत इकाई में आप विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित प्रकृति एवं पुरुष की अवधारणा एवं स्वरुप का सविस्तार अध्ययन करेगें।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- प्रकृति की अवधारणा का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।
- पुरुष की अवधारणा का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेगें।
- प्रकृति के स्वरुप को स्पष्ट करने में सक्षम हो सकेगें।
- पुरुष के स्वरुप का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकेगें।
- प्रकृति एवं पुरुष के स्वरुप के महत्व एवं उद्देश्य को समझाने में सक्षम हो सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गये प्रश्नों के उत्तर दे सकेगें।

17.3 प्रकृति की अवधारणा

प्रकृति की अवधारणा अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। प्रकृति को सृष्टि, भूमण्डल, भूलोक, द्युलोक ,धरती एवं संसार आदि नामों से जाना जाता है। इन विशेषणों से प्रकृति के अर्थ को धारण किया जाता है।

प्रकृति सत्व, रजस और तमस् इन तीन गुणों से युक्त है। इन तीन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति और इनकी विषम अवस्था ही विकृति है। समस्त भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति प्रकृति से ही होती है तथा सभी भौतिक पदार्थ इन तीन गुणों से युक्त होते हैं। यह संसार प्रकृति का ही परिणाम मात्र है जिसके स्वरुप की व्याख्या सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद और परिणामवाद के सिद्धान्तों के माध्यम से की गयी है।

प्रकृति जड है और पुरुष चेतन है। चेतन पुरुष अपना बिम्ब प्रकृति में देखकर स्वयं को कर्ता मानकर प्रकृति के साथ अज्ञानजनित बंधन में बंध जाता है। इसी बंधन से मोह, लोभ, क्रोध एवं दुख की उत्पत्ति होती है। किन्तु जिस समय पुरुष को यह ज्ञान होता है कि वह कर्ता नही है तब उसका अज्ञानता का आवरण दूर हो जाता है तथा कर्तापन के भाव का अभाव होने पर उसका लोभ व मोह का आवरण हट जाता है तथा वह कर्मबन्धन से मुक्त होकर अपने केवल स्वरुप को जानकर परमात्मा के स्वरुप में स्थित हो जाता है, यही अवस्था कैवल्य अथवा मोक्ष अथवा मुक्ति कहलाता है। अब प्रकृति की अवधारणा का ज्ञान प्राप्त करने पर प्रकृति के स्वरुप को जानने की जिज्ञासा आपके मन में अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी, अतः अब विभिन्न साहित्यिक ग्रन्थों जैसे वेदों, उपनिषदों, दर्शनों एवं गीता में वर्णित प्रकृति के स्वरुप का अध्ययन करेगें।

17.4 प्रकृति का स्वरुप

प्रकृति पुरुष के दर्शन के लिए स्वंम को प्रकट करती है और पुरुष को मोक्ष प्राप्त होने पर स्वंम को हटा लेती है। प्रकृति ओर पुरुष के मिलन को सर्ग की संज्ञा दी जाती है। सर्ग की अवस्था का परिणाम सम्पूर्ण संसार की अभिव्यक्ति के रुप में प्रकट होता है। विभिन्न शास्त्रों में प्रकृति के मूल स्वरुप का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

17.4.1 वेद में वर्णित प्रकृति का स्वरुप

वेद में प्रकृति की रचना एवं स्वरुप पर प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ अर्थात परमात्मा को इस विश्व (प्रकृति) का सृष्टा अर्थात रचियता कहा गया है। ऋग्वेद की ऋचा में सृष्टिकर्ता अर्थात ईश्वर को तक्षा अर्थात बढई के रुप में स्मरण करते हुए कहा गया है कि जैसे कोई बढई काठ के उपकरण से सजाकर भवन का निर्माण करता है वैसे ही प्रजापति परमात्मा ने विश्वकर्मा के रुप में इस सृष्टि (प्रकृति) का निर्माण किया।

ओ३म सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।।

(ऋग्वेद 10/190/03)

अर्थात सारे जगत को धारण करने वाले ईश्वर ने सूर्य और चन्द्र को पूर्वकल्प के समान रचा। प्रकाशयुक्त, प्रकाशरहित लोक तथा अन्तरिक्ष को भी रचा।

यजुर्वेद में भी ईश्वर को जगत अर्थात प्रकृति का रचियता मानते हुए ईश्वर के हिरण्यगर्भ स्वरुप का वर्णन इस प्रकार किया है

ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(यजु0 अ0 13/04)

अर्थात स्वप्रकाशरुप प्रभु उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत का एक ही स्वामी है। वह जगत से पूर्व वर्तमान था। वही भूमि सूर्यादि को धारण कर रहा है। हम लोग उसी परमात्मा के लिए यज्ञ करें।वह परमात्मा इस प्रकृति की रचना कैसे करता है, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि

ओ३म् यः प्रणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(यजु0 अ0 32/06)

अर्थात जो प्राणों वाले और अप्राणी रुप जगत का अपनी अनन्त महिमा से एक ही विराजमान राजा है, जो मनुष्य और गौ आदि प्राणियों का स्वामी है उस परमात्मा की भक्ति करो। जिस परमात्मा ने अपनी सामर्थ्य से सूर्य आदि तेजोमय और भूमि आदि को धारण किया है। जिस जगदीश्वर ने मोक्ष को धारण किया है और जो आकाश में सब लोकलोकान्तरों का निर्माण करता है, हम लोग उसी परमात्मा की भक्ति करें ।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में ईश्वर को प्रकृति का उत्पत्तिकर्ता, पालनकर्ता एवं सहांरकर्ता कहा गया है। वह परमात्मा प्रकृति को उत्पन्न करने के उपरान्त उसका संचालन करता है एवं प्रलय काल में प्रकृति का संहार अर्थात विनाश करता है।

17.4.2 उपनिषद में वर्णित प्रकृति का स्वरुप

उपनिषद साहित्य में जगत अर्थात प्रकृति के स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हुए वेदों के समान ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना गया। उपनिषद दर्शन के अनुसार जगत अर्थात प्रकृति ब्रह्म से उत्पन्न होती है। ब्रह्म ही इस प्रकृति का उत्पत्तिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थों में ईश्वर उस प्रकार उपस्थित रहता है जिस प्रकार दूध में घी और तिलों में तेल व्याप्त रहता है। वृहदराण्यक उपनिषद में कहा गया कि ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है और उसी में व्याप्त हो जाता है। देश, काल और प्रकृति आदि ब्रह्म के आवरण है क्योंकि सभी में ब्रह्म व्याप्त है। जिस प्रकार नमक पानी में घुलकर सारे पानी को व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार ब्रह्म पदार्थों के अन्दर व्याप्त हो जाता है।

ध्यान बिन्दु उपनिषद में सृष्टि के स्वरुप को समझाते हुए कहा गया

वृक्षं तु विद्याच्छाया सकलं तस्यैव निष्कला।
सकले निष्कले भावे सर्वात्रात्मा व्यवस्थितः।।

(ध्यान बिन्दु उप0 01/0)

अर्थात वृक्ष के छोटे बीज में से ही तना, पत्तियां, फूल, फल, छाया सभी विकसित होते हैं। बीज ही विकास पाकर बडा वृक्ष खडा होता है उसकी छाया चारों और फैलती है। इस प्रकार बीज ही पूर्ण व्यवस्थित सर्वात्मा है।

उपनिषदकार सम्पूर्ण प्रकृति में ईश्वर की सर्वव्यापकता की ओर संकेत करता हुआ पुनः कहता है कि जिस प्रकार पुष्पों में सुगन्ध, दूध में घृत, तिल के दानों में तेल और पहाडों में सोना छिपा रहता है, उसका प्रत्यक्ष नही होता किन्तु उसके स्वरुप की अनुभूति अवश्य होती है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति के कण –कण में परब्रह्म अर्थात ईश्वर की शक्तियां समायी रहती है। इस प्रकार उपनिषदकार की मान्यता है कि यह सम्पूर्ण विश्व अर्थात प्रकृति ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है।

17.4.3 दर्शन शास्त्र में वर्णित प्रकृति का स्वरुप

जिज्ञासु पाठकों, अब आपके मन में यह प्रश्न उपस्थित होना भी स्वभाविक ही है कि जहां वेद एवं उपनिषद शास्त्रों में प्रकृति के स्वरुप की विस्तार पूर्वक व्यख्या की गयी है तो क्या दर्शन साहित्य में भी प्रकृति के स्वरुप पर प्रकाश डाला गया है अतः अब हम दर्शन शास्त्र में वर्णित प्रकृति के स्वरुप पर दृष्टिपात करते हैं। इस विषय का प्रारम्भ हम अपने मूल पाठ्यग्रन्थ योग दर्शन से करते है।

(क) योग दर्शन में वर्णित प्रकृति का स्वरुप

प्रिय पाठकों योगसूत्र में महर्षि पतंजलि पुरुष अर्थात जीवात्मा को दृष्टा एवं प्रकृति को दृश्य की संज्ञा देते हैं। जिस प्रकार चुम्बक में लोहे को अपनी ओर आकृर्षित करने का गुण होता है, उसी प्रकार दृश्य रुपी प्रकृति दृष्टा रुपी जीवात्मा को अपनी ओर आकृर्षित करती है। जिससे दृश्टा दृष्य की ओर आकर्षित होकर उसके साथ संयुक्त हो जाता है। यद्यपि दृश्य अर्थात प्रकृति भोग और अपवर्ग दोनों का ही साधन है एक ओर जहा जीवात्मा प्रकृति का भोग करता है तो वहीं दूसरी ओर प्रकृति मोक्ष अर्थात अपवर्ग का साधन भी है। अज्ञानतापूर्वक जब जीवात्मा प्रकृति के साथ मैं ओर मेरा का सम्बन्ध स्थापित करता है तब यह अवस्था भोग की अवस्था कहलाती है किन्तु जब जीवात्मा को ज्ञान होता है कि उसका स्वरुप प्रकृति से भिन्न है तब वह स्वमं के सम्बन्ध को प्रकृति से हटा कर अपना सम्बन्ध परमात्मा के साथ जोड लेता है। इस प्रकार ऐसा ज्ञानी पुरुष अपवर्ग अर्थात मोक्ष को प्राप्त करता है।

योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को दुख का कारण बतलाते हुए कहते हैं

द्रष्टदृश्ययोः संयोगो हेय हेतु।। (पा0 यो0 सू0 2/17)

अर्थात जीवात्मा और सत्व, रज, तम तथा उनसे उत्पन्न बुद्धि आदि समस्त पदार्थों का जो अज्ञानतापूर्वक सम्बन्ध है, वह दुख का कारण है।

दर्शनकार महर्षि पतंजलि प्रकृति के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए अगले योगसूत्र में कहते हैं

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।।

(पा0 यो0 सू0 2/18)

अर्थात प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील, भूत और इन्द्रिय स्वरुप वाला जो पुरुष के भोग और अपवर्ग रुप प्रयोजन को सिद्ध करने वाला है, वह दृश्य अथार्त प्रकृति है।

इस योग सूत्र में प्रकृति में स्थित तीन गुणों – सत्व गुण, रजस गुण एवं तामसिक गुण के आधार पर प्रकृति के स्वरुप की व्याख्या की गयी है। प्रकृति में सत्व गुण की उपस्थिति के कारण प्रकृति प्रकाशित अर्थात प्रकाशयुक्त रहती है, राजसिक गुण के कारण प्रकृति क्रियावान रहती है तथा तामसिक गुण की उपस्थिति के कारण प्रकृति दृढ बनी रहती है। इसके साथ साथ यह प्रकृति भूतों (पंचमहाभूतों) को धारण करती है, इन्द्रियों के अर्थों– शब्द, र्स्पश, रुप, रस व गन्ध से युक्त है ऐसी पुरुष अर्थात जीवात्मा के भोग एवं अपर्वग के प्रयोजन को सिद्ध करने वाली समुदाय विशेष **प्रकृति** कहलाती है।

इस प्रकृति में क्या –क्या तत्व हैं, कितने प्रकार के हैं और किस रुप में हैं इसे स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं

विशेषाविशेषलिङगमात्रालिङानि गुणपर्वाणि।।

(पा0 यो0 सू0 2/18)

अर्थात विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग ये गुणों के चार विभाग हैं।

इस प्रकार योग दर्शन में प्रकृति के त्रिगुणात्मक स्वरुप को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि प्रकृति एवं पुरुष का संयोग हेय अर्थात दुख का कारण है किन्तु प्रकृति ही पुरुष के भोग एवं अपवर्ग का साधन है। पुरुष प्रकृति का भोग भी कर सकता है तथा प्रकृति के माध्यम से अपवर्ग अथार्त मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है।

(ख) सांख्य दर्शन में वर्णित प्रकृति का स्वरुप

सांख्य दर्शनकार आचार्य कपिल प्रकृति को समस्त संसृति की जनयित्री(Creator) ,सकल कर्मों की उत्पादयित्रि (Producer) सकल संसारिक श्रृंखलाओं की प्रसवित्री कहते हैं। यह प्रकृति अपने जडत्व के कारण अज्ञान या अविद्या रुप को धारण करती हुई माया कहलाती है। इस प्रकृति में समस्त कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति है इसीलिए प्रकृति का एक नाम शक्ति भी है। यह समस्त जड़ जगत की जननी है, सारी दुनिया इसी से प्रसूत है इसीलिए यह प्रसवधर्मिणी है। यह त्रिगुणात्मक है, इसमें सत्व, रज और तम नामक त्रिगुणों का समाहार है। प्रकृति के ये तीन गुण रस्सी के रेशे की तरह मिलकर पुरुष के लिए बन्धन का कार्य करते हैं। प्रकृति के इन तीन गुणों के प्रतीक, प्रभाव तथा कार्य इस प्रकार हैं

सतोगुण : सतोगुण शुद्धता, शुचिता व स्वच्छता का प्रतीक है। इसका वर्ण श्वेत है। इसका गुण लघुता है जिसके प्रभाव से वस्तुओं में लघुता आती है तथा वे उर्ध्वगमन करती है। मानव में इस गुण के प्रभाव से सरलता, शुचिता, स्नेह, श्रृद्धा, सन्तोष, दया, दान, ज्ञान, विवेक व आनन्द के भावों का विस्तार होता है।

रजोगुण : रजोगुण उत्तेजकता एवं चंचलता का प्रतीक है। यह रक्तवर्णीय अर्थात लाल रंग का है। इसका गुण चंचलता है जिसके प्रभाव से वस्तुओं में चंचलता, गतिशीलता व सक्रियता आती है। इस गुण के कारण इन्द्रियां तेजी से विषयों की ओर दौडने लगती है। यह दुख का उत्पादक है। मानव में इस गुण के प्रभाव से मान, मद, मोह, द्वेष, क्रोध व अहंकार के भावों का विस्तार होता है।

तमोगुण : तमोगुण मलीमस, अज्ञान व अन्धकार का प्रतीक है। यह कृष्णवर्णीय अर्थात काले रंग का है। इसका गुण गुरुता, आच्छादन व अवरोध उत्पन्न करना है। तमोगुण का कार्य विभिन्न कार्यों एवं क्रियाओं में बाधा उत्पन्न करना है। इस गुण के प्रभाव से निष्क्रियता उत्पन्न होती है। यह अज्ञानता का सूचक और मोह का जनक है। मानव में इस गुण के प्रभाव से निन्द्रा, तन्द्रा, प्रमाद, आलस्य, मूर्च्छा, अकर्मण्यता व उदासीनता के भावों का विस्तार होता है।

प्रकृति के तीन पदार्थ अमृत, विष और मदिरा क्रमशः सत्व, रज और तम इन तीन गुणों को प्रकट करते हैं। जिनका प्रभाव इस प्रकार प्रकृति के इन तीन गुणों का प्रभाव मनुष्य के भाव–स्वभाव पर पडता है। प्रिय पाठकों सांख्य दर्शनकार महर्षि कपिल प्रकृति से सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष की सांनिध्यि से मह तत्व अर्थात बुद्धि की उत्पत्ति होती है। मह तत्व से चित्त अर्थात मन की उत्पत्ति होती है, मन से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से पंच तन्मात्राएं अथवा सुक्ष्मभूत (शब्द, र्स्पश, रुप, रस और गन्ध) उत्पन्न होते हैं। पंच तन्मात्राओं से पंच ज्ञानेन्द्रियां (कान, त्वचा, आंख, जिह्वा और नासिका), पंच कर्मेन्द्रियो (दो हाथ, दो पैर और उपस्थ) व पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में कुल पच्चीस तत्वों का वर्णन किया गया है। योग दर्शनकार महर्षि पतंजलि इन पच्चीस तत्वों में एक तत्व जीवात्मा को और जोडते हुए कुल छब्बीस तत्वों को स्वीकार करते हैं। इन तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर योग साधक मोक्ष अर्थात कैवल्य को प्राप्त करता है।

17.4.4 गीता में वर्णित प्रकृति का स्वरुप

गीता में योगीराज श्रीकृष्ण प्रकृति के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहते हैं

उर्ध्वमूलमधः शाखमश्रवत्थं प्रारहुव्ययम्।

छन्दंसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। (गीता 15/01)

अर्थात एक शाश्वत बरगद वृक्ष है जिसकी जडे ऊपर की ओर तथा शाखाएं नीचे की ओर लटक रही हैं। इसकी पत्तियां वैदिक स्त्रोत हैं, जो इस वृक्ष को जानता है वह वेदों का ज्ञाता अर्थात ज्ञानी है।इस श्लोक में प्रकृति के वृहद एवं विलक्षण स्वरुप की व्याख्या करते हुए प्रकृति को एक ऐसे बरगद वृक्ष के समान कहा गया है जिसकी जडें ऊपर की ओर अर्थात परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाली है तथा जिसकी शाखाएं नीचे की ओर अर्थात जीवों से सम्बन्ध रखने वाली है। सामान्यता संसार के समस्त जीव इस बरगद रुपी वृक्ष की शाखाओं पर घूमते रहते है किन्तु वह जीव अथवा पुरुष जो इस वृक्ष के स्वरुप को जान लेता है या समझ जाता है वही सच्चा ज्ञानी है।

प्रिय पाठकों, प्रकृति के स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त अब आपके मन में पुरुष का ज्ञान अर्थात पुरुष की अवधारणा एवं स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा भी अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी। अतः अब पुरुष की अवधारणा एवं स्वरुप पर विचार करते हैं–

17.5 पुरुष की अवधारणा

प्रिय पाठकों, मैं कौन हूॅ ? कहां से आया हूॅ ? मेरा मूल उद्देश्य क्या है ? ये ऐसे प्रश्न है जो प्रत्येक विद्वान पुरुष के मन मस्तिष्क में स्वभाविक रुप से ही उत्पन्न होते हैं। मैं को जानने और समझाने के लिए मनुष्य प्राचीन काल से प्रयत्नशील रहा है। इस मैं को शास्त्रीय भाषा में पुरुष शब्द से वर्णित किया गया है जिस पर वेद, उपनिषद एवं दर्शन साहित्य में सविस्तार विचार मंथन किया गया है। यद्यपि सामान्य लोक व्यवहार में पुरुष शब्द का प्रयोग लिंग निर्धारण के लिए किया जाता है किन्तु वास्तव में पुरुष शब्द मात्र लिंगवाचक शब्द नही है अपितु पुरुष शब्द एक गूढ अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द है जिसे साहित्य में अनेंक रुपों व अर्थों में किया प्रयोग किया गया है। पुरुष शब्द का प्रधान अर्थ जीवात्मा से लिया जाता है। इस लोक में विभिन्न शरीरों को धारण करने वाली जीवात्माओं को पुरुष की संज्ञा दी जाती है। इसके साथ–साथ वैदिक साहित्य में कुछ स्थानों पर ईश्वर के लिए भी पुरुष शब्द प्रयोग किया गया है तथा वहा पर ईश्वर को परम पुरुष शब्द से सम्बोधित किया गया है।

पुरुष वह सुक्ष्म तत्व है जिसका आंखों से प्रत्यक्ष नही किया जा सकता, इन्द्रियों से ग्रहण नही किया जा सकता किन्तु सम्पूर्ण सृष्टि में इसकी सत्ता की अनुभूति अवश्य की जा सकती है। जिस प्रकार विधुत ऊर्जा को देखा नही जा सकता बल्कि उसके कार्यो को देखकर उसे अनुभव किया जा सकता है, इसी प्रकार पुरुष की चेतना को उसके कार्यो के आधार पर अनुभव किया जा सकता है। पुरुष अर्थात आत्मा चेतन है, क्रियावान है किन्तु चेतन और क्रियावान होने पर भी जब तक यह पुरुष शरीर के साथ संयुक्त नही होता तब तक यह कुछ भी करने में सार्मथ्यवान नही है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार एक ज्ञानी पुरुष को अपने ज्ञान का प्रकाश करने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यक्ता पडती है और बाह्य साधनों के अभाव में वह अपने ज्ञान को प्रकट नही कर पाता, ठीक इसी प्रकार चेतन पुरुष को अपनी चेतना का प्रकाश करने के लिए शरीर रुपी बाहय उपकरण की आवश्यक्ता पडती है। पुरुष की चेतना के कारण जड शरीर चेतन सा प्रतीक होता है और तब तक चेतन बना रहता है जब तक शरीर में चेतन पुरुष अर्थात आत्मा का वास रहता है। जब पुरुष का शरीर से वियोग हो जाता है तब वह जड शरीर चेनताहीन अर्थात शव में परिवर्तित हो जाता है। पुरुष का शरीर से वियोग ही मृत्यु कहलाती है। इस प्रकार पुरुष शब्द का मूल अर्थ

जीवात्मा से होता है। पुरुष शब्द के अर्थ को जानने के बाद अब हम पुरुष के स्वरुप पर विचार करते हैं।

17.6 पुरुष का स्वरुप

पुरुष के स्वरुप की व्याख्या भिन्न भिन्न ग्रन्थों में भिन्न भिन्न रुपों में की गयी है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर सृष्टि के आदि ग्रन्थ वेद से लेकर आधुनिक विज्ञान तक अनेक प्रकार के प्रमाण, टीकाएं एवं व्याख्याएं प्राप्त होती है। पुरुष के स्वरुप को भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से इन ग्रन्थों में समझाया गया है। यहां पर हम विषय का प्रारम्भ वेद की ऋचाओं से करते है।

17.6.1 वेद में वर्णित पुरुष का स्वरुप

ऋग्वेद के इस मंत्र में ब्रह्म (ईश्वर), जीव (पुरुष) एवं प्रकृति (संसार) के स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वात्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

(ऋग्वेद 01/164/10)

अर्थात ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालन आदि गुणों से सदृश व्याप्य–व्यापक भाव से संयुक्त परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि है और वैसा ही अनादि मूल रुप कारण और शाखारुप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न–भिन्न हो जाता है।
ऊपर वर्णित तीन तत्वों में प्रथम चेतन तत्व परमात्मा अर्थात ईश्वर है जो सर्वत्र प्रकाशमान है एवं पाप व पुण्य रुप फलों से परे हैं, इसके साथ सखा रुप में रहने वाला दूसरा तत्व जीव अर्थात पुरुष है जो वृक्षरुप संसार (प्रकृति) में पाप एवं पुण्यरुप फलों को भोगता है। तीसरा अनादि तत्व प्रकृति अर्थात संसार है।

17.6.2 उपनिषद में वर्णित पुरुष का स्वरुप

उपनिषद् साहित्य में पुरुष के स्वरुप पर सविस्तार चिन्तन मनन किया गया है। कठोपनिषद में यम और नचिकेता संवाद का प्रमुख विषय पुरुष के स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करना रहा है। यम से प्राप्त तीन वरों में तृतीय वर के रुप में बालक नचिकेता यम से आत्मज्ञान (आत्मा के स्वरुप) को जानने की जिज्ञासा व्यक्त करता है। जिस पर यम नचिकेता को समझाते हुए कहते हैं–

न जायते म्रियते वा विपश्चि न्यायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

(कठो0 उप0 1/2/18)

अर्थात नित्य ज्ञान स्वरुप आत्मा न तो जन्मता है और न ही मरता है। यह न तो स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है और न इससे कोई होता है अर्थात यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत (सदा एक रस रहने वाला) पुरातन अर्थात क्षय और वृद्धि से रहित है। शरीर के नाश किए जाने पर भी इसका नाश नही किया जा सकता।

पुरुष के स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए ध्यान बिन्दु उपनिषद् में कहा है

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम्।
अऽगुंष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम्।।

(ध्यान बिन्दु उप0 3/1)

अर्थात हृदय कमल की खिली हुई पंखरियों के बीच में स्थिर चमकदार जलती हुई दीपशिखा, आभा सदृश इस ओंकार रुप निश्चल मूर्ति को, जिसका आकार एक अंगुल मात्र है, अचल है उस ईश्वर के ओंकार रुप आत्मा का ध्यान करो, स्मरण करो।

इस प्रकार उपनिषद साहित्य में पुरुष अर्थात आत्मा को ईश्वर के रुप में अभिव्यक्त किया गया तथा इसके अजर, अमर, नित्य व पुरातन स्वरुप का वर्णन करते हुए कहा गया शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नही होता अर्थात शरीर के मरने पर भी पुरुष नही मरता अपितु यह सदा बने रहने वाला है।

17.6.3 आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित पुरुष का स्वरुप– आयुर्वेद शास्त्र में विभिन्न स्थानों पर पुरुष के स्वरुप पर चिन्तन मनन किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में मुख्य रुप से चिकित्सकीय पुरुष पर प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में पुरुष शब्द का प्रयोग निम्न तीन अर्थों में किया गया है–

(क) पुरुष शब्द से कई स्थानों पर परमात्मा का ग्रहण किया गया है तथा इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए परम पुरुष शब्द का प्रयोग किया गया हैं यही परम पुरुष संसार को उत्पन्न करने वाला, नियंत्रण करने वाला तथा संहार करने वाला है। आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित इस पुरुष को वेद में साक्षी, चेता, निगुण आदि विशेषणों से पुकारा गया है।

(ख) पुरुष शब्द से जीवात्मा का ग्रहण भी किया जाता है। यह पुरुष चेतनास्वरुप अर्थात चैतन्य और सदा बने रहने वाला अर्थात नित्य है। यह पुरुष कर्मो को करने वाला कर्ता और किए गये कर्मो के फलों को भोगने वाला भोक्ता है। यह अपने शुभ व अशुभ कर्मो के परिणामों को भोगने के लिए असंख्य उच्च और निम्न यौनियों में जन्म लेता है और जन्म–मरण के चक्र में घूमता रहता है। इस पुरुष की यह गति प्रलय प्रर्यन्त अथवा मोक्ष प्रर्यन्त चलती रहती है।

(ग) पुरुष शब्द से जीवात्मा युक्त शरीर का ग्रहण भी किया जाता है। शरीर से युक्त होकर ही यह जीवात्मा कार्यों को करने में सक्ष्म होता है। शरीर के अभाव में यह ना तो किसी कार्य को करने में सक्ष्म है तथा न ही फलों का भोग कर सकता है। प्रकृति में शरीर और जीवात्मा युक्त इसी पुरुष की प्रधानता सर्वत्र दिखलाई पडती है। आयुर्वेद शास्त्र भी इसी पुरुष को प्रधानता देता हुआ कहता है कि अजर, अमर व अत्यन्त सुक्ष्म होने के कारण जीवात्मा की चिकित्सा का कोई औचित्य ही नही है जबकि पंचभूतों से उत्पन्न जड शरीर मात्र की चिकित्सा भी नही की जा सकती क्योंकि जीवात्मा के निकल जाने पर जब यह शरीर निर्जीव हो जाता है तब इसकी कोई चिकित्सा संभव नही होती अतः जीवात्मायुक्त शरीर ही चिकित्सकीय पुरुष है।

17.6.4 दर्शन शास्त्र में वर्णित पुरुष का स्वरुप

जिज्ञासु पाठकों, योग दर्शन में पुरुष के स्वरुप को समझाते हुए योगदर्शकार महर्षि पतंजलि कहते हैं

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययनुपश्य ।।

(पा0 यो0 सू0 2/20)

अर्थात प्राकृतिक पदार्थों के सम्मिश्रण तथा अज्ञान, अधर्म, विकारादि दोषों से रहित होता हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला चेतन पदार्थ जीवात्मा है।इस योग सूत्र में पुरुष के स्वरुप का वर्णन किया गया है। योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि पुरुष को प्रकृति

एवं प्राकृतिक पदार्थों से भिन्न अर्थात अलग मानते हुए कहते है कि अज्ञान और अधर्म आदि दोषों से रहित हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार प्रकृति को देखने वाला चेतन पदार्थ जीवात्मा है। जिसके भोग और अपवर्ग के लिए प्रकृति है।

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा।।

(पा0 यो0 सू0 2/21)

अर्थात उस दृष्टा (जीवात्मा) के भोग और अपवर्ग के लिये दृश्य (प्रकृति) का स्वरुप हैं।

किन्तु वह पुरुष (योगसाधक) जो साधना के द्वारा ईश्वर साक्षात्कार तक पहुंचकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है, ऐसे साधक के लिए यह प्रकृति प्रयोजनहीन हो जाती है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि पतंजलि अगले योगसूत्र में कहते हैं

कृतार्थम्प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।।

(पा0 यो0 सू0 2/22)

अर्थात कतार्थ जीवात्माओं के लिए नष्ट हुआ जैसा भी दृश्य (प्रकृति) नष्ट नही होता, अन्य अकतार्थ जीवात्माओं के लिए सामान्य रुप से भोग और अपवर्ग की सिद्धी कराने वाला होता है।

दर्शनकार का आशय यह है कि जो पुरुष अर्थात जीवात्माएं मोक्षसुख को प्राप्त हो चुकी होती है उनके लिए यह प्रकृति प्रयोजनहीन हो जाती है किन्तु ऐसे पुरुष जिन्हे अभी मोक्षप्रप्ति नही हुई है उनके भोग और अपवर्ग प्रयोजन की सिद्धी के लिए प्रकृति का अस्तित्व बना रहता है।इस प्रकार दर्शन शास्त्र में पुरुष के स्वरुप को जानने के उपरान्त अब गीता में वर्णित पुरुष के स्वरुप पर विचार करते है।

17.6.5 गीता में वर्णित पुरुष का स्वरुप–योगीराज श्रीकृष्ण पुरुष अर्थात जीवात्मा के स्वरुप का वर्णन करते हुए गीता में द्वितीय अध्याय कहते हैं कि यह आत्मा अजर अमर है यह आत्मा न तो किसी काल में जन्म लेती है, न मरती है, यह अजन्मा है, नित्य व पुरातन है। यह जीवात्मा नाशरहित, नित्यस्वरूप, अप्रमेय है। योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।।

(गीता 2/22–23)

अर्थात जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर व्यक्ति नवीन वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण करती है। इस अजर–अमर जीवात्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, हवा सुखा नहीं सकती तथा पानी गीला नहीं कर सकता है अतः इसके लिए शोक करना उचित नहीं है।

इस प्रकार गीता में पुरुष के अजर, अमर, नित्य, पवित्र, शाश्वत स्वरुप का वर्णन किया गया है। अज्ञानता के कारण मनुष्य प्रकृति एवं पुरुष के स्वरुप को भली भांति समझ नही पाता है और इस कारण वह प्रकृति के साथ अज्ञानजनित बंधन में फॅस जाता है। इस अज्ञान जनित बंधन में फॅसा मनुष्य अपने मानव जीवन के मूल लक्ष्य अर्थात मोक्ष से दूर होता चला जाता है। किन्तु जब ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है तब वह स्वंम अर्थात पुरुष और प्रकृति के स्वरुप को समझकर स्वंम को प्रकृति से भिन्न पाता है। इस अवस्था

में वह प्रकृति से पृथक होकर अपना सम्बन्ध परमात्मा से स्थापित करने में सक्ष्म होता है, जिसके परिणाम स्वरुप वह साधक पुरुष आत्मबोध व आत्मज्ञान जैसी अनुभूतियों को प्राप्त करता हुआ मोक्षानन्द को अनुभव करता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य /असत्य**

(क) प्रकृति सत्व, रजस और तमस् इन तीन गुणों से मुक्त है।

(ख) आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार जीवात्मायुक्त शरीर ही चिकित्सकीय पुरुष है।

(ग) योगदर्शन के अनुसार मोक्षसुख प्राप्त जीवात्माओं के लिए प्रकृति प्रयोजनहीन हो जाती है।

(घ) प्रकृति चेतन है और पुरुष जड़ है।

(ड) यम और नचिकेता के आत्मज्ञान सम्बन्धी संवाद का वर्णन कठोपनिषद् में किया गया है।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) जीवात्मा के भोग एवं अपर्वग के प्रयोजन को सिद्ध करने वाली समुदाय विशेष .... कहलाती है।

(ख) महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रकृति और पुरुष का संयोग .... का कारण है।

(ग) गीता के अनुसार प्रकृति वह शाश्वत बरगद वृक्ष है जिसकी जडे .... की ओर तथा शाखाएं .... की ओर लटक रही हैं।

(घ) सांख्य दर्शन में कुल .... तत्वों का वर्णन किया गया है।

(ड) ऋग्वेद के अनुसार प्रजापति परमात्मा ने .... के रुप में इस सृष्टि (प्रकृति) का निर्माण किया।

3–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) प्रकृति में उपस्थित सतोगुण किस वर्ण का है –

(a) कृष्णवर्णिय (b) रक्तवर्णिय
(c) श्वेतवर्णिय (d) पीतवर्णिय।

(ख) आयुर्वेद में पुरुष शब्द को किस अर्थ में वर्णित किया गया हैं –

(a) ईश्वर के लिए (b) जीवात्मा के लिए
(c) जीवात्मा युक्त शरीर के लिए (d) सभी।

(ग) चित्त की वृत्तियों के अनुसार प्रकृति को देखने वाला चेतन पदार्थ है। –

(a) जीवात्मा (पुरुष) (b) ईश्वर
(c) प्रकृति (d) सभी ।

(घ) प्रकृति का प्रायोजन पुरुष को क्या प्रदान करना है

(a) भोग (b) अपवर्ग
(c) भोग व अपवर्ग दोनों (d) इनमें से कोई नही।

(ड) गीता में वर्णित पुरुष का स्वरुप है

(a)	अजर	(b)	अमर
(c)	अजन्मा	(d)	सभी।

17.7 सारांश–

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको यह स्पष्ट हुआ होगा कि प्रकृति जिसे सृष्टि, भूमण्डल, भूलोक, धुलोक एवं संसार आदि नामों से जाना जाता है, सत्व, रजस और तमस् इन तीन गुणों से युक्त है। प्रकृति में उपस्थित अलग–अलग पदार्थ इन तीन गुणों से युक्त होते हैं। यह सर्वत्र व्याप्त किन्तु जड तत्व है। इसका मूल प्रयोजन पुरुष को भोग एवं अपवर्ग प्रदान करना होता है। इस प्रकृति की रचना ईश्वर करता है। प्रकृति के कण –कण में उस ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। वेद एवं उपनिषद् आदि ग्रन्थ प्रकृति में ईश्वर की सर्वव्यापकता को पुष्पों में सुगन्ध, दूध में घृत, तिल के दानों में तेल और पहाडों में सोना के छिपे होने के उदाहरण से समझाते हैं। योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि पुरुष के भोग एवं अपर्वग के प्रयोजन को सिद्ध करने वाली समुदाय विशेष को **प्रकृति** की संज्ञा देते हैं।
इकाई में आगे पुरुष के स्वरुप की व्याख्या वेदों, उपनिषदों, आयुर्वेद, दर्शन एवं गीता के आधार पर की गयी है। वेदों में जहां पुरुष अर्थात जीवात्मा एवं परमात्मा को एक वृक्ष पर रहने वाले सखा के रुप में वर्णित किया गया है तो वहीं उपनिषद में हृदय कमल की खिली हुई पंखरियों के बीच में स्थिर चमकदार जलती हुई दीपशिखा ओंकार रुप निश्चल मूर्ति को आत्मा के स्वरुप में वर्णित किया गया है आयुर्वेद शास्त्र में जीवात्मायुक्त शरीर को चिकित्सकीय पुरुष के रुप में वर्णित किया गया है। दर्शनशास्त्र में पुरुष को प्राकृतिक पदार्थों से भिन्न अर्थात अलग मानते हुए चित्त की वृत्तियों के अनुसार प्रकृति को देखने वाले चेतन पदार्थ को **पुरुष अर्थात जीवात्मा** की संज्ञा से सुशोभित करते है। प्रकृति का प्रयोजन इस पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए है। धर्मग्रन्थ गीता पुरुष अर्थात जीवात्मा के अजर और अमर स्वरुप का वर्णन करती है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के स्वरुप को अलग अलग ग्रन्थों में अलग–अलग उदाहरणों एवं व्याख्याओं से समझाया गया है किन्तु इन ग्रन्थों की मूल धारणा लगभग एक समान ही है।

17.8 पारिभाषिक शब्दावली–

सर्ग	संयोग, मिलन
अभिव्यक्ति	प्ररस्तुतीकरण, प्रकटीकरण
आवरण	कोश, परत
प्रत्यक्ष	साक्षात्कार
संयुक्त	जुडना
सदृश	समान रुप में
शास्वत	सदैव रहने वाला

17.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	असत्य	क.	प्रकृति	क.	c
ख.	सत्य	ख.	दुख	ख.	d
ग.	सत्य	ग.	उपर, नीचे	ग.	a

घ.	असत्य	घ.	पच्चीस	घ.	c
ड.	सत्य	ड.	विश्वकर्मा	ड.	d

17.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 संध्या–अग्निहोत्र – डॉ0 दिलीप वेदालंकार, आर्य समाज ग्रेटस ह्यूस्टन, यू0 एस0 ए0।
2इशादि नौ उपनिषद् – व्याख्याकार हरिकृष्णगोयन्दका, गीता प्रेस गोरखपुर।
3सत्यार्थ प्रकाश – स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर नगरे वैदिक यन्त्रालय मुद्रित।
4 योग दर्शनम् – व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिव्राजक, दर्शन योग महाविद्यालय, आर्यवन रोजड (गुजरात)।

17.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1 108 उपनिषद् – आचार्य पं0 श्रीराम शर्मा, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा।
2. यज्ञ पर्व पद्धति – सत्यपाल स्नातक – जवाहर बुक डिपो, मेरठ।ड
3. भारतीय दर्शन की रुपरेखा – प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, ब्रगलो रोड, दिल्ली।

17.12 निबन्धात्मक प्रश्न–

1.पुरुष के अर्थ को सम झाते हुए करते हुए पुरुष की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
2.विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित प्रकृति के स्वरुप पर प्रकाश डालिए।

इकाई 18 कैवल्य की अवधारणा एवं कैवल्य प्राप्ति के उपाय

18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 कैवल्य की अवधारणा
18.3.1 वेद में वर्णित कैवल्य की अवधारणा
18.3.2 उपनिषद् में वर्णित कैवल्य की अवधारणा
18.3.3 योग दर्शन में वर्णित कैवल्य की अवधारणा
18.4 कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति के उपाय
18.5 सारांश
18.6 शब्दावली
18.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
18.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
18.9 सहायक पाठ्य सामग्री
18.10 निबन्धात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, जैसा कि आपको पूर्वज्ञान है कि मानव जीवन के चार पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष होते हैं। इन चार पुरुषार्थों में सबसे अन्तिम एवं शीर्ष सोपान मोक्ष है जिसे सामान्य लोक व्यवहारिक भाषा में मुक्ति तथा योग के ग्रन्थों की भाषा में कैवल्य की संज्ञा दी जाती है। पूर्व की इकाई में प्रकृति एवं पुरुष के स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त पुरुष की मुक्ति अर्थात कैवल्य को जानने एवं समझने की जिज्ञासा भी आपके मन में अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी । प्रस्तुत ईकाई में आपकी इसी जिज्ञासा को शान्त करने हेतु कैवल्य का स्वरुप एवं कैवल्य की प्राप्ति के उपायों पर प्रकाश डाला गया है।

वास्तव में यह संसार अनेक दुखों का घर है। संसार के महापुरुष एवं विद्धवत जन इस संसार को सुखालय के स्थान पर दुखालय की संज्ञा देते हुए संसार में सर्वत्र फैले त्रिविध दुखों की व्याख्या अलग–अलग प्रकार से करते हैं। इन दुखों के तापों से संसार का प्रत्येक प्राणी त्रस्त रहता है। सामान्य मनुष्य तो सांसारिक पदार्थों की मृगतृष्णा तथा विषय भोगों की वासना रुपी भवर में फस कर दुख के सागर में डूबा हुआ रहता है, लेकिन जैसा कि आपने पूर्व की इकाई में जाना कि जब पुरुष को स्वंम एवं प्रकृति के यथार्त स्वरुप का ज्ञान होता है तब वह अपना सम्बन्ध संसार एवं सांसारिक विषयों से हटाकर परमात्मा के साथ स्थापित कार लेता है। जीवात्मा का सांसारिक बन्धनों से छूटकर अपने केवल स्वरुप में स्थित होना (स्वरुपेऽवस्थानम्) ही **कैवल्य** है, दूसरे शब्दों में सांसारिक विषय भोगों से छूटकर अखण्ड ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता ही मोक्ष अर्थात मुक्ति है। लेकिन प्रश्न उपस्थित होता है कि इस मोक्ष में क्या होता है अर्थात इसका स्वरुप क्या है ? इसे प्राप्त करने के क्या उपाय है ? प्रस्तुत इकाई में इन्ही प्रश्नों के उत्तर पर सविस्तार विचार किया गया है।

यद्यपि यह विषय बहुत गंभीर एवं चिन्तनीय है जो सामान्य रुप में समझ से बाहर ही रहता है। विषय की जटिलता एवं दुर्गमता को स्पष्ट करते हुए योगीराज श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं कि बहुतों को यह ज्ञान प्राप्त नही हो पाता है। कुछ मार्ग की कठिनाईयों से डर जाते है। कुछ मार्ग के मध्य में संशय से ग्रस्त हो जाते हैं कुछ ही ऐसे बिरले पुरुष होते हैं अपने मूल लक्ष्य परम पद अर्थात कैवल्य (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं। योग साधक की साधना का मूल उद्‌देश्य कैवल्य प्राप्ति ही है जिसकी व्याख्या महर्षि पतंजलि योगसूत्रों में करते है। प्रस्तुत इकाई में आप योगसूत्रों के साथ साथ अन्य वैदिक ग्रन्थों में वर्णित कैवल्य के स्वरुप एवं कैवल्य प्राप्ति के उपायों का सविस्तार अध्ययन करेगें।

18.2 उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- कैवल्य की अवधारणा का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।
- कैवल्य के स्वरुप को स्पष्ट करने में सक्षम हो सकेगें।
- कैवन्य का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेगें।
- कैवल्य प्राप्ति के उपायों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकेगें।
- कैवल्य के महत्व को समझाने में सक्षम हो सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गये प्रश्नों के उत्तर दे सकेगें।

18.3 कैवल्य की अवधारणा

कैवल्य का सामान्य अर्थ मोक्ष अथवा मुक्ति से होता है। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि यह मुक्ति क्या है ? प्रिय विधार्थियों मुक्ति संस्कृत भाषा की मुच धातु से उत्पन्न शब्द है। इस धातु को छूटने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है अर्थात मुक्ति का शाब्दिक अर्थ छूटने से होता है, यहां पर मुक्ति का शाब्दिक अर्थ जीवात्मा का समस्त दुखों, क्लेशों, विषय वासनों तथा सांसारिक बन्धनों से छूटकर अपने शुद्ध स्वरुप में स्थित होने से किया गया है अर्थात मुक्ति वह अवस्था विशेष है जिसके अर्न्तगत जीवात्मा सभी प्रकार के दुखों, क्लेशों, विषय वासनों तथा सांसारिक बन्धनों से छूटकर अपने शुद्ध स्वरुप में स्थित हो जाता है। जीवात्मा के इस स्वरुप की व्याख्या महर्षि पतंजलि योग सूत्र में करते हुए कहते हैं

तदा द्रष्टुः स्वरुपरुपेऽवस्थानम्। (पा0 यो0 सू0 1/3)

अर्थात चित्त वत्तियों के निरोध हो जाने पर (असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में) जीवात्मा अपने तथा परमात्मा के स्वरुप को जानकर अपने शुद्ध स्वरुप में स्थित हो जाता है। यही जीवात्मा के कैवल्य की अवस्था है।

जीवात्मा की यह अवस्था अत्यन्त विशिष्ट एवं मानव जीवन की सर्वोच अथवा सर्वश्रेष्ठ गति को अभिव्यक्त करने वाली अवस्था है जिसे प्राप्त करने के लिए संसार का प्रत्येक मनुष्य प्रयत्नशील रहता है। इस अवस्था विशेष का वर्णन संसार के सभी धर्मों एवं मत सम्प्रदायों में अलग अलग रुपों में किया गया है। संसार के अधिकांश विद्वानों ने इस विषय पर अपना मत एवं लेखकों ने विषय को समझाने के लिए अपनी लेखनी चलाई है। विभिन्न ग्रन्थों में मुक्ति की इस अवस्था में जीवात्मा को कहीं परमधाम में, बैकुण्ठ में, गोलोक में, र्स्वगलोक में, हैवन में, जन्नत में तथा कहीं बहिस्त में स्थित होना बतलाया गया है। जीवात्मा की इस अवस्था की व्याख्या कैवल्य, अपवर्ग, मुक्ति, मोक्ष, निवार्ण, स्वरुपस्थिति, परमपद व निश्रेयस आदि एकार्थी शब्दों से की जाती है।

प्रिय पाठकों, यहा अध्ययन का प्रमुख विषय कैवल्य की अवधारणा को स्पष्ट करना है अतः हम विविध ग्रन्थों में वर्णित कैवल्य के अर्थ एवं स्वरुप पर विचार करते हैं। विषय का प्रारम्भ सृष्टि के आदि मूल ग्रन्थ अर्थात वेद से करते हैं –

18.3.1 वेद के वर्णित कैवल्य की अवधारणा

यजुर्वेद में ईश्वर से कैवल्य अर्थात मुक्ति की प्रार्थना करते हुए कहा गया –

त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्।। (यजुवेद 3/60)

जिस प्रकार एक पका हुआ फल (खरबूजा) पूर्ण रुप से पकने के बाद स्वतः ही बेल की डठंल से अलग हो जाता है और जिस समय वह पूर्ण रुप से पककर बेल से पृथक होता है तब उसकी सुगन्ध प्रकृति में चारों ओर फैल जाती है। हे प्रभु, मेरा जीवन भी ऐसा ही बनाओं कि जब मैं पूर्णायु को प्राप्त होऊँ तब मैं स्वतः ही बिना किसी कष्ट अथवा विध्न के ईश्वर की अमृतमयी गोद में चला जाऊँ तथा मेरे पश्चात मेरे सद्गुणों की सुगन्ध सम्पूर्ण संसार में फैल जाए। वेद के इस मंत्र में जीवात्मा की जन्म मरण के चक्र से छूटकर सीधे कैवल्य अवस्था में जाने की प्रार्थना परमात्मा से की गयी है, इसीलिए इस मंत्र को महामत्युजंय मंत्र की संज्ञा दी जाती है।

18.3.2 उपनिषद् में वर्णित कैवल्य की अवधारणा

प्रिय पाठकों, वैदिक वाङगमय की अनुपम निधि के रूप में उपनिषदों को स्वीकार किया जाता है। इन्हें ज्ञान का अनुपम भण्डार माना जाता है। उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों में जहाँ मोक्ष प्राप्ति के उपायों या साधनों पर उपदेश किया गया है वहीं मोक्ष क्या है, उसके स्वरूप आदि पर भी गहन विचार मन्थन किया गया है।

उपनिषद् साहित्य में स्पष्ट किया गया है कि मानव जीवनयापन के दो ही मार्ग है – एक प्रेय मार्ग और दूसरा श्रेय मार्ग। प्रेय मार्ग अत्यन्त रमणीय है। सांसारिक सुखों से आकृष्ट मनुष्य इस मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। इसे ही प्रवृत्ति मार्ग कहा जाता है क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सांसारिक बन्धनों की ओर होती है अतः मनुष्य सामान्य एवं स्वभाविक रुप में प्रवृत्ति मार्ग का पथिक बन जाता है। दूसरा श्रेय मार्ग या निवृत्ति मार्ग है। इनके उदाहरण उपनिषदों में देखें जा सकते हैं। यमाचार्य नचिकेता को भोग सामग्री व धन आदि का लालच देते हैं किन्तु नचिकेता इसे तुच्छ समझकर अमृत पथ के मार्ग को जानने की इच्छा करता है। वह केवल तत्व ज्ञान चाहता है। ऐसे ही वृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रोयी याज्ञवल्क्य से दिए वित्तादि (धन आदि) को न ग्रहण करने की बात कहकर अमर होने के उपदेश देने की बात कहती है।

उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का अर्थ है – स्वोपलब्धि अर्थात अपनी आत्मा को जानना। इसीलिए कहा कि कैवल्यावस्था अथवा मोक्षावस्था में जीवात्मा से ही प्रेम करता है। (आत्मरति) आत्मा से ही खेलता है (आत्मक्रीड़) आत्मा में ही आसक्त रहता है और आत्मा में ही निरतिशय आनन्द को (आत्मानन्द) को प्राप्त करता है।

कठोपनिषद् में यामाचार्य इस परमगति मोक्ष का वर्णन इस प्रकार करते हुए कहते हैं कि परमात्मा ने इन्द्रियों का मुख बाहर की ओर खोला है इसलिए यह बाह्यमुखी है, अन्तर्मुखी नहीं। कोई धीर व्यक्ति ही बिरला होता है जो अमृतत्व की इच्छा करता हुआ चक्षुरादि इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके आत्मा का प्रत्यक्ष करता है। अन्यत्रा कठोपनिषद् कहती है कि उस अवस्था (कैवल्यावस्था) में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि निर्व्यापार हो जाते हैं। महोपनिषद् में कहा कि वासनाओं का जो निःशेष परित्याग होता है, वही श्रेष्ठ त्याग है। उसी विशुद्ध अवस्था को साधुजनों ने मोक्ष कहा है। मुण्डकोपनिषद् कहती है कि जब इस जीव के हृदय की अविद्या रूपी गांठ कट जाती है और तत्वज्ञान से उसके सब संशय छिन्न–भिन्न हो जाते हैं, तथा जितने दुष्ट कर्म हैं, सब जिस समय क्षय हो जाते हैं उस समय जीव उस परमात्मा को आत्मा के भीतर–बाहर व्याप्त हुआ, देखता है, यही मोक्षावस्था अथवा कैवल्य की अवस्था है। तैतिरियोपनिषद् में कहा है कि जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य, ज्ञान और अत्यन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है वह उस व्यापक रूप ब्रह्म में स्थित होकर उस आनन्द विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को प्राप्त होता है। ईशावास्योपनिषद् में अमृत को प्राप्त करने की प्रार्थना ईश्वर से की गयी है। उपनिषद् में समझाया गया है कि विद्या और अविद्या दोनों की उपासना करने वाले घने अंधकार में जाकर गिरते हैं लेकिन विद्या और अविद्या को एक साथ जान लेने वाला, अविद्या को समझकर विद्या द्वारा अनुष्ठानित होकर मृत्यु को पार कर लेता है, वह मृत्यु को जीतकर अमृत का उपभोग करता है। जैमिनीय उपनिषद् में मृत्युपाश से मुक्ति और अमृतत्व वर्णित है। मृत्यु और अमृत इस संसार समुद्र के दो तट हैं। भौतिक सीमा के अन्तर्गत मृत्य और उससे परे अमृत है। जहाँ शरीर है वहाँ मृत्यु है, जहाँ शरीर के

साथ सम्बन्ध नहीं वहीं अमृत है। जीवात्मा का जन्म मरण के चक्र से छूटकर ईश्वर के परम आनन्द में लीन होना ही कैवल्य है।

इस प्रकार उपनिषद साहित्य में कैवल्य (मोक्ष) को दुःखों के अभाव रूप में ही नहीं अर्थात नकारात्मक रुप में ही नही अपितु आनन्द के सकारात्मक रूप में वर्णित किया गया है। उपनिषद् साहित्य में मृत्यु से परे स्थित अमृत में कैवल्य को समझाया गया है जिसकी प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म, उपासना (भक्ति) आदि साधन हैं।

जिज्ञासु पाठकों, वेद एवं उपनिषद् साहित्य में कैवल्य की अवधारणा को समझने के उपरान्त अब दर्शन साहित्य में वर्णित कैवल्य की अवधारणा पर विचार करते हैं।

18.3.3 योग दर्शन में वर्णित कैवल्य की अवधारणा

प्रिय पाठकों योगसूत्र में महर्षि पतंजलि के अनुसार मुक्ति या मोक्ष की शास्त्रीय संज्ञा 'कैवल्य' है। 'कैवलस्य भावः कैवल्यम्' के अनुसार मोक्षावस्था में जीवात्मा निज स्वरूप में स्थित हो जाता है, यह स्वरूपावस्थान ही कैवल्य है। इसमें चित्तवृत्तियों का निरोध होकर अपने स्वरूप में स्थिति होती है। कैवल्य की इस अवस्था को समझाते हुए महर्षि पतंजलि योगसूत्र में कहते हैं –

तदा द्रष्टुः स्वरुपरुपेऽवस्थानम्।। (पा0 यो0 सू0 1/3)

अर्थात चित्त वृत्तियों के निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में जीवात्मा अपने तथा परमात्मा के स्वरुप को जानकर अपने शुद्ध स्वरुप में स्थित हो जाता है।
कैवल्य की यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है इस विषय पर प्रकाश डालते हुए पतंजलि ऋषि साधन पाद में कहते हैं कि मिथ्याज्ञान (अविधा) की वासना के निवृत्त होने से, चित्तवृत्ति और पुरुष के संयोग का अभाव हो जाता है, अर्थात पुरुष के बन्धन की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। यही हान (दुःख का नाश) है और यही द्रष्टा अर्थात पुरुष का कैवल्य या मोक्ष है। महर्षि पतंजलि कहते हैं –

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।। (पा0यो0सू0 2/25)

अर्थात अविधा के अभाव होने पर द्रष्टा (जीवात्मा) और दृश्य (प्रकृति) के संयोग का अभाव हो जाता है, यही हान है। यही जीवात्मा का कैवल्य है।
विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजति तृतीय पाद में कहते हैं –

सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।। (पा0यो0सू0 3/55)

अर्थात सत्व (बुद्धि) की और पुरुष (जीवात्मा) की शुद्धि होन पर मोक्ष होता है।
प्रिय पाठकों, योग दर्शन ग्रन्थ में महर्षि पतंजलि ने योग साधक का चरम लक्ष्य कैवल्य अर्थात मोक्ष प्राप्ति कहा है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रथम पाद में समाधि विषय पर प्रकाश डाला गया। समाधि प्राप्ति के क्या क्या साधन है इन साधनों अर्थात अष्टांग योग के विषय में द्वितीय पाद में उपदेश किया गया। जो साधक इन साधनों का अभ्यास करता हुआ इन्हें सिद्ध करता है तो उसमें कुछ लक्षण विशेष अर्थात सिद्धियां (विभूतियां) उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन तृतीय पाद में किया है। ऐसा योगाभ्यासी सिद्ध पुरुष मानव जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि चतुर्थ पाद में करते हैं। योग दर्शन गन्थ के कैवल्य पाद के अन्तिम योगसूत्र में महर्षि पतंजलि कैवल्य के स्वरुप की सविस्तार व्याख्या करते हुए कहते हैं –

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।।
(पा0यो0सू0 4/34)

अर्थात भोग और अपवर्ग प्रयोजन से रहित चित्तादि कार्यरुप गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना, अथवा सब क्लेशों से सर्वथा छूटकर जीवात्मा का अपने तथा ईश्वर के स्वरुप को ठीक–ठीक जानकर अपने और ईश्वर के स्वरुप में अवस्थित हो जाना, "**कैवल्य अर्थात मोक्ष** " है।

प्रिय पाठकों, इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन स्पष्ट करता है कि कैवल्य का अर्थ पुरुष अर्थात जीवात्मा का अपने स्वरुप को जानकर ईश्वर में लीन हो जाना ही कैवल्य है। इस अवस्था में जीवात्मा जन्म व मरण के चक्र से सदा के लिए छूटकर ईश्वर के आनन्द में लीन हो जाता है। किन्तु अब आपके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वभाविक ही है कि इस कैवल्य की अवस्था को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? कैवल्य प्राप्ति के उपाय क्या क्या है ? अतः अब विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित कैवल्य प्रप्ति के उपायों पर विचार करते हैं।

18.4 कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति के उपाय

इस संसार के सभी मनुष्य दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त करना अथवा मुक्ति में जाना चाहते हैं, किन्तु यह मुक्ति का आनन्द अनायास ही प्राप्त नही हो जाता है अपितु इस मोक्षानन्द अथवा कैवल्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को बड़े प्रर्यत्न करने पड़ते हैं। विषय भोगों का त्याग करते हुए जन्म जन्मान्तरों की साधना में लीन रहने अथवा भक्त द्वारा भक्ति भाव से कठोर तप को करने का उद्‌देश्य कैवल्य अर्थात मुक्ति सुख को प्राप्त करना होता है। यह कैवल्य कैसे प्राप्त होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में महापुरुषों एवं विद्धानों ने अलग–अलग विचारों एवं मार्गों का उपदेश किया है। सृष्टि के आदि ग्रन्थ वेदों में जहाँ शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म एवं शुद्ध उपासना को कैवल्य प्राप्ति के मूल साधन के रुप में वर्णित किया गया है तो वही महर्षि पतंजलि ईश्वर प्राणिधान, क्रियायोग एवं अष्टांग योग को कैवल्य प्रप्ति के साधनों के रुप में वर्णित करते हैं।

महर्षि पतंजलि योग सूत्रों में कैवल्य प्राप्ति के उपायों में योग साधना को प्रमुख स्थान देते हैं। योग साधना में अनेक बाधाओं को दूर करने के लिए वे अनेक उपायों का उल्लेख भी करते हैं। द्रष्टा और दृश्य का जो संयोग है, वही प्रकृति जन्य विकारों को जन्म देकर जीव को बंधन में बाँधता है। इन सांसारिक बंधनों, क्लेशों, दुःखों से छूटने का उपाय क्या है, इसके विषय में महर्षि ने अनेको उपाय बताए हैं। योगी को साधना में अनेक अन्तराय कष्ट डालते एवं बाधा उत्पन्न करते हैं, उनमें पंच क्लेश प्रमुख हैं। इन क्लेशों को तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान के अभ्यास से तनु अर्थात निर्बल बना कर साधना पथ पर आगे बढा जा सकता है।

मनुष्य को योग साधना के पथ पर गमन हुए कैवल्य प्राप्ति हेतु किन साधनों का अभ्यास करना चाहिए, इस विषय को समझाते हुए महर्षि पतंजलि स्पष्ट करते हैं कि उच्च कोटि के साधक ईश्वर प्राणिधान से कैवल्य प्राप्ति की ओर अग्रसर हों, जबकि मध्यम कोटि के साधकों को तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान (क्रियायोग) के द्वारा अपनी साधना को आगे बढाना चाहिए तथा निम्न कोटि के साधकों को अपनी साधना का प्रारम्भ अष्टांग योग से करना चाहिए। अष्टांग योग की साधना मानव की समस्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक वृत्तियों का परिस्कार करती हैं। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँच 'यम' और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नामक पाँच नियमों में स्थित होने अथवा सिद्ध करने से साधक बाह्य और आन्तरिक शुद्धि को प्राप्त होकर ईश्वर की

शरणागति में स्थित होने लगता है। साधक जिस रीति से बिना हिले–डुले स्थिर भाव से सुखपूर्वक बिना किसी प्रकार की पीड़ा के बहुत समय तक बैठ सके वही उस साधक के लिए आसन है। आसनों के नियमित अभ्यास से साधक शारीरिक स्तर पर स्थिरता एवं सुख की अनुभूति करता है। तत्पश्चात श्वास और प्रश्वास की गति में विच्छेद हो जाना अथवा नियंत्रण प्राप्त कर लेना प्राणायाम है। प्राणायाम का अभ्यास करने से जब मन और इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती है। तब इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्ति का सब ओर से समेट कर मन में लीन करने के अभ्यास का नाम प्रत्याहार कहलाता है। इस प्रकार इन बहिरंग साधनों के द्वारा जब योगी अपनी स्थिति को उच्च बना लेता है तब वह अन्तरंग साधनों के द्वारा कैवल्य या मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। मन को ध्यान के विषय पर केन्द्रित करने का नाम ही धारणा है। जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाए उसी में चित्त के एकाग्र हो जाने को ध्यान कहते हैं। ध्यान करते–करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है अर्थात साधक स्वरुप शून्य होकर पूर्ण रुपेण अपने ध्येय में ही लीन हो जाता है, साधक की यह अवस्था समाधि कहलाती हैं। तात्पर्य यह है कि जब योगाभ्यास द्वारा बुद्धि शुद्ध हो जाती है तो वह उस प्रकृति में लय होने लगती है, जिसमें से उसका विकास हुआ था। पुरुष को भी यह ज्ञान हो जाता है कि मन इत्यादि से उसका सम्बन्ध अज्ञान पर आधारित था। उस सम्बन्ध के समाप्त होते ही पुरुष कैवल्य प्राप्त कर लेता है क्योंकि संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) का फल सूक्ष्म विषय को शीघ्र ग्रहण करने की प्रज्ञा उत्पन्न कर लेता है अर्थात साधक को प्रज्ञा बुद्धि की प्राप्ति होती है। यह प्रज्ञा साधक को कैवल्य की और ले जाती है।

इस प्रकार अष्टांग योग की साधना से जीवात्मा ईश्वर के आनन्द को प्राप्त करता हुआ अपने मूल स्वरुप में स्थित हो जाता है जीवात्मा की यही अवस्था कैवल्य की अवस्था है। इस प्रकार महर्षि पतंजलि योगसूत्रों में कैवल्य के स्वरुप एवं साधनों को स्पष्ट रुप में समझाते हैं। अब अन्य वैदिक ग्रन्थों में कैवल्य प्राप्ति के साधनों पर विचार करते हैं।

कैवल्य अर्थात मुक्ति के उपायों या साधनों का उल्लेख करते हुए मुक्तिकोपनिषद् में कहा कि जिस प्रकार मदमस्त हाथी अंकुश के बिना वश में नही आता उसी प्रकार चित्त को वश में करने के लिए अध्यात्म विद्या का ज्ञान, सत्संगति, वासनाओं का भली–भांति परित्याग तथा प्राणवायु का निरोध प्राणायाम ये प्रबल उपाय हैं।

महोपनिषद् मोक्ष के साधनों को द्वारपाल के नाम से सम्बोधित करती हुई कहती है कि जैसे द्वारपाल की आज्ञा के बिना अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते ऐसे ही मोक्षपरायण इन साधनों के बिना मोक्ष पथ पर आरूढ़ नहीं हो सकते। शम अर्थात मनोनिग्रह, विचार, संतोष एवं सत्संग ही मोक्ष द्वार के चार द्वारपाल हैं, यदि इनमें से किसी एक का भी आश्रय प्राप्त कर लिया जाए तो शेष द्वारपाल सहजतापूर्वक स्वयमेव ही अपने वश में हो जाते हैं। आगे कहा कि समय एवं देश के अनुसार शास्त्राानुकूल आनन्दपूर्वक यथाशक्ति सत्संग में ही विचरण करते हुए इस मोक्ष पथ के क्रम का तब तक ज्ञानीजन चिंतन करते रहें, जब तक उन्हें आत्मिक विश्रान्ति न मिल जाए। मुक्ति की अभिलाषा रखने वाले के लिए यहाँ कहा कि जो पुरुष मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह जीव तथा ईश्वर के वाद–विवाद में बुद्धि को भ्रमित न करे, वरन् उसे दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्व का ही निरन्तर चिंतन करना चाहिए और जो इस प्रकार दृढ़तापूर्वक उसका चिंतन करता है, उसके ज्ञान नेत्र खुल जाते हैं तब उस ब्रह्म

का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के ह्रदय की गांठे खुल जाती हैं, सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और समस्त कर्म (प्रारब्धादि) क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार चित्तवृत्ति का प्राणायाम द्वारा निरोध करना चाहिए क्योंकि प्राणायाम की महिमा अनन्त है क्योंकि प्राण और मन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ में मन में दृढ़ संकल्प रूपी प्राणियों की कल्याण कामना, तप, दम और कर्म का वर्णन और उपासना को मोक्ष के उपाय के रुप में वर्णित किया गया।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया–

अविधाया मृत्युं तीर्त्वा विधायाऽमृतमश्नुते।। (ईशोपनिषद् 14)

अर्थात हम अविद्या (अज्ञान) रुपी मृत्यु को पार करके ज्ञान (विद्या) से अमृतत्व प्राप्त करें।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया कि जो धीर जन अपने (स्वयं) में स्थित उस ब्रह्म का दर्शन कर लेते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख अर्थात मोक्ष प्राप्त होता है। योग कुण्डल्युपनिषद् में कहा कि जो निरन्तर अपनी आत्मा में रमण करता है वह विज्ञानी कृत–कृत्य हो जाता है, उसे सांसारिकता से मुक्ति मिल जाती है। योग चूडामणि उपनिषद के अनुसार जो साधक ओंकार का जप करता है वह पाप रूपी भवंर में नहीं फसता, वह कमल पत्र के समान संसार से अलिप्त रहता है।

नारद परिव्राजकोपनिषद् में मोक्ष के अधिकारी के लक्षण बताते हुए कहा कि इन्द्रियों को वश में रखने, राग–द्वेष का नाश करने तथा किसी भी प्राणी की हिंसा न करने से मनुष्य अमृतत्व (मोक्ष) का अधिकारी हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि यह पुरुष ही वह वैश्वानर अग्नि है जिसको जो व्यक्ति पुरुष के रूप में स्थित जानता है वह मृत्यु को जीतकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। त्रिपाद्विभूति उपनिषद् में मोक्ष साधनों में गुरु के उपदेश का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया कि जैसे जन्मान्ध को रूप का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना करोड़ों कल्पों में भी तत्व ज्ञान नहीं होता है। सद्गुरु की कृपा से अविलम्ब ही तत्वज्ञान हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् मोक्षोपाय के विषय में कहती है कि इस लोक में आचार्यवान पुरुष ही सत् को जानता है, उपनिषद् में अन्यत्रा कहा कि आचार्य कुल से वेदों को पढ़कर, गुरु की दक्षिणा देकर समावर्तन द्वारा कुटुम्ब में आकर स्वाध्याय में रत रहकर और धार्मिक विद्वानों के सत्संग से सब इन्द्रियों को वश में करके, अहिंसा, बुद्धि से सब प्राणियों को देखता हुआ और आयु प्रर्यन्त इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ विद्वान ही ब्रह्म लोक अर्थात मोक्ष को प्राप्त होता है। ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में स्पष्ट कहा कि जिस प्रकार घी के लिए दूध का मंथन किया जाता है वैसे ही विज्ञानमय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मन को मथनी बनाकर सदा मंथन ;चिंतन और विचार करते रहना चाहिए। तदनन्तर ज्ञानदृष्टि प्राप्ति करके अग्नि के समान तेजोमय ब्रह्म का इस प्रकार अनुभव करें कि परब्रह्म मैं हूँ। कठोपनिषद् में कहा कि जब सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती है उस समय वह मृत्यु अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।

न्यायसूत्रों पर भाष्य करते हुए आचार्य वात्स्यायन कहते हैं कि जब तत्व ज्ञान द्वारा मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है तो उसके परिणामस्वरूप सभी दोष दूर हो जाते हैं। दोषों के समाप्त होने पर कर्म करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, इस प्रवृत्ति के समाप्त हो जाने पर जन्म का बंधन टूट जाता है, जन्म–मरण के चक्र के रुक जाने के फलस्वरूप दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति हो जाती है। अपने स्वरूप में स्थित जीवात्मा शरीर से

उठकर 'परम ज्योति' को प्राप्त करके अपने स्वरूप से प्रकट हो जाता है। निर्विष्य से ऋतम्भरा प्रज्ञा उद्भूत होती है जिसका परिणाम 'विवेक ख्याति' की प्राप्ति के रुप में प्राप्त होता है। निरन्तर विद्यमान विवेक ख्याति से परम वैराग्य का उदय होता है इससे धर्ममेध समाधि सिद्ध होती है। सर्वद्रष्टा परमात्मा के स्वरूप में जीवात्मा की जो निर्विषय स्थिति है उसे स्वरूप स्थिति या स्वरूपा अवस्था नाम दिया जाता है, यही मोक्ष अर्थात कैवल्य की अवस्था है।

श्रीमद्भागवत पुराण में मुक्ति के उपायों में योग साधना को प्रमुख स्थान दिया गया है। भागवत में स्थान–स्थान पर अष्टांग योग का उपदेश दिया गया है, साथ ही ईश्वर प्राणिधान अर्थात ईश्वर भक्ति को भी वर्णित करते हुए कहा गया कि किसी प्रकार के फल की इच्छा न कर सर्वविध सुखों की इच्छा रखने वाला या उदार बुद्धि होने के कारण केवल मोक्ष चाहने वाला पुरुष तीव्र भक्ति योग से निरुपाधिक पूर्ण परब्रह्म परमेश्वर की आराधना करें। इस ब्रह्म को श्रद्धा, भक्ति, नित्य योगाभ्यास और विरक्ति भाव में स्थित होकर स्थिर चित्त से आसानी से अनुभव किया जा सकता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। भागवत कहती है कि ब्रह्म को प्राप्त करने के उपाय अनेक हैं यथा अनेक शुभकर्मों से, यज्ञों से, दानों से, तप से, स्वाध्याय से, तत्व विचार से मन और इन्द्रियों की जय से, कर्म–संन्यास से, अष्टांग योग से, भक्तियोग से, प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण धर्मों से, आत्म तत्व ज्ञान से, दृढ़ वैराग्य से इन सभी से स्वप्रकाश भगवान को साधक पाता है और समाधिपर्यन्ते योग में आरूढ़ होकर आत्मतत्व का साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार आचार्य निम्बार्क मोक्ष के उपायों में पाँच साधन मुख्य मानते हैं– कर्म, विद्या या ज्ञान, उपासना, प्रपत्ति (आत्म समर्पण) तथा गुरुपासत्ति। किन्तु इन साधनों में भी ईश्वर की भक्ति अनिवार्य हैं। आचार्य निम्बार्क भक्ति को ईश्वर के प्रति एक विशेष प्रकार का प्रेम मानते हैं।

आचार्य शंकर प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेक चूड़ामणि' में भक्ति को मोक्ष प्राप्ति का सबसे बडा उपाय मानते हैं। वल्लभाचार्य यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के साधनों में निष्काम कर्म, ज्ञान और अष्टांग योग का मूल्य स्वीकारते हैं। परन्तु उनका दृढ़ मत है कि ईश्वर की भक्ति और आत्मसमर्पण मोक्ष प्राप्ति के उत्कृष्ट साधन है। उनकी दृष्टि में ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग ईश्वर प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग है।

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीता ईश्वर प्रणिधान को अर्थात ईश्वर के प्रति पूर्ण सर्मपण के भाव या भक्तियोग को मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन मानती है। गीता के चतुर्थ अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को निष्काम कर्मयोग का उपदेश करते हुए कहते हैं कि जो स्वतः होने वाले लाभ से संतुष्ट रहता है, जो द्वन्द्व से मुक्त है और ईर्ष्या नहीं करता जो सफलता और असफलता दोनों में स्थिर रहता है वह कर्म करता हुआ कभी नहीं बंधता और जो पुरुष प्रकृति के गुणों के प्रति अनासक्त है और जो दिव्य ज्ञान में पूर्णतया स्थित है उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। जो व्यक्ति ब्रह्म में पूर्णतया लीन रहता है, उसे अपने आध्यात्मिक कर्मों से अवश्य ही भगवत् धाम की प्राप्ति होती है, क्योंकि उसमें हवन आध्यात्मिक होता है और हवि भी आध्यात्मिक होती है। योगीराज श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि ब्रह्म प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति के लिए द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योग यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ आदि का अनुष्ठान कर यती लोग ऐसे दृढ़ व्रतधारी यज्ञों को करते रहते हैं। प्राणायाम के द्वारा प्राणों पर संयम करके और मन पर संयम करके स्वच्छ हृदय से उसका ध्यान करते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए जो अनेक विध यज्ञ ब्रह्म के मुख में विस्तारित हैं उनको कर्मजन्य

जानकर जीव मुक्त हो जाता है। कृष्ण भगवान कहते हैं कि जो ह्रदय में स्थित अज्ञान से उत्पन्न हुए संदेह को ज्ञान रूपी तलवार से काट डालता है वह मोक्ष प्राप्ति के लिए खड़ा हो जाता है।

मनु महाराज मनुस्मृति नामक ग्रन्थ में मोक्षोपाय का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि वेदपाठ, जप, ज्ञान, इन्द्रिय निग्रह, अहिंसा, गुरु की शुश्रूषा करना यह सब कर्म बड़े कल्याणकारी है। इन शुभ कर्मों में से प्रत्येक कर्म मनुष्य के मोक्ष हेतु अत्यन्त कल्याण करने वाले हैं। किन्तु सब कर्मों में आत्मज्ञान श्रेष्ठ समझना चाहिए क्योंकि यह सबसे उत्तम विद्या है और अविद्या का नाश करती है जिससे अमृत अर्थात मुक्ति प्राप्त होती है। मनु महाराज ब्राह्मण वृत्ति वाले मनुष्य के लिए कहते हैं कि तप–विद्या यह दोनों ब्राह्मण के मोक्ष के श्रेष्ठ उपाय हैं क्योंकि तप से पाप का नाश और विद्या से मोक्ष मिलता है। जो मनुष्य वेद तथा शास्त्रों के अर्थ को सत्योचित रीति से अर्थात तत्त्व से जानने वाला है, वह मोक्ष के योग्य होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नामक ग्रन्थ में जीव की मुक्ति अर्थात कैवल्य के विषय में कहते हैं कि परमेश्वर की उपासना करके अविद्या आदि क्लेशों तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्धि विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

अन्यत्रा महर्षि दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में मोक्षोपायों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसँग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार विद्या, पक्षपात रहित न्याय धर्म की वृद्धि करने पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अर्थात योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने–पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात रहित न्याय धर्मानुसार ही करें इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भँग करने आदि काम से बंध जाता है। स्वामी दयानन्द मोक्ष प्राप्ति के उपायों में योगाभ्यास का भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द कर्मयोग नामक ग्रन्थ में बंधन से मुक्त होने का एक मात्र उपाय समस्त नियमों के बाहर चले जाना अर्थात कार्य–कारण श्रृंखला से बाहर हो जाना मानते हैं। स्वामी जी मृत्यु से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय जीवन के प्रति आसक्ति का त्याग करना मानते हैं।

प्रिय पाठकों, कैवल्य के विषय में आधुनिक युग के योगी श्री अरविन्द कहते हैं कि व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना कोई बहुत बड़ा लक्ष्य नहीं है। श्री अरविन्द का लक्ष्य केवल मानव का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि का मोक्ष है। यह केवल आध्यात्म योग द्वारा ही सम्भव है। अध्यात्म योग क्या है? इस पर विचार करते हुए श्री अरविन्द लिखते हैं कि आध्यात्म योग का अर्थ ज्ञान के दृष्टिकोण से यह अनुभूति प्राप्त करना है कि सभी वस्तुएं, जिन्हें हम देखते हैं या नहीं देखते हैं, जिनकी हमें चेतना है अर्थात मनुष्य, वस्तुएँ हम स्वयं, विभिन्न घटनाएँ, देवता, दानव, देवदूत, ये सब दिव्य ब्रह्म है। श्री अरविन्द के आध्यात्म योग के तीन सोपान हैं – प्रथम सोपान आत्म समर्पण का संकल्प करना। आध्यात्म योग का द्वितीय सोपान स्वयं के शरीर द्वारा किये गए कार्यों के प्रति भी स्वयं को आसक्त न करना अर्थात उन्हें तटस्थ भाव से देखते रहना है और तीसरा सोपान – संसार में सर्वत्रा ईश्वर को देखना है। इस सोपान पर साधक यह अनुभव करता है कि विचित्राता और

विभिन्नताओं से भरा यह जगत जिसे अब तक में ब्रह्म से भिन्न समझ रहा था, सार रूप से ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्म के स्वरुप की सर्वत्र अनुभूति करते हुए उसमें लीन हो जाना ही मोक्ष अथवा कैवल्य है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य/ असत्य**

(क) मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में सबसे अन्तिम एवं शीर्ष सोपान मोक्ष है ।

(ख) महर्षि पतंजलि के अनुसार निम्न कोटि के साधको को अपनी साधना का प्रारम्भ क्रिया योग से करना चाहिए।

(ग) कठोपनिषद् कहती है कि कैवल्यावस्था में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि व्यापारयुक्त हो जाते हैं।

(घ) स्वामी दयानन्द मोक्ष प्रप्ति के उपायों में योगाभ्यास का भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

(ड) उपनिषद् के अनुसार सांसारिक सुखों से आकृष्ट मनुष्य श्रेय मार्ग में प्रवृत्त होते हैं।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) जीवात्मा का सांसारिक बन्धनों से छूटकर अपने केवल स्वरुप में स्थित होना ———— है।

(ख) सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीता ———— को मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन मानती है।

(ग) महोपनिषद् मोक्ष के साधनों को ———— के नाम से सम्बोधित करती है।

(घ) अविधा के अभाव होने पर द्रष्टा (जीवात्मा) और दृश्य (प्रकृति) के संयोग का अभाव ही ———— है।

(ड) योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने योग साधक का चरम लक्ष्य ———— प्राप्ति कहा है।

3– **एक शब्द में उत्तर दीजिए –**

(क) मुक्ति शब्द संस्कृत की किस धातु से उत्पन्न शब्द है ?

(ख) महर्षि पतंजलि योग सूत्रों में कैवल्य प्राप्ति के उपायों में योग साधना को प्रमुख स्थान देते हैं। ?

(ग) महर्षि पतंजलि ने पंच क्लेशों को तनु बनाने के क्या उपाय बतलाए हैं ?

(घ) आचार्य शंकर मोक्ष प्राप्ति का सबसे बडा उपाय क्या मानते हैं ?

(ड) सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीता मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ट साधन किसे मानती है ?

4 –बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) साधक की स्वरुप शून्य होकर पूर्ण रुपेण अपने ध्येय में ही लीन होने की अवस्था कहलाती हैं –

(a) प्राणायाम (b) ध्यान

(c) समाधि (d) प्रत्याहार।

(ख) मनुस्मृति के अनुसार मोक्षोपाय हैं –

(a) अहिंसा (b) वेदपाठ

(c) गुरु की शुश्रुषा (d) सभी।

(ग) विधायाऽमृतमश्नुते।। का वर्णन किस उपनिषद् में किया गया है –

(a) योगशिखोपनिषद् (b) ईशोपनिषद्

(c) कठोपनिषद् (d) केनोपनिषद्।

(घ) श्री अरविन्द के आध्यात्म योग के कितने सोपान हैं

(a) तीन (b) पाँच

(c) आठ (d) सात।

(ङ) बंधन से मुक्त होने का एक मात्र उपाय कार्य–कारण शृंखला से बाहर हो जाना हैं– किसका कथन है–

(a) स्वामी दयानन्द (b) स्वामी विवेकानन्द

(c) योगीराज श्रीकृष्ण (d) श्री अरविन्द।

18.5 सारांश–

प्रिय पाठकों, इकाई का प्रारम्भ कैवल्य के अर्थ एवं स्वरुप को स्पष्ट करने से होता है। जीवात्मा का समस्त दुखों, क्लेशों, विषय वासनों तथा सांसारिक बन्धनों से छूटकर अपने शुद्ध स्वरुप में स्थित होने का अर्थ मुक्ति अर्थात कैवल्य के रुप में वर्णित किया गया है। कैवल्य के लिय यजुर्वेद में पके फल के समान पूर्णायु को प्राप्त होने के उपरान्त स्वतः ही संसार से पृथक होने की प्रार्थना परमात्मा से करने का उदाहरण दिया गया है। इसके साथ–साथ उपनिषद् साहित्य में वर्णित कैवल्य (मोक्ष) की अवधारणा एवं स्वरुप को समझाया गया है। तत्पश्चात योगदर्शन के अनुसार कैवल्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि भोग और अपवर्ग प्रयोजन से रहित चित्तादि कार्यरुप गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना, अथवा सब क्लेशों से सर्वथा छूटकर जीवात्मा का अपने तथा ईश्वर के स्वरुप को ठीक–ठीक जानकर अपने और ईश्वर के स्वरुप में अवस्थित हो जाना, "**कैवल्य अर्थात मोक्ष** " है।

इकाई में कैवल्य प्राप्ति के उपायों पर भी सविस्तार चर्चा की गयी है। योग दर्शन में कैवल्य प्राप्ति के उपायों में अष्टांग योग को प्रमुख स्थान दिया गया तो वही भिन्न–भिन्न उपनिषदों में विद्या अर्थात ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में मुक्ति के उपायों में योग साधना के साथ ही ईश्वर प्राणिधान अर्थात ईश्वर भक्ति को भी वर्णित किया गया है। इसी प्रकार गीता में भगवान श्रीकृष्ण ईश्वर प्रणिधान को अर्थात ईश्वर के प्रति पूर्ण सर्मपण के भाव या भक्तियोग को मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन बतलाते हैं। मनु महाराज मोक्षोपाय में वेदपाठ, जप, ज्ञान, इन्द्रिय निग्रह, अहिंसा, गुरु की महिमा को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती धर्माचरण एवं योगाभ्यास तथा स्वामी विवेकानन्द जी जीवन के प्रति आसक्ति का त्याग एवं कर्त्तापन से मुक्ति के भावों को कैवल्य प्राप्ति के उपाय मानते है जबकि श्री अरविन्द आध्यात्म योग को कैवल्य प्राप्ति का उपाय मानते हैं। इस प्रकार इस इकाई में कैवल्य की अवधारणा एवं कैवल्य प्राप्ति के उपायों पर भिन्न–भिन्न शास्त्रों, दार्शनिकों, चिन्तकों एवं विचारकों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

18.6 शब्दावली–

यर्थात	वास्तविक, सही
बिरले	विशिष्ट
अभिव्यक्त	प्रस्तुत, प्रकट
वैदिक वाङमय	वेदों पर आधारित ग्रन्थों की श्रृखंला

आकृष्ट	आकर्षित, प्रभावित
तुच्छ	मूल्यहीन, छोटा
परिष्कार	उन्नत बनाना

18.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	सत्य	क. कैवल्य	क. मुज
	क. c		
ख.	असत्य	ख. भक्तियोग	ख. योग साधना
	ख. d		
ग.	असत्य	ग. द्वारपाल	ग. तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान
	ग. b		
घ.	सत्य	घ. हान	घ. भक्ति
	घ. a		
ड.	असत्य	ड. कैवल्य	ड. ईश्वर प्राणिधान
	ड. b		

18.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. यजुर्वेद – स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय अजमेर।
2. संध्या–अग्निहोत्र – डॉ0 दिलीप वेदालंकार, आर्य समाज ग्रेटस ह्यूस्टन, यू0 एस0 ए0।
3. 108 उपनिषद् – आचार्य पं0 श्रीराम शर्मा, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा।
4. सत्यार्थ प्रकाश – स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर नगरे वैदिक यन्त्रालय मुद्रित।
5. इशादि नौ उपनिषद् – व्याख्याकार हरिकृष्णगोयन्दका, गीता प्रेस गोरखपुर।
6. योग दर्शनम् – व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिवाज्रक, आर्यवन रोजड, गुजरात।
7. श्रीमद्भगवद्गीता – गीता प्रेस गोरखपुर।

18.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1 पातंजल योग प्रदीप – स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. योग दर्शन – आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली।
3. भारतीय दर्शन की रुपरेखा – प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली।

18.10 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. कैवल्य की अवधारणा को सविस्तार समझाइये।

2. विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित कैवल्य प्राप्ति के उपायों का सविस्तार वर्णन किजिए।
3. कैवल्य पर सविस्तार निबन्ध लिखिए।